पद्मनंदी पंचविन्शतिका

अनुक्रमणिका

धर्मोपदेशामृत

01-001) मंगलाचरण
01-003) राग-द्वेष-मोह से रहित एवं आनन्द आदि गुणों के धाम अर्हन्त भगवान
01-004) भगवान के चरण-कमलों के आराधन से मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति
01-005) पाप-सन्ताप को दूर करने वाले श्री शान्तिनाथ भगवान के चरण कमल
01-006) मोक्षमार्ग में गमन कराने वाला उत्कृष्ट धर्म
01-007) धर्म के अनेक लक्षणों एवं भेदों का समन्वय
01-008) धर्मरूपी वृक्ष का मूल, सभी प्राणियों पर दया
01-009) सभी जीव परस्पर कुटुम्बी : कौन किसे मारे?
01-010) जीवनदान : सबसे बड़ा दान
01-011) अव्रती की दया भी स्वर्ग-मोक्ष को देने वाली तथा दया बिना तप भी व्यर्थ
01-012) मुनिधर्म के अवलम्बनस्वरूप गृहस्थधर्म किसे प्रिय नहीं?
01-013) सम्यग्दर्शन आदि गुणों से पूज्य गृहस्थाश्रम
01-014) श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम
01-015) व्रत-ग्रहण से पूर्व सप्त व्यसन का त्याग आवश्यक
01-016) सप्त व्यसनों के नाम एवं उनके त्याग की प्रेरणा
01-017) द्यूत (जुआ) नामक व्यसन का निषेध
01-018) सभी व्यसनों में जुआ खेलना ही मुख्य व्यसन
01-019) मांस व्यसन का निषेध
01-020) मांसभक्षण करनेवालों की निन्दा
01-021) मदिरापान का निषेध
01-022) मद्यपान समस्त खोटी चेष्टाओं का कारण
01-023) वेश्या-सेवन व्यसन का निषेध
01-024) वेश्या की अत्यन्त निन्दनीय दशा
01-025) शिकार व्यसन का निषेध
01-026) शिकार में आनन्द मानना अत्यन्त निन्दनीय
01-027) चोरी व्यसन का निषेध
01-028) दूसरे को ठगना भी उसकी हिंसा करने के समान
01-029) पर-स्त्री-सेवन व्यसन का निषेध
01-030) स्वप्न में भी परस्त्री-सेवन को धिक्कार!
01-031) जुआ आदि खेलने से नष्ट होने वालों के उदाहरण
01-032) सप्त व्यसनों के अलावा अन्य व्यसन
01-033) व्यसन ही प्राणियों के शत्रु
01-034) व्यसनी पुरुषों की संगति का निषेध
01-035) दुष्ट पुरुषों के मिष्ट वचनों से सावधान!
01-036) कलिकाल में प्राय: सज्जनों का अभाव
01-037) दुष्ट पुरुषों का सम्पर्क भी बुरा
01-038) मुनिधर्म में पंचाचार, दश धर्म, बारह तप, मूलगुण, उत्तरगुण आदि का पालन
01-039) मुनिव्रत-धारण करना, शरीरादि के त्याग में हेतुभूत क्रिया
01-040) प्रथम मूलगुणों का धारण, पश्चात् उत्तरगुणों का पालन
01-041) 'आचेलक्य' (नग्नता) मूलगुण का उद्देश्य
01-042) केशलोंच मूलगुण का उद्देश्य
01-043) स्थितिभोजन मूलगुण का उद्देश्य
01-044) मुनिराज द्वारा ममत्वरहित होने का उपदेश-चिन्तन
01-045) शान्तरस के लोलुपी निर्ग्रन्थ मुनियों के समताभाव का स्वरूप

01-046) मुनियों के एकान्तवास में आत्मानन्द का अनुभव लेने की भावना
01-047) सुख-दु:ख में हर्ष-विषाद नहीं करने की भावना
01-048) उक्त सम्यक् भावनाओं के द्वारा संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष की भावना
01-049) उद्यमी महात्मा महामुनियों के लिए संसाररूपी समुद्र कुछ भी नहीं
01-050) भो मुनिगण! शुद्धात्मा का अनुभव करो और मोह को कृश करो
01-051) कषायों को जीत कर पापों के नाश हेतु स्वस्थ होने का उपदेश
01-052) धन के आश्रय से सच्चे मार्ग का नाश
01-053) कलिकाल का ही माहात्म्य
01-054) क्रोधादि से कभी-कभी बन्ध, जबकि परिग्रह से निरन्तर बन्ध
01-055) मोक्षाभिलाषी मुनियों को मोक्ष की अभिलाषा भी उचित नहीं
01-056) परिग्रहधारियों को मुक्तिप्राप्ति अग्नि को शीतल करने के समान
01-057) कामदेवरूपी प्रबल योद्धा को जीतने पर कषायें स्वयमेव परास्त
01-058) कामदेव की स्त्री को विधवा करनेवाले शान्त मुद्रावन्त गुरु
01-059) स्व-परोपकारक श्री आचार्य परमेष्ठी की स्तुति
01-060) आचार्य परमेष्ठी द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने की भावना
01-061) उपाध्याय परमेष्ठी की स्तुति
01-062) गृहरूपी बन्धन एवं मोहजन्य विकल्पों से मुक्त, साधु परमेष्ठी की स्तुति
01-063) सम्यग्दर्शन के धारक परिषहजयी मुनियों की महिमा
01-064) ग्रीष्मऋृतु में पर्वत के शिखर पर स्थित मुनीश्वरों की साधना
01-065) वर्षाऋृतु में वृक्षों के नीचे स्थित मुनीश्वरों की साधना
01-066) शीतकाल में खुले मैदान में तप करने वाले मुनीश्वरों की साधना
01-067) मुनि-जीवन में आत्मज्ञान की विशेषता
01-068) मुनियों की पूजन के माध्यम से जिनवाणी एवं केवली भगवान की पूजन
01-069) आत्मध्यानी मुनियों के चरणों से स्पर्शित भूमि ही उत्तम तीर्थ
01-070) निन्दा करने वालों के प्रति भी मुनियों की समता
01-071) मुनियों की स्तुति करने वाले भी महापुरुष
01-072) व्यवहार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का स्वरूप
01-073) बाह्य तप आदि से अधिक रत्नत्रय की महिमा
01-074) रत्नत्रयरूपी वृक्ष से मोक्षफल की प्राप्ति
01-075) रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी
01-076) सम्यग्दर्शनादि वास्तविक रत्नों से ही आत्मा की शोभा
01-077) सम्यग्दर्शन से ही मनुष्य जन्म की शोभा
01-078) सम्यक् रत्नत्रय की महिमा
01-079) अभेद रत्नत्रय ही निश्चय रत्नत्रय
01-080) शुद्धनय का आश्रय करना ही श्रेयस्कर
01-081) निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप
01-082) उत्तम क्षमाधर्म, मुनियों की सर्वप्रथम सहायता करने वाला
01-083) यतिधर्म का तीव्र विघातक, क्रोध
01-084) राग-द्वेष रहित क्षमाधारी मुनियों के विचार
01-085) क्षमाधारक की समस्त जगत् को सुखी देखने की भावना
01-086) तीन लोक के द्वारा पूज्य वीतरागता का प्रभाव
01-087) अष्ट मदों के त्यागरूप उत्तम मार्दवधर्म
01-088) शरीर के सम्बन्ध में मुनियों के विचार
01-089) आर्जवधर्म और कुटिल मायाचाररूप अधर्म की तुलना
01-090) उत्तम आर्जवधर्म से विरुद्ध मायाचार का दुष्ट फल
01-091) मौन-साधना में उत्तम सत्यधर्म की उत्कृष्ट साधना
01-092) समस्त व्रत एवं सरस्वती सत्य बोलने वाले के आधीन
01-093) सत्यवादी, चक्रवर्ती इन्द्र एवं मोक्षरूपी फल पाने में भी समर्थ
01-094) उत्तम शौचधर्म का धारक परस्त्री और परधन से इच्छारहित
01-095) उत्तम शौचधर्म हेतु बाह्य की अपेक्षा अन्त:करण की शुद्धि अनिवार्य
01-096) उत्तम संयमधर्म : काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय-मन वश करो
01-097) उत्तम संयमधर्म की उत्तरोत्तर दुर्लभता
01-098) उत्तम तपधर्म : द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करें निज शक्ति-सम

01-099) उत्तम तपधर्म के द्वारा क्रोधादि कषायों पर विजय
01-100) उत्तम तपधर्म से भयभीत होना व्यर्थ
01-101) उत्तम त्यागधर्म में मुनियों को देने योग्य दान की मुख्यता
01-102) उत्तम त्यागधर्म के धारकों की महिमा
01-103) उत्तम त्यागधर्म एवं आकिञ्चन्यधर्म में ममत्व-त्याग का महत्त्व
01-104) उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म : स्त्री ही संसार-परिभ्रमण का कारण
01-105) स्त्रियों से प्रीति छोड़ने वाले ही महान
01-106) द्यानत धरम दश पैंड़ि चढ़ि कै, शिवमहल में पग धरा.....
01-107) अनन्त चतुष्टयस्वरूप स्वस्थता को नमस्कार
01-108) अनेक प्रकार के आनन्द को उत्पन्न करने वाले चैतन्य को मेरा नमस्कार!
01-109) अविनाशी सिद्ध भगवान को मेरा नमस्कार !
01-110) अमूर्तिक चैतन्यस्वरूपी आत्मा के बारे में कुछ कहने की प्रतिज्ञा
01-111) परमात्मतत्त्व का ज्ञान कराने वाले अत्यन्त दुर्लभ
01-112) वीतरागता-पोषक शास्त्राभ्यास की महिमा
01-113) रागवर्द्धक शृंगारपोषक शास्त्रों की निन्दा
01-114) स्त्री के घृणित शरीर को 'चन्द्रमुखी' की उपमा देना आश्चर्यकारक
01-115) स्त्री के मुख-केश-स्तन आदि घृणास्पद स्थान
01-116) स्त्री से राग छुड़ाने के लिए कामदेवरूपी धीवर का उदाहरण
01-117) स्त्री का रूप, अन्य समस्त दोषों से भयंकर
01-118) इन्द्रिय-विषयों के जाल में फँसने वाले जीवों की मूर्खता
01-119) मोहरूपी वैरी के दु:खद प्रयोग
01-120) मोह को जीतने के लिए ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की आराधना करने की प्रेरणा
01-121) मोह-चक्रवर्ती की बड़ी कठोर आज्ञा
01-122) मोह से मोह तोड़ने की प्रेरणा
01-123) जिनधर्म की शरण और निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश मिलना अत्यन्त दुर्लभ
01-124) वीतराग-सर्वज्ञ का वचन ही प्रमाणभूत
01-125) सर्वज्ञ के वचनों में सन्देह नहीं करने का उपदेश
01-126) दोनों प्रकार के श्रुत में कहा है - 'आत्मा ही ग्राह्य'
01-127) आत्महितकारी श्रुत का अभ्यास करने में प्रयत्न आवश्यक
01-128) जिनेन्द्र के वचनों में संशय करना व्यर्थ
01-129) ज्ञानस्वरूप आत्मा की आराधना का उपदेश
01-130) कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे...
01-131) कर्मरूपी समुद्र को पार करने के लिए ज्ञानरूपी जहाज ही समर्थ
01-132) जिनवाणीरूपी दीपक से ही इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार
01-133) आत्मा ही परम धर्म
01-134) आत्मा के वास्तविक स्वरूप का स्याद्वाद पद्धति से अनेकान्तात्मक वर्णन
01-135) आत्मा में ही उसके वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने की सामर्थ्य
01-136) 'मैं जानता हूँ', 'मैं करता हूँ'....इत्यादि प्रतीतियों से ज्ञात आत्मा
01-137) आत्मा को अनेकान्तस्वरूप नहीं मानने पर अनेक आपत्तियाँ
01-138) आत्मा ही शुभाशुभकर्मों का कर्ता एवं उनके फल का भोक्ता
01-139) नय-प्रमाण आदि के द्वारा आत्मा को भलिभाँति जानने की प्रेरणा
01-140) मोक्षसुख के अभिलाषी को राग-द्वेष का त्याग करना आवश्यक
01-141) अपने स्वरूप से दूर नहीं रहने का उपदेश
01-142) नरक-तिर्यञ्चादि गति के समान देवगति भी अधोगमन की कारण
01-143) अरे मन! स्त्री आदि का राग छोड़ कर, अपने अन्तरंग में प्रवेश कर!
01-144) आत्मा का दर्शन करने की पात्रता
01-145) जीव और मन का परस्पर आत्मकल्याणकारी संवाद
01-146) आत्मा के स्मरण मात्र से नाना प्रकार का आनन्द
01-147) बाह्य पदार्थों में बुद्धि दौड़ाने से ही दु:खों की परम्परा
01-148) संसार से निर्भय करनेवाला विचार
01-149) संसार में निर्बन्ध करने वाला विचार
01-150) केवल आत्मा से उत्पन्न हुआ सुख ही अपूर्व
01-151) खुजली के रोगी के समान दु:ख में सुख का भ्रम

01-152) अपने स्वरूप को देखना ही समस्त उपदेश का असली तात्पर्य
01-153) पूजने योग्य योगीश्वर कौन?
01-154) जब निज आतम अनुभव आवै, और कछु न सुहावै.....
01-155) निज आत्मा के अनुभव में लीन होना ही उत्कृष्ट आराधना
01-156) बाह्य तप की व्यर्थता में अनेक युक्तियाँ
01-157) शुद्धादेश, व्यवहारनय और अशुद्धनय की परस्पर सापेक्षता
01-158) शुद्धनय से ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप ही आत्मा
01-159) पर से भिन्न मेरी एक ज्ञान-दर्शनमयी मूर्ति
01-160) 'मैं' शब्द से अनुभवगोचर चैतन्यरूपी तेज स्वरूप आत्मा
01-161) साता-असाता से रहित मोक्षपद की कामना
01-162) गुरुओं के सन्तापनाशक वचन ही आश्रयणीय
01-163) शुद्धात्मा की परिणतिस्वरूप धर्म में मग्न हुए योगियों को नमस्कार
01-164) धर्म की महिमा बताने में केवली-श्रुतकेवली ही समर्थ
01-165) धर्मरूपी रसायन का सेवन करने के लिए मिथ्यात्वादि का निषेध आवश्यक
01-166) धर्म का उत्तरोत्तर दुर्लभपना
01-167) खोटे उपदेश के प्रभाव से अत्यन्त दुर्लभ धर्म भी व्यर्थ
01-168) तिर्यञ्च आदि गतियों से मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता
01-169) जिनधर्म को पाकर उसकी सेवा करने का उपदेश
01-170) युवावस्था में ही धर्म करने की प्रेरणा
01-171) सफेद केश : ज्ञानियों को वैराग्य और अज्ञानियों को तृष्णा का निमित्त
01-172) अज्ञानी पुरुष का तृष्णारूपी स्त्री के साथ अन्धा प्रेम
01-173) संसार की क्षणभंगुरता दिखा कर निर्मद होने का उपदेश
01-174) मोह के उदय की विचित्रता
01-175) काल-बली के सामने महासमर्थ राजा की सेना भी असहाय
01-176) यमराजरूपी मल्लाह
01-177) उत्तम धर्म से ही मृत्यु पर विजय
01-178) धर्म की उत्कृष्ट महिमा
01-179) धर्म के प्रभाव से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति
01-180) धर्म के प्रभाव से ही स्वर्ग, इन्द्रपना आदि पदों की प्राप्ति
01-181) धर्म के प्रभाव से ही चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति
01-182) धर्म ही समस्त प्राणियों का सहायक
01-183) धर्म ही संसाररूपी समुद्र को पार करने में समर्थ
01-184) धर्मात्मा ही लक्ष्मी का सर्वश्रेष्ठ आश्रय प्रदाता
01-185) धर्म से ही समस्त वस्तुओं की सहज प्राप्ति
01-186) धर्म ही मोक्षस्थान तक पहुँचाने में समर्थ
01-187) अरे भव्यों! धर्म से क्या-क्या प्राप्त नहीं किया जा सकता?
01-188) संसार में पुण्योदय का प्रभाव
01-189) पुण्योदय के प्रभाव से दुर्लभ वस्तुएँ भी सुलभ
01-190) पापोदय के दुष्ट प्रभाव
01-191) धर्म के प्रभाव से देवता भी धर्मात्मा पुरुषों के आधीन
01-192) धर्म के प्रभाव से ही शान्ति का अनुभव
01-193) धर्म के प्रभाव से समस्त विपत्तियाँ पल भर में दूर
01-194) धर्मात्मा पुरुषों की कीर्ति का समस्त दिशाओं में विस्तार
01-195) धर्म ही मन्त्र, कल्पवृक्ष और चिन्तामणी रत्न के समान फलदायी
01-196) धर्म को केवल सुन कर धारण करने वाले भी शान्ति के पात्र
01-197) निर्मल ज्ञान-प्रदाता गुरुवर श्री वीरनन्दि को प्रणाम
01-198) उपसंहार में धर्मोपदेशामृत पान करने की प्रेरणा

दानोपदेश

02-001) मङ्गलाचरण में व्रततीर्थ एवं दानतीर्थ प्रवर्तकों की महिमा
02-002) दानतीर्थ प्रवर्तक राजा श्रेयांस की महिमा
02-003) पृथ्वी के वसुमती नाम की सार्थकता
02-004) दानोपदेश में दयाभाव ही कारण

02-005) गृहस्थाश्रम से पार कराने वाला उत्कृष्ट दान ही जहाजस्वरूप
02-006) दान ही शुभगति प्रदायक
02-007) दान में ही धन की सफलता
02-008) पात्रदान ही वटवृक्ष के बीज समान
02-009) दानोपदेश में शिल्पी का उदाहरण
02-010) दानोपदेश में किसान का उदाहरण
02-011) पात्रदान करनेवाले मनुष्य की इन्द्र से भी अधिक महानता
02-012) गृहस्थ ही मानो मोक्षमार्ग का धारक
02-013) गृहस्थाश्रम में व्रत की अपेक्षा दान की महत्ता
02-014) दानोपदेश में नदी का उदाहरण
02-015) गृहस्थाश्रम में ज्ञान की अपेक्षा भी दान की अधिक महिमा
02-016) भोजन, औषधि आदि द्वारा मुनियों का उपकार करने की प्रेरणा
02-017) मुनियों के आगमन बिना गृहस्थों के घर व उनके मन की असारता
02-018) पात्रदान के बिना सम्पदा किस काम की?
02-019) दान-व्रतादि के द्वारा उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति
02-020) राज्यलक्ष्मी के भोग से दान देनेवाला श्रेष्ठ
02-021) धन की दान देने में ही सार्थकता
02-022) दान के बिना समस्त विभूति, कर्मबन्ध की कारण
02-023) दान के बिना विभूति, दुर्गति का कारण
02-024) दान के बिना गृहस्थाश्रम जलांजली देने योग्य
02-025) तप के अभाव में दान की सार्थकता
02-026) दानोपदेश में पथिक के पाथेय (नाश्ते) का उदाहरण
02-027) दान का संकल्प भी पुण्य का उत्पादक
02-028) नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान का कारण
02-029) दान के बिना समस्त विभूति कर्मबन्ध का कारण
02-030) पात्रदान के प्रभाव से ही धर्मकार्यों की सार्थकता
02-031) धन होते हुए भी दान देने में आलस्य करने वाला मायाचारी
02-032) अपने धन के अनुसार दान देने का उपदेश
02-033) उत्तम पात्रदान के प्रति मिथ्यादृष्टि पशुओं की प्रीति भी फलदायी
02-034) द्रव्यानुसार दान नहीं देने में मूर्ख पुरुष का उदाहरण
02-035) दानरहित मनुष्यत्व, टूटी-फूटी नाव के समान
02-036) धनी होकर भी दान नहीं देनेवाला दास है, मालिक नहीं
02-037) सत्कार्यों में लगाया धन ही अपना
02-038) संयमी पात्रों के दान से लक्ष्मी बढ़ती है, घटती नहीं
02-039) दान-पूजन आदि कार्यों में लोभ करना उचित नहीं
02-040) पात्रदान से उत्पन्न यश के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति
02-041) पात्रदान के द्वारा ही मनुष्य-तिर्यंच का भेद सम्भव
02-042) दान ही धन की सफलता की एकमात्र गति
02-043) धनोपार्जन की अपेक्षा पुण्योपार्जन की श्रेष्ठता
02-044) पात्रदान के प्रभाव से सर्व अनुकूलताओं की प्राप्ति
02-045) बाद में दान करूँगा - ऐसे विचार वालों की मूर्खता
02-046) दान रहित मनुष्य से श्रेष्ठ कौआ
02-047) उदार मनुष्य की निन्दा के बहाने प्रशंसा
02-048) उत्तम-मध्यम-जघन्य आदि पात्र-कुपात्र-अपात्र के भेद
02-049) सभी प्रकार के दान फलदायी, परन्तु पात्रदान ही सर्वश्रेष्ठ
02-050) चार प्रकार के दान की महिमा
02-051) जिन-मन्दिर अथवा जीर्णोद्धार हेतु दान का महत्त्व
02-052) मिथ्यात्व का फल कृपणता
02-053) भव्यों को ही दानोपदेश हर्ष का कारण
02-054) 'दानोपदेश' अधिकार का उपसंहार

अनित्य पंचाशत्

03-001) मङ्गलाचरण में जिनवाणी का गुणानुवाद

03-002) मनुष्य शरीर की अनित्यता
03-003) शरीररूपी झोपड़े की अपवित्रता एवं विनाशीकता
03-004) लक्ष्मी-स्त्री-पुत्रादि के उत्पत्ति-नाश में हर्ष-विषाद का निषेध
03-005) शरीर के सम्बन्ध से दु:ख एवं आत्मस्वरूप के चिन्तवन से सुख
03-006) स्त्री आदि के वियोग में शोक करना, मूढ़ता का लक्षण
03-007) मृत्यु होने पर भी आत्मा का नाश असम्भव
03-008) स्वकाल के अनुसार जीवन-मरण होने में वृक्ष का उदाहरण
03-009) 'मृत्यु के पश्चात् शोक' - अन्धकार में नृत्य करने के समान
03-010) 'मृत्यु के पश्चात् शोक' सर्प के चले जाने पर उसकी रेखा पीटने के समान
03-011) जगत् में मूर्ख कौन? और मूर्ख-शिरोमणि कौन?
03-012) जगत् की अनित्यता और उसकी नि:सारता में उदाहरण
03-013) जिसका जन्म, उसका मरण अवश्यम्भावी
03-014) इष्ट-वियोग एवं अनिष्ट-संयोग के नाश का उपदेश
03-015) हे जीव! शोकरूपी महाराक्षस के वश होना उचित नहीं
03-016) संसार की स्थिति पक्षियों के रैन-बसेरा के समान
03-017) गुरुओं के वचनरूपी दीपक से मोक्षपद की प्राप्ति
03-018) पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार मरण समय निश्चित
03-019) एक गति से दूसरी गति में जाने के उदाहरण
03-020) धर्म-प्राप्ति के अवसर मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ
03-021) मृत्यु होने पर नयों की अपेक्षा भी शोक करना व्यर्थ
03-022) मरण के समय को देव भी निमिषमात्र टाल नहीं सकते
03-023) इस जीव का बावलापन (पागलपन) क्या है?
03-024) संसार में आपत्ति के आने पर शोक करना व्यर्थ
03-025) संसार की स्थिति समझने में चन्द्रमा का उदाहरण
03-026) उत्पन्न होना और नष्ट होना, संसार का धर्म
03-027) शोक से उत्पन्न असाताकर्म वट-बीज के समान
03-028) आयु का नाश ही यमराज का मुख
03-029) मृत्यु होने पर किसका शोक करना उचित?
03-030) सूर्यदेवता भी विधि के विधान से अलग नहीं
03-031) काल की सर्वत्र गति
03-032) शुभ-अशुभ कर्मोदय को रोकने में कोई समर्थ नहीं
03-033) कौन, किससे अधिक बलवान?
03-034) संसाररूपी वन में शोकरूपी दावानल
03-035) संसाररूपी वन में मनुष्यरूपी वृक्ष
03-036) दु:खरूपी तरंगों से व्याप्त संसाररूपी समुद्र
03-037) कालरूपी मल्लाह के हाथ से फैलाया हुआ जाल
03-038) सभी को मरते हुए देख कर भी अपने को अमर मानना मोह की निशानी
03-039) विद्वानों की भी देह के प्रति आसक्ति आश्चर्यजनक
03-040) जहाँ किसी प्रकार का दु:ख नहीं - ऐसी मुक्ति ही श्रेयस्कर
03-041) काल (मृत्यु) से अपनी रक्षा के लिए प्रयत्न अनिवार्य
03-042) जीवन और धन की क्षणभंगुरता
03-043) सम्पदा-स्त्री-पुत्र आदि की तीव्र चंचलता
03-044) चञ्चला लक्ष्मी के चक्कर में नहीं फँसने का उपदेश
03-045) प्रिय का वियोग होने पर भी शोक करने से संसार-भ्रमण
03-046) जिसे दु:ख न भोगना हो, वह संसार में न रहे
03-047) मनुष्य का पागलपन
03-048) मृत्यु समीप आने पर किये हुए प्रयत्न भी मिथ्या
03-049) मैं-मैं करने वालों के जीवन की व्यर्थता
03-050) आयु की दिन-प्रतिदिन क्षीणता
03-051) अमरता का सन्देश
03-052) नाना गतियों में जीव के वेश नट के समान
03-053) भवितव्यता : जो होना होता है, वैसा ही होता है
03-054) हे भव्य जीवों! धर्म में ही अपनी बुद्धि को लगाओ!

03-055) तृतीय अधिकार 'अनित्य पञ्चाशत्' का उपसंहार

एकत्व सप्तति

04-001) 'एकत्व सप्तति' अधिकार का मङ्गलाचरण
04-002) चैतन्यस्वरूप तेज मेरी रक्षा करे!
04-003) ज्ञानियों के द्वारा अनुभवगम्य चैतन्यस्वरूप आत्मा को नमस्कार!
04-004) निर्मल चैतन्यरूपी तेज प्रत्येक प्राणी के अन्दर विराजमान
04-005) तीव्र मोहोदय का प्रभाव
04-006) अज्ञानियों की प्रवृत्ति
04-007) वस्तु का अनेकान्त (अनेक धर्मात्मक) स्वरूप
04-008) थोड़ा-सा ज्ञान, अहंकार का कारण
04-009) धर्म के क्षेत्र में परीक्षाप्रधानी होना ही श्रेयस्कर
04-010) वक्ता की प्रामाणिकता से ही उसके वचनों में प्रामाणिकता
04-011) पर से जुदा चैतन्य का ज्ञान और अनुभव करने की प्रेरणा
04-012) पाँच लब्धियों की विशेषता ही निकट भव्य की पहचान
04-013) रत्नत्रय प्रयत्न ही कर्तव्य
04-014) सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप
04-015) आत्मा की अखण्डता
04-016) प्रमाण-नय-निक्षेप से पार शुद्धात्मा
04-017) व्यवहारनय से प्रमाण-नय-निक्षेप के भेद
04-018-019) अर्हन्त, जगन्नाथ, प्रभु तथा ईश्वर कहलाने का अधिकारी कौन?
04-020) उत्कृष्ट आत्मस्वरूप तेज को जानने वाला ही कृतकृत्य
04-021) वास्तव में एक चैतन्यस्वरूप ही जानने योग्य
04-022) योगीश्वरों को कृतकृत्य होने में कारण
04-023) जिसने प्रसन्न-चित्त से चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी....
04-024) इसलिए मोक्षाभिलाषियों को अवश्य चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए ।
04-025) इसलिए भव्य जीवों को परमात्मा का अवश्य ध्यान करना चाहिए ।
04-026) कर्मों का सम्बन्ध छूटने पर आत्मा का शान्तस्वरूप प्रगट
04-027) 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ' - ऐसी मेरी निश्चित मति
04-028) राग-द्वेष का त्याग ही महामन्त्र
04-029) राग-द्वेष के प्रसंग में भी राग-द्वेष का त्याग आवश्यक
04-030) मुमुक्षुओं को मन-वचन-काय से भिन्न आत्मा ही उपासनीय
04-031) द्वैत से द्वैत और अद्वैत से अद्वैत की उत्पत्ति
04-032) द्वैत ही संसार और अद्वैत ही मोक्ष
04-033) द्वैत के आश्रित बुद्धि ही असिद्धि का कारण
04-034) आत्मा से भिन्न उदय, उदीरणा, सत्ता आदि कर्मों की रचना
04-035) मेघों के आकारों से अविकृत आकाश के समान कर्मों से अविकृत आत्मा
04-036) जन्म-मरण आदि शरीर के धर्म, आत्मा के नहीं
04-037) आत्मा, ज्ञान से सहित नहीं, बल्कि आत्मा और ज्ञान, एक ही पदार्थ
04-038) भव्य जीवों को परम शरण कौन?
04-039) शुद्धात्मा से भिन्न कोई दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप नहीं
04-040) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही नमस्कार करने योग्य
04-041) अप्रमत्त योगियों को चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही सर्वस्व
04-042) चौरासी लाख उत्तरगुणों का धारी कौन?
04-043) संसार का सबसे मनोहर और उत्कृष्ट पदार्थ है चैतन्यस्वरूप आत्मा
04-044) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक उत्तम तत्त्व
04-045) ध्यानयुक्त योगियों का प्रयोजन
04-046) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग
04-047) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही शीतल गृह
04-048) चैतन्यस्वरूप आत्मा का उत्कृष्ट बल
04-049) जन्म-जरा आदि नाश करने वाली परम औषधि
04-050) शुद्धात्मा के चिन्तवन का फल
04-051) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही तीन लोक का राजा

04-052) शुद्ध चिद्रूप की कल्पनाओं से भी रहित शुद्धात्मा
04-053) मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष-प्राप्ति में बाधक
04-054) मेरा प्रबल मन्तव्य - मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूँ!
04-055) ज्ञानीजनों की परिणति
04-056) ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को सम्बोधन
04-057) अनन्त संसार-परिभ्रमण को शान्त करने की विधि
04-058) चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनेकान्त-वैभव
04-062) संसार में अत्यन्त प्रशंसनीय कौन?
04-063) सर्व पदार्थों के प्रति समताभाव
04-064) शुद्धोपयोग के पर्यायवाची नाम
04-065) साम्य का स्वरूप
04-066) साम्य की महिमा
04-067) साम्य के फल
04-068) समस्त शास्त्रों का सार : साम्य
04-069) साम्य की सामर्थ्य
04-070) परम हंस शुद्धात्मा को नमस्कार!
04-071) ज्ञानियों की दृष्टि में मृत्यु है 'अमृतदायिनी'
04-072) विवेक की महिमा
04-073) विवेक का स्वरूप
04-074) मूर्ख पुरुषों और विवेकी पुरुषों में अन्तर
04-075) विवेकी पुरुष का कर्तव्य
04-076) मैं और चैतन्य में अभिन्नता
04-077) 'एकत्व-सप्तति अधिकार' का चिन्तन-मनन करने की प्रेरणा
04-078) 'एकत्व सप्तति' का अध्ययन करने से मन की निर्मलता प्राप्त होने का आश्वासन
04-079) ज्ञानियों के भेदविज्ञानपरक विचार
04-080) आत्मतत्त्व का बारम्बार अभ्यास करने की प्रेरणा

यति-भावनाष्टक

05-001) 'यति-भावनाष्टक अधिकार' का मङ्गलाचरण
05-002) निर्जन गुफा में आत्मध्यान करने की भावना
05-003) काष्ठ या पाषाण की मूर्ति के समान ध्यान करने की भावना
05-004) निर्ग्रन्थ मुनिराज के पास घर, वस्त्र, धन, स्त्री, भोजन, मित्र, सुख आदि भी?
05-005) सुवर्णमयी घर के ऊपर मणिमयी कलश की स्थापना करने वाला कौन?
05-006) योगीश्वरों के मार्ग में गमन करने की भावना
05-007) अत्यन्त दुष्कर समाधि में लीन होने की भावना
05-008) उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप निजतत्त्व में ही रहने की भावना
05-009) 'यति-भावनाष्टक' का निरन्तर तीनों काल पाठ करने की प्रेरणा

उपासक संस्कार

06-001) 'उपासक संस्कार' अधिकार का मङ्गलाचरण
06-002) धर्म का स्वरूप
06-003) सम्यग्दर्शन बिना मोक्ष-प्राप्ति दुर्लभ
06-004) रत्नत्रयधर्म के प्रकार
06-005) रत्नत्रयधर्म, गृहस्थों के भी करने योग्य
06-006) श्रावकधर्म की उत्कृष्टता
06-007) श्रावक के षट् आवश्यक कर्तव्य
06-008) सामायिक व्रत का स्वरूप
06-009) सच्ची सामायिक के लिए सप्त व्यसनों के त्याग की प्रेरणा
06-010) सप्त व्यसन के नाम
06-011) धर्मार्थी पुरुष को व्यसनों का त्याग अत्यन्त आवश्यक
06-012) एक-एक व्यसन, एक-एक नरक का द्वार
06-013) पाप-राजा का सप्त व्यसन-साम्राज्य
06-014) देव-पूजन-स्तवन की महिमा
06-015) जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से रहित गृहस्थाश्रम को धिक्कार

06-016-017) सभी पुरुषार्थों में धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ
06-018) ज्ञान-प्राप्ति हेतु निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा आवश्यक
06-019) अज्ञान का नाश करने हेतु गुरु-सेवा आवश्यक
06-020) शास्त्राभ्यास के बिना नेत्रधारी भी अन्धे के समान
06-021) शास्त्राभ्यास के बिना कान और मन भी नहीं
06-022) संयमपूर्वक ही व्रत की सार्थकता
06-023) गृहस्थों के अष्ट मूलगुण का स्वरूप
06-024) गृहस्थों के बारह व्रतों का स्वरूप
06-025) गृहस्थों के करने योग्य अन्य आवश्यक कर्तव्य
06-026) सम्यग्दृष्टि पुरुष का आश्रय-स्थान
06-027) विद्वान लोग, व्रतों के बिना एक क्षण भी नहीं
06-028) रत्नत्रय का आश्रय ही श्रेयस्कर
06-029) रत्नत्रय एवं रत्नत्रयधारियों की विनय
06-030) विनय की महिमा
06-031) दान के बिना गृहस्थपना निष्फल
06-032) दान बिना घर, केवल बाँधने के लिए जाल के समान
06-033) उत्तम दान की महिमा
06-034) दान से ही स्वर्ग-सुख की प्राप्ति
06-035) दान से रहित गृहस्थाश्रम, पत्थर की नौका के समान
06-036) साधर्मी के साथ प्रीतिभाव
06-037) करुणा के बिना धर्म असम्भव
06-038) दया : धर्मरूपी वृक्ष की जड़
06-039) दया ही समस्त गुणों का आधार
06-040) सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सभी व्रत, अहिंसा के साधन
06-041) जीव-हिंसा का संकल्प भी त्यागने योग्य
06-042) बारह भावनाओं के चिन्तवन से ही कर्मों का नाश
06-043-044) बारह भावनाओं के नाम
06-045) अनित्य भावना
06-046) अशरण भावना
06-047) संसार भावना
06-048) एकत्व भावना
06-049) अन्यत्व भावना
06-050) अशुचित्व भावना
06-051) आस्रव भावना
06-052) संवर भावना
06-053) निर्जरा भावना
06-054) लोक भावना
06-055) बोधिदुर्लभ भावना
06-056) धर्म भावना
06-057) संसार से तिरने हेतु धर्मरूपी जहाज का आश्रय आवश्यक
06-058) स्वर्ग-मोक्ष के कारणरूप बारह भावनाएँ
06-059) गृहस्थ श्रावक के द्वारा दश धर्मों का यथाशक्ति पालन
06-060) अन्तस्तत्त्व एवं बहिस्तत्त्व, दोनों के मिलने से ही मोक्ष-प्राप्ति
06-061) ज्ञानी को आत्मा ही चिन्तवन करने योग्य
06-062) 'उपासक संस्कार' (श्रावकाचार) अधिकार का उपसंहार

देशव्रतोद्योतन

07-001) 'देशव्रतोद्योतन अधिकार' का मङ्गलाचरण
07-002) अनेक पुण्यात्मा मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा एक अकेला सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ
07-003) मोक्ष का बीज, सम्यग्दर्शन और संसार का बीज, मिथ्यादर्शन
07-004) सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर तप या षट्कर्म करना आवश्यक
07-005) सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुण, बारह व्रत तथा अन्य नियमों का विधान
07-006) व्रती श्रावक के बारह व्रतों का विधान

07-007) श्रावक का प्रमुख कर्तव्य - मुनि आदि पात्रों को दान
07-008) आहारदान की परम्परा से ही रत्नत्रय एवं मोक्ष की प्राप्ति
07-009) उत्तम औषधिदान से मुनियों के अशक्त शरीर का संरक्षण
07-010) ज्ञानदान के द्वारा थोड़े ही भवों में केवलज्ञान की प्राप्ति
07-011) अभयदान के बिना शेष तीन दान सर्वथा निष्फल
07-012) चार प्रकार के दान से प्राप्त होने वाले फल
07-013) धन को खर्च करने का मार्ग, दान से उत्कृष्ट और कोई नहीं
07-014) दानरहित गृहस्थपना दोनों लोक का नाशक
07-015) भोग-विलास में खर्च होने वाले धन की निकृष्टता
07-016) भूतकाल के महापुरुषों में भी दान की विशेषता
07-017) दान रहित घर, अत्यन्त कठिन मोह का जाल
07-018) दान रहित गृहस्थाश्रम, पत्थर की नाव
07-019) दान देने वाला दाता ही चिन्तामणि और कल्पवृक्ष
07-020) धर्मात्मा श्रावक भी आदर करने योग्य
07-021) दु:खद पंचम काल में योग्य दाता ही सज्जनों द्वारा वन्द्य
07-022) छोटा-सा मन्दिर बनाने में भी महान् पुण्य का उपार्जन
07-023) चैत्यालय का निर्माण करने के विशेष लाभ
07-024) षट् आवश्यकपूर्वक अणुव्रत धारण करने का उपदेश
07-025) चार पुरुषार्थों में धर्म और मोक्ष - ये दो पुरुषार्थ ही उपादेय
07-026) अणुव्रत-महाव्रत धारण करने का फल मोक्ष या भोग-विलास?
07-027) उपसंहार में देशव्रतोद्योतन का फल

सिद्ध-स्तुति

08-001) 'सिद्ध-स्तुति' अधिकार का मङ्गलाचरण करते हुए सिद्धों की महिमा
08-002) तीर्थंकर भी जिस पद के अभिलाषी - ऐसे सिद्धों को नमस्कार
08-003) सिद्धों का स्वरूप
08-004) सिद्ध भगवान, तीन जगत के शिखामणि
08-005) 'आदा णाण पमाणो' आत्मा ज्ञानप्रमाण है
08-006) अष्ट कर्म से रहित तथा अष्ट गुण से अलंकृत सिद्ध भगवान
08-007) अनन्तज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के धारक सिद्ध भगवान
08-008) सभी जीवों में सिद्ध जीव, सबसे अधिक ज्ञानी और सुखी
08-009) सिद्धों के अनन्तसुखी होने में संसारी जीवों का उदाहरण
08-010) संसारी जीव - अनन्तदु:खी और सिद्ध जीव - अनन्तसुखी
08-011) सिद्धों के अनन्त तृप्त होने का कारण
08-012) योगीश्वर भी सिद्धों के समान
08-013) सिद्ध-ज्योति का अनेकान्तात्मक स्वरूप
08-014) स्याद्वाद का ज्ञाता ही सिद्धों को जानने में समर्थ
08-015) मुमुक्षु जीव पर तत्त्वदृष्टि का प्रभाव
08-016) अशुद्ध आत्मा को भी शुद्ध कैसे देखें? - इसका उदाहरण
08-017) हेय-उपादेय का ज्ञान ही सिद्धदशा की प्राप्ति का बीज
08-018) सिद्धत्व के अलावा अन्य प्रयोजन मिथ्या
08-019) सिद्ध-स्तुति, मोक्षरूपी महल के लिए सीढ़ी के समान
08-020) मोक्षाभिलाषियों के मन में सिद्धस्वरूप तेज से तन्मयता
08-021) प्रमाण-नय-निक्षेप आदि से रहित सिद्ध भगवान का स्वरूप
08-022) अलौकिक सिद्धस्वरूप तेज को नहीं देखने वाले मनुष्य मन्दबुद्धि
08-023) यदि सिद्धों का ध्यान न हो सके तो उनका नामस्मरण करना भी श्रेयस्कर
08-024) समस्त विद्वानों में अग्रणी विद्वान कौन?
08-025) सिद्धस्वरूप के जानने वाले को बाह्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन?
08-026) सिद्धों के समस्त आत्मप्रदेशों से कर्मबन्ध का नाश
08-027) सिद्धों के मकान, सीढ़ी, मित्र, स्त्री आदि क्या है? -
08-028) सिद्धों का स्वरूप ही मुझे अत्यन्त प्रिय
08-029) उपसंहार में 'सिद्ध-स्तुति' की वचनातीतता का निरूपण

आलोचना

09-001) मङ्गलाचरण में प्रभु के नाम-स्मरण एवं ध्यान की प्रेरणा
09-002) जिनेन्द्रदेव के द्वारा सेवित मार्ग का क्रम ही सर्वोत्कृष्ट
09-003) जिनेन्द्रदेव की सेवा करके संसाररूपी वैरी को जीतना आसान
09-004) जगत् में सारभूत और असारभूत का विचार करना श्रेयस्कर
09-005) सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञ परमात्मा का अन्तर्बाह्य से उत्कृष्टपना
09-006) जिनेन्द्र भगवान को मानने से ही सर्व प्रयोजन-सिद्धि
09-007) त्रिकालवर्ती पापों की कृत-कारित-अनुमोदना एवं तीनों योगों से निन्दा
09-008) प्रभु के द्वारा ज्ञात होने पर भी अपनी शुद्धि के लिए पापों की आलोचना
09-009) माया-मिथ्या-निदान - इन तीन शल्यों के त्याग की प्रेरणा
09-010) जितने दोष, उतने प्रायश्चित्त के अभाव में प्रभु-समीप रहने मात्र से शुद्धि
09-011) प्रभु की समीपता हेतु इन्द्रिय और मन का निग्रह आवश्यक
09-012) चित्त का बाह्य विषयों में दौड़-दौड़ कर जाना - खेद का विषय
09-013) कठोर व्रतों का पालन करने के बाद भी सिद्धि नहीं होने का कारण
09-014) मन के जीवित रहने पर मुनियों का भी कल्याण असम्भव
09-015) मोह के नष्ट होने पर ही शान्ति की प्राप्ति सम्भव
09-016) मोह के प्रभाव से ही मन की चञ्चलता
09-017) जगत् विनाशीक, अत: निर्विकार परमानन्द में ठहरने की प्रेरणा
09-018) परणति सब जीवनि की तीन भाँति वरणी.....
09-019) आत्मस्वरूप उत्कृष्ट तेज का अस्ति-नास्ति से स्वरूप
09-020) कर्मशून्य अवस्था की अपेक्षा आपकी और मेरी आत्मा में समानता
09-021) वह सज्जनों की रक्षा करे तथा दुष्टों का नाश करे ।
09-022) प्रभु के चरण-कमल में अपने मन को लगाने से सुख की प्राप्ति
09-023) मन का बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध कर्म-बन्ध का कारण
09-024) लोक, बाह्य द्रव्य, शरीर-इन्द्रिय-वचन आदि सभी पुद्गल की पर्यायें
09-025) धर्म-अधर्म-आकाश-काल आदि सहकारी, परन्तु पुद्गल ही मेरा वैरी
09-026) राग-द्वेषरूप पुद्गल-परिणामों से ही पौद्गलिक कर्म की उत्पत्ति
09-027) स्त्री-पुत्रादि से राग-द्वेष छोड़ कर, शुद्धात्मा में निवास करने की प्रेरणा
09-028) अध्यात्मरूपी तुला पर एक तरफ यह प्राणी, दूसरी तरफ कर्मरूपी वैरी
09-029) सविकल्प ध्यान, संसार-स्वरूप और निर्विकल्प ध्यान, मोक्ष-स्वरूप
09-030) आदि नाम से पुकारते हैं ।
09-031) संसार में सभी पदवियाँ सुलभ, परन्तु रत्नत्रय-पदवी दुर्लभ
09-032) सिद्धपद के उपदेश के सामने तीन लोक का साम्राज्य भी अप्रिय
09-033) उपसंहार में इस आलोचना अधिकार के त्रिकाल पाठ का उपदेश

सद्बोध-चन्द्रोदय

10-001) मङ्गलाचरण में आत्मतत्त्व का वचनातीतपना एवं जयवन्तपना
10-002) आत्मतत्त्व का अनेकान्तस्वरूप एवं उसकी गहनता
10-003) आत्मारूपी हंस और मोक्षरूपी हंसिनी
10-004) चैतन्यरूपी तेज की प्रगटता एवं कल्याणमयता
10-005) चैतन्यरूपी तेज, स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं प्रकाश का कारण
10-006) चैतन्यरूपी तेज, मन से अगोचर तथा वचनातीत
10-007) चैतन्यरूपी तेज स्वानुभव से गोचर
10-008) मन का डर - परमात्मा में स्थित होने पर उसका मरण
10-009) चैतन्यस्वरूप वस्तु को अन्यत्र खोजना व्यर्थ
10-010) आत्मा में आसक्त मनुष्य ही उत्कृष्ट ध्यान का पात्र
10-011) चैतन्यतत्त्व में लक्ष्य नहीं देने वाले तपस्वी, जड़-अज्ञानी-नट के समान
10-012) अन्धे व्यक्ति द्वारा हाथी को स्पर्श करके जानना व्यर्थ
10-013) अहो आश्चर्य! आत्मा कर्मबन्धन से सहित होने पर भी उससे रहित
10-014) अनेकान्त - सर्व विरोध का नाशक
10-015) आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय
10-016) समस्त उपाधि का नाश होने पर आत्मस्वरूप की प्राप्ति
10-017) आत्मा का उत्कृष्ट तेज, संसाररूपी वन के लिए भयंकर अग्नि के समान
10-018) निर्विकल्प पदवी का आश्रय करने वाला संयमी ही मोक्ष पद के योग्य

10-019) द्वैत और अद्वैत - दोनों प्रकार की बुद्धियाँ उपाधिजन्य
10-020) शुद्ध भावना से शुद्धता और अशुद्ध भावना से अशुद्धता की प्राप्ति
10-021) योगी, सुख-दु:ख होने पर भी सुखी-दु:खी नहीं
10-022) योगियों को सूर्य के समान निरालम्ब मार्ग अपनाने का उपदेश
10-023) रोग, वृद्धावस्था आदि शरीर के विकार, आत्मा के नहीं
10-024) व्याधियों से शरीर की हानि, आत्मा की नहीं
10-025) सम्यग्ज्ञानस्वरूप वस्तु में अपनापन, मोक्ष का कारण
10-026) ध्यान का मार्ग अत्यन्त कठिन, गुरु-उपदेश से ही गम्य
10-027) निर्मल सम्यग्ज्ञानस्वरूप वस्तु ही वास्तविक रमणीय स्थान
10-028) आत्मज्ञानस्वरूप तीर्थ में स्नान करने का महत्त्व
10-029) चैतन्यरूपी समुद्र के किनारे सम्यग्दर्शनादि रत्नों की प्राप्ति
10-030) निश्चयनय से सम्यग्दर्शन आदि तीनों की आत्मा से अभिन्नता
10-031) सम्यग्दर्शनादि बाणों से कर्मरूपी वैरियों का नाश
10-032) मुनियों को भी प्रमाद के कारण प्रवृत्ति में चंचलता
10-033) योगियों का ज्ञानसमुद्र, समाधिरूपी चन्द्रमा से वृद्धि को प्राप्त
10-034) भेदज्ञानरूपी अग्नि से कर्म भी सूखे तृणों के समान भस्मीभूत
10-035) मुनियों को वांछित फलदायक समाधिरूपी कल्पवृक्ष,
10-036) परमात्मा का ज्ञान होने तक ही शास्त्रज्ञान उपयोगी
10-037) चैतन्यरूपी दीपक मोहरूपी अन्धकार का नाशक
10-038) अपने घर से बाहर विचरण करने वाली स्त्री का दृष्टान्त
10-039) हेय को छोड़ कर, उपादेय को ग्रहण करके ही मोक्ष की प्राप्ति
10-040) मोह-निद्रा में मग्न को सम्पूर्ण जगत् अपना
10-041) समाधि की सिद्धि के लिए बाह्य पदार्थों में समता आवश्यक
10-042) आत्मा का सिद्धि के लिए किया गया प्रयत्न ही सफल
10-043) चैतन्यस्वरूप उत्तम पद में लगा हुआ योगी ही योगीश्वर
10-044) समस्त जीव-जगत् को अपने समान देखने वाला मनुष्य ही श्रेष्ठ
10-045) जड़स्वरूप संसार को देख कर भी योगी का मन परमशान्त
10-046) गाढ़ निद्रा में सुप्त लोक को जाग्रत करने का प्रयत्न
10-047) पद्मनन्दि मुनि के वचनों से उत्पन्न स्वसंवेदनगम्य रम्यता की प्रशंसा
10-048) मोक्ष को उत्पन्न करने वाली समस्त सामग्री होने पर भी मोह की कुटिलता
10-049) चैतन्यतत्त्व ही समस्त अभिलाषा-भय-भ्रम-दु:ख आदि का नाशक
10-050) उपसंहार में 'सद्बोधचन्द्रोदय' नाम की सार्थकता

निश्चय पञ्चाशत्

11-001) 'निश्चय पञ्चाशत्' अधिकार का मङ्गलाचरण
11-002) चैतन्यरूपी तेज हमारी रक्षा करे
11-003) चैतन्यस्वरूपी ज्योति लोक में जयवन्त वर्तो
11-004) मोहान्धकार को दूर करनेवाले सच्चे गुरुओं को नमस्कार
11-005) मोक्ष की दु:साध्यता
11-006) विषयादिक सुख की सुलभता और मोक्ष की दुर्लभता
11-007) आत्मा का अनुभव करना अत्यन्त दु:साध्य
11-008) कर्मों का नाश करने वाले शुद्धनय का वर्णन
11-009) निश्चयनय के अनुगामी पुरुष को ही मोक्ष-प्राप्ति
11-010) व्यवहारनय से तत्त्व वाच्य और निश्चयनय से अवाच्य
11-011) व्यवहारनय भी उपादेय
11-012) निश्चय रत्नत्रय ही संसार का नाशक
11-013) रत्नत्रय ही आत्मा का अखण्डरूप
11-014) रत्नत्रय का स्वरूप
11-015) सम्यग्दर्शन से ही कर्मरूपी वैरियों का नाश
11-016) सम्यग्ज्ञान से ही सिद्धत्व की प्राप्ति
11-017) शुद्धनय में स्थित पुरुष का वर्णन
11-018) शुद्ध-अशुद्ध आत्मा के ध्यान से क्रमश: शुद्धता एवं अशुद्धता की प्राप्ति
11-019) चारित्रपूर्वक ही दर्शन-ज्ञान की शुद्धता

11-020) मन के नाश का उपाय
11-021) स्व-पर ज्ञानरूपी कतकफल से आत्मतत्त्व की प्राप्ति
11-022) संसार में मेरा कुछ भी नहीं
11-023) शरीर में उत्पन्न रोगों से आत्मा को नुकसान नहीं
11-024) क्षुधादि समस्त दु:ख, शरीराश्रित
11-025) क्रोधादि कषाएँ, आत्मा के धर्म नहीं
11-026) कर्म से उत्पन्न विकल्प भी शुद्ध आत्मा के नहीं
11-027) शरीरादि भी कर्म से ही उत्पन्न
11-028) कर्म एवं कर्मफल भी मुझसे भिन्न
11-029) लोक में मोक्षाभिलाषी पुरुष ही सुखी
11-030) कर्म की भिन्नता का वर्णन
11-031) मोही जीव, बाह्य विकारों में भी अपनापन मानने वाला
11-032) मोक्षार्थी का विचार
11-033) मोक्षाभिलाषी को अन्य पदार्थों सम्बन्धी चिन्ता का अभाव
11-034) ज्ञानी को निर्मल आत्मस्वरूप का विचार
11-035) मोक्षाभिलाषियों को समस्त चिन्ताओं का त्याग करना आवश्यक
11-036) चैतन्यस्वरूप का वर्णन
11-037) मन को वश में रखने का उपदेश
11-038) तुझे मन को अवश्य ही बाँधना चाहिए ।
11-039) मुनिराजों के चित्त में निरालम्ब मार्ग का ही अवलम्बन
11-040) चैतन्यस्वरूप को देखने वाला योगी ही सिद्ध होने योग्य
11-041) जीव स्वयं ही चैतन्यस्वरूप
11-042) स्व-पर विवेक से ही सिद्धत्व की प्राप्ति
11-043) निश्चय से आत्मा हेयोपादेय के विभाग से रहित
11-044) शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति मन से अगोचर
11-045) अद्वैत भावना से ही मोक्ष की प्राप्ति
11-046) द्वैत-भावना से रहित होने पर मोक्ष की प्राप्ति
11-047) निर्विकल्प चित्त से परमानन्द की प्राप्ति
11-048) जो जैसा देखे, उसे वैसे ही आत्मतत्त्व की प्राप्ति
11-049) मन को शिक्षा
11-050) चैतन्यरूपी तत्त्व, इस लोक में जयवन्त
11-051) चैतन्यरूपी तेज को नमस्कार
11-052) समस्त विकल्पजालरूपी वृक्ष को नष्ट करने वाले चैतन्यतत्त्व को नमस्कार
11-053) समस्त नयों के पक्षपातरहित होने पर समयसारस्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति
11-054) आत्मा, नय-प्रमाण आदि विकल्पों से भी रहित
11-055) दर्शन और ज्ञान, आत्मा से भिन्न नहीं
11-056) आत्मतत्त्व का दर्शन होने पर बाह्य पदार्थों में प्रीति नहीं
11-057) बुद्धिमान् पुरुषों से सम्बद्ध विद्यमान कर्म भी अविद्यमान के समान
11-058) तत्त्वज्ञानियों को ही हेयोपादेय का ज्ञान आवश्यक
11-059) तत्त्वज्ञानी का विचार
11-060) दृष्टिगोचर कार्यों में कर्म ही कारण
11-061) आचार्यदेव द्वारा स्वयं की लघुता का प्रदर्शन
11-062) 'निश्चय पञ्चाशत्' अधिकार का उपसंहार

ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति

12-001) 'ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति' अधिकार का मङ्गलाचरण
12-002) ब्रह्मचर्य का धारी कौन?
12-003) मुनिराज को अतिचार लगने पर प्रायश्चित्त का विधान
12-004) दृढ़ मन के संयम से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा
12-005) संयम के दो प्रकार
12-006) स्त्री-संगति के त्याग हेतु व्रती को प्रयत्न करना आवश्यक
12-007) दृढ़तापूर्वक स्त्री-त्याग का आदेश
12-008) प्रीतिपूर्वक स्त्री का मुख देखते ही समस्त व्रत-तप की समाप्ति

12-009) यतीश्वरों को सर्वथा स्त्री-त्याग आवश्यक
12-010) यतियों को समस्त स्त्रियों के साथ प्रीति कष्टकारक
12-011) ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन
12-012) स्त्री के लावण्य की विनाशीकता
12-013) स्त्री के मृत शरीर की भयावहता
12-014) स्त्री का शरीर, मूढ़बुद्धि पुरुषों को ही आनन्द देने वाला
12-015) स्त्री के शरीर में विद्वानों की अप्रीति का कारण
12-016) स्त्री के शरीर की अपवित्रता
12-017) शृङ्गारपोषक कवियों की निन्दा
12-018) स्त्री तथा धन के त्यागी मुनिराज देवों के देव
12-019) सच्चा सुख कैसा है?
12-020) पुण्यवान् मनुष्यों द्वारा भी यतीश्वरों को नमस्कार
12-021) मनुष्य भव से ही मोक्ष की प्राप्ति
12-022) 'ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति' अधिकार का उपसंहार

ऋषभ स्तोत्र

13-001) 'ऋषभ स्तोत्र' का मङ्गलाचरण
13-002) जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करनेवाले मनुष्य ही धन्य!
13-003) जिनेन्द्र भगवान को देखने पर असीम आनन्द की प्राप्ति
13-004) जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की स्तुति
13-005) जिनेन्द्र के स्मरणमात्र से ही अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी की प्राप्ति
13-006) जिनेन्द्र के अवतरण के बाद स्वर्ग शोभाविहीन
13-007) इस पृथ्वीतल की शोभा अधिक बढ़ गई ।
13-008) माता मरुदेवी की महानता
13-009) जन्मकल्याणक के समय इन्द्र द्वारा निर्निमेष प्रभु को निहारना
13-010) मेरुपर्वत का तीर्थपना
13-011) मेरुपर्वत पर प्रभु के जन्माभिषेक का साक्षात् दृश्य
13-012) जन्माभिषेक के समय मेघों की क्षणभङ्गुरता का कारण
13-013) कल्पवृक्षों के अभाव में प्रजाजनों की आजीविका कैसे?
13-014) पृथ्वी की सनाथता कब और कैसे?
13-015) नीलाजंना के निमित्त से प्रभु का वैराग्य
13-016) नदी के बहने एवं कलकल करने का कारण
13-017) प्रभु की कायोत्सर्ग मुद्रा से धर्म का सम्बन्ध
13-018) देखो जी, आदीश्वर स्वामी! कैसा ध्यान लगाया है
13-019) निर्मल समाधि के प्रभाव से सर्वज्ञता की प्राप्ति
13-020) घातियाकर्मों के नष्ट हो जाने पर अघातिया कर्मों की स्थिति
13-021) समवसरण में मुनियों के बीच प्रभु की विद्यमानता
13-022) समवसरण की लोकोत्तर शोभा
13-023) प्रभु की निर्दोषता एवं निष्कलंकता, फिर भी चन्द्रमा की उपमा
13-024) प्रभु के समीप वृक्ष भी अशोक
13-025) प्रभु दर्शन के समय भव्य जीवों के अश्रुपात का कारण
13-026) प्रभु के ऊपर इन्द्रों द्वारा चँवर ढोरने का अतिशय
13-027) कामदेव द्वारा पुष्पबाण-त्याग के माध्यम से मानो पुष्पवृष्टि
13-028) दुन्दुभि-नाद की घोषणा
13-029) प्रभु का प्रभासमूह, सन्ताप एवं जड़ता, दोनों का नाशक
13-030) प्रभु की वाणी, संसाररूपी विष की नाशक
13-031) वाणी-श्रवण के प्रभाव से अज्ञानियों को भी उत्तम फल की प्राप्ति
13-032) प्रभु के वचनों की श्रद्धा के प्रभाव से संसार-सागर पार
13-033) प्रभु के वचन ही अनेकान्तवाद के द्योतक
13-034) केवली के वचनों की परीक्षा करने में मति-श्रुतज्ञानी असमर्थ
13-035) प्रभु के नयों की कुनयवादियों पर विजय
13-036) प्रभु का वर्णन करने में बृहस्पति भी असमर्थ
13-037) आज भी रत्नत्रय के बल पर निर्विघ्नतया मोक्ष की प्राप्ति

13-038) मोक्षरूपी खजाने को देख कर, अन्य राज्य आदि निधानों का परित्याग
13-039) वीतरागी देव को छोड़ कर, अन्य कुदेवादि चेतना-प्राप्ति में बाधक
13-040) प्रभु का धर्म संसार-समुद्र में गिरने से बचाने वाला
13-041) प्रभु के नख-केश भी वृद्धि से रहित
13-042) प्रभु के शरीर की नील कमलों के माध्यम से महिमा
13-043) इन्द्र द्वारा प्रभु के चरण-कमलों में भक्ति-भाव का प्रदर्शन
13-044) प्रभु का आकाशमार्ग से गमन होने पर स्वर्ण-कमलों की रचना
13-045) चन्द्रमा के बिम्ब पर हिरण के दिखाई देने का कारण
13-046) प्रभु के चरण-कमलों को नमस्कार करने वाले लक्ष्मीपति क्यों?
13-047) प्रभु के निमित्त से समस्त भूमण्डल पर आनन्द ही आनन्द
13-048) प्रभु की स्तुतिरूप नदी, मरणरूपी दावाग्नि को बुझाने में समर्थ
13-049) प्रभु के सामने हाथ जोड़ कर, उन्हें मस्तक पर रखने से सफलता की प्राप्ति
13-050) प्रभु के आगे मस्तक झुकाने से मोह-ठग द्वारा स्थापित मोहन-धूलि का नाश
13-051) ऋषभ भगवान् को ही ब्रह्मा, विष्णु आदि सार्थक नाम
13-052) प्रभु ही जन्म-जरा-मरण के नाशक निष्कारण वैद्य
13-053) प्रभु ही योगियों की कृतकृत्यता के कारण
13-054) प्रभु में एक साथ सूक्ष्मता और गुरुता का प्रदर्शन
13-055) विवेक बुद्धियों की दृष्टि में प्रभु ही एकमात्र सारभूत
13-056) प्रभु के विस्तृत ज्ञान के समक्ष सम्पूर्ण आकाश भी परमाणु के समान
13-057) प्रभु के गुण-वर्णन करने में सरस्वती की असमर्थता
13-058) आकाश समान प्रभु के गुण-वर्णन करने में वाणी-पक्षिणी की असमर्थता
13-059) प्रभु-स्तवन करने में आचार्य की लघुता
13-060) प्रभु के चरण-कमलों से अन्तिम प्रार्थना

श्री जिनेन्द्र स्तवन

14-001) 'श्री जिनेन्द्र स्तवन' अधिकार का मङ्गलाचरण
14-002) प्रभु-दर्शन से मोहरूपी अन्धकार नष्ट
14-003) प्रभु-दर्शन से चित्त को मोक्षसुख की प्राप्ति
14-004) प्रभु-दर्शन से सूर्योदय के समान अन्धकाररूपी प्रबल पाप नष्ट
14-005) प्रभु-दर्शन से तीर्थंकरादि उत्तम पुण्य समूह की प्राप्ति
14-006) प्रभु-दर्शन से अविनाशी मोक्ष की प्राप्ति
14-007) प्रभु-दर्शन से इन्द्रादि के ऐश्वर्य की तृष्णा से रहित सन्तोष की प्राप्ति
14-008) प्रभु-दर्शन से जन्म-मरण के नाशक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति
14-009) प्रभु-दर्शन के बाद भी आकुलता का होना पूर्वोपार्जित कर्मों का दोष
14-010) प्रभु-दर्शन से इहभव में भी नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति
14-011) प्रभु-दर्शन के बाद ही दिन उत्तम तथा सफल
14-012) प्रभु-दर्शन के बाद उनका बहुमूल्य मन्दिर, लक्ष्मी के संकेत घर के समान ज्ञात
14-013) प्रभु-दर्शन से पुण्य-बीज के अंकुर, रोमाञ्चों के माध्यम से प्रस्फुटित
14-014) सिद्धान्त-अमृत के समुद्र प्रभु के दर्शन से हिताहित का ज्ञान
14-015) प्रभु-दर्शन से अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव
14-016) चर्म-नेत्रों से भी प्रभु-दर्शन की अद्भुत महिमा
14-017) प्रभु-दर्शन बिना संसार-समुद्र में मज्जन-उन्मज्जन
14-018) प्रभु-दर्शन से वचन-अगोचर आनन्द की प्राप्ति
14-019) प्रभु का केवलज्ञान स्वरूप देखने से दर्शन-विशुद्धि की प्राप्ति
14-020) प्रभु-दर्शन से दृष्टि सूर्य से भी अधिक निर्मल एवं सुखी
14-021) प्रभु की महिमा जड़ एवं दोषाकार चन्द्रमा से कहीं अधिक
14-022) प्रभु-दर्शन के सामने चिन्तामणि कल्पवृक्ष भी प्रभारहित
14-023) प्रभु-दर्शन से रहस्यमयी प्रेमरस आनन्दाश्रुओं सहित उत्पन्न
14-024) प्रभु-दर्शन से कल्याणों की परम्परा
14-025) प्रभु-दर्शन से प्रकृति की विचित्रता दृष्टिगोचर
14-026) प्रभु-दर्शन से भव्य जीवों के समस्त भय एवं मोह-निद्रा का पलायन
14-027) प्रभु-दर्शन से मेरे हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता
14-028) प्रभु-दर्शन से सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि का विश्वास

14-029) प्रभु-दर्शन से जन्मरूपी शत्रु भी मेरा परम मित्र
14-030) प्रभु-दर्शन एवं गाढ़ भक्ति से समस्त सिद्धियों की प्राप्ति
14-031) प्रभु-दर्शन से मृत्यु के समय में भी धीरता की प्राप्ति
14-032) प्रभु-दर्शन में अन्य इच्छाओं का अभाव
14-033) उपसंहार में जिनेन्द्र स्तवन को तीनों काल पढ़ने की प्रेरणा
14-034) अन्त में इस दर्शन-स्तोत्र को पृथ्वी पर वृद्धिंगत करने की भावना

श्री सरस्वती स्तवन

15-001) 'श्री सरस्वती स्तवन' का मङ्गलाचरण
15-002) माँ सरस्वती के तेज को किसी की अपेक्षा नहीं
15-003) सरस्वती के आशीर्वाद से ही कवित्व की प्राप्ति
15-004) हे सरस्वती! श्रुतकेवली भी आपका वर्णन करने में असमर्थ
15-005) हे माता! आपकी कृपा से ही जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान
15-006) हे सरस्वती माता! आपका मार्ग अक्षुण्ण और निर्मल
15-007) हे माता! आपके कृपा से ही मोक्ष की प्राप्ति
15-008) हे सरस्वती माता! आपकी कृपा से ही समस्त गुणों की प्राप्ति
15-009) केवली भगवान के सर्वज्ञ बनने में आप ही कारण
15-010) जिनवाणी के बिना मनुष्यभव की निरर्थकता
15-011) हे माता! आपके अनुग्रह बिना मनुष्यभव की निष्फलता
15-012) हे माता! आपके माध्यम से ही मोक्ष की प्राप्ति
15-013) हे सरस्वती! आप अनेक आश्चर्यकारी चेष्टाओं की धारक
15-014) भगवान की वाणी सुनने पर हर्ष की प्राप्ति
15-015) तीन लोक के यथार्थ नेत्रस्वरूप जिनवाणी
15-016) जिनवाणी की कृपा से कवित्व एवं वक्तृत्व की प्राप्ति
15-017) जिनवाणी के संस्कार से ही कानों की पवित्रता
15-018) एक-अनेक धर्म से संयुक्त जिनवाणी माता
15-019) कामधेनु आदि की उपमा से रहित जिनवाणी
15-020) बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग अन्धकार को दूर करनेवाली
15-021) मनुष्य के चित्त को आनन्द देनेवाली माता जिनवाणी
15-022) सरस्वती की कृपा से समस्त वस्तुओं की प्राप्ति
15-023) आपकी भक्ति से सम्यग्ज्ञान (श्रुतज्ञान) की प्राप्ति
15-024) समस्त लोक की शुद्धि का कारण
15-025) समस्त ज्ञानों की प्राप्ति में जिनवाणी ही कारण
15-026) जिनवाणी की कृपा से समस्त गुणों की प्राप्ति
15-027) हे देवी! तुम पापरूपी पर्वत के नाश हेतु विवेकरूपी वज्र के समान
15-028) हे जिनवाणी! आपका तेज स्वयं प्रकाशित
15-029) जिनवाणी की कृपा से सबकी प्राप्ति
15-030) श्रुतदेवता की स्तुति से गुणों की प्राप्ति और संसार की समाप्ति
15-031) अन्तिम उपसंहार

श्री चौबीस तीर्थंकर स्तवन

16-001) श्री आदिनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-002) श्री अजितनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-003) श्री सम्भवनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-004) श्री अभिनन्दननाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-005) श्री सुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-006) श्री पद्मप्रभ तीर्थंकर की स्तुति
16-007) श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-008) श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति
16-009) श्री पुष्पदन्त तीर्थंकर की स्तुति
16-010) श्री शीतलनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-011) श्री श्रेयांसनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-012) श्री वासुपूज्य तीर्थंकर की स्तुति
16-013) श्री विमलनाथ तीर्थंकर की स्तुति

16-014) श्री अनन्तनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-015) श्री धर्मनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-016) श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-017) श्री कुन्थुनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-018) श्री अरनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-019) श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-020) श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-021) श्री नमिनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-022) श्री नेमिनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-023) श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति
16-024) श्री वर्धमान तीर्थंकर की स्तुति

श्री सुप्रभाताष्टक स्तोत्र
17-001) 'श्री सुप्रभाताष्टक स्तोत्र' का मङ्गलाचरण
17-002) प्रभातकालीन सूर्य के समान केवलज्ञान
17-003) समस्त संसार के ताप को दूर करनेवाला केवलज्ञान
17-004) तीन लोक के द्वारा पूजनीय सुप्रभातस्तोत्र
17-005) जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात स्तोत्र सदैव जयवन्त वर्तो
17-006) जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात (केवलज्ञान) अपूर्व महिमा का धारी
17-007) सूर्य से भी अगोचर अन्धकार का नाशक श्री जिनेन्द्र का सुप्रभात
17-008) उपसंहार : सुप्रभाताष्टक स्तोत्र पढने का फल

श्री शान्तिनाथ स्तोत्र
18-001) श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए तीन छत्ररूप प्रातिहार्य का वर्णन
18-002) दुन्दुभि प्रातिहार्य का वर्णन
18-003) सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन
18-004) पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन
18-005) भामण्डल प्रातिहार्य का वर्णन
18-006) अशोकवृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन
18-007) दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन
18-008) चँवर प्रतिहार्य का वर्णन
18-009) श्री शान्तिनाथ स्तोत्र का उपसंहार

श्री जिनपूजाष्टक स्तोत्र
19-001) श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए तीन छत्ररूप प्रातिहार्य का वर्णन
19-002) दुन्दुभि प्रातिहार्य का वर्णन
19-003) सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन
19-004) पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन
19-005) अशोकवृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन
19-006) दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन
19-007) चँवर प्रतिहार्य का वर्णन
19-008) श्री शान्तिनाथ स्तोत्र का उपसंहार

श्री करुणाष्टक स्तोत्र
20-001) मङ्गलाचरण में श्री जिनेन्द्रदेव से मोक्ष-प्राप्ति हेतु प्रार्थना
20-002) अनेक दु:खों से दु:खी मुझ दीन पर दया की प्रार्थना
20-003) संसाररूपी भयंकर कुएँ से मेरा उद्धार करने की प्रार्थना
20-004) दयावान प्रभु से मोहरूपी वैरी से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना
20-005) हे! तीन भुवन के स्वामी, दु:ख मेटो अन्तर्यामी
20-006) आपके वचनों से मेरे जन्म-जन्मान्तरों का नाश
20-007) हे प्रभु! दयारूपी जल के कारण ही मैं अत्यन्त शीतल
20-008) उपसंहार में आचार्य द्वारा दया की प्रार्थना

क्रियाकाण्ड चूलिका
21-001) मङ्गलाचरण में जिनेन्द्र भगवान के गुणों का वर्णन
21-002) कवित्व के अभिमान में प्रभु के गुणों का वर्णन करना असम्भव

21-003) प्रभु के प्रति भक्ति का प्रदर्शन
21-004) प्रभु के नाममात्र का स्मरण भी अनेक सिद्धियों का निधान
21-005) परभव में भी प्रभु के चरणों की सेवा के लिए प्रार्थना
21-006) इस भव में प्रभु-भक्ति ही कल्याणकारी
21-007) प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जिनेन्द्र-भक्ति की प्रार्थना
21-008) ज्ञानी भक्त को रत्नत्रय की ही इच्छा
21-009) प्रभु-चरणों के प्रसाद से ही अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति
21-011) रत्नत्रय, तप, धर्म, मूलगुण, उत्तरगुण, गुप्ति आदि का निर्दोष-पालन
21-012) व्यवहार अहिंसा धर्म का निर्दोष पालन
21-013) सकल कर्मों के नाश की भावना
21-014) सर्वज्ञ की वाणी स्याद्वादरूपी उत्कृष्ट दीपक से युक्त
21-015) जिनेन्द्र व शास्त्र-स्तुति में हुई हीनता पूर्व संस्कारवशात्
21-016) क्रियाकाण्डरूपी वृक्ष में चूलिकारूपी पल्लव अभीष्ट फलदायी
21-017) क्रियाकाण्ड चूलिका को तीनों काल पढने से सभी क्रियाएँ पूर्ण
21-018) उपसंहार में संसार की पीड़ा का नाश करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा
21-019) जिनदेव सूर्य के सामने मुझ अपण्डित भक्त की वाचालता भक्ति से प्रेरित

एकत्व भावना

22-001) मङ्गलाचरण में स्वानुभवगोचर तेज के वर्णन की प्रतिज्ञा
22-002) एकत्वस्वरूपी आत्मा को जानने पर अन्य लोगों द्वारा पूजा-आराधना
22-003) एकत्वस्वरूप को जानने पर कर्म-बन्धन से निर्भयपना
22-004) चैतन्य का ज्ञान होने पर बारम्बार उसी का चिन्तवन
22-005) साक्षात् सुख, मोक्षाभिलाषी द्वारा ही सिद्ध
22-006) संसार के सम्बन्धी हमें प्रिय नहीं
22-007) संसार में स्वर्गसुख भी विनाशीक है तो अन्य सुखों की क्या बात?
22-008) इस भव में आत्मा का लक्ष्य करनेवाले का परभव भी श्रेष्ठ
22-009) आत्मस्वरूप में स्थित होकर वीतराग मार्ग पर चलने से मोक्ष प्राप्ति
22-010) उपसंहार में एकत्व भावना करने पर मोक्षलक्ष्मी का सम्पादन
22-011) निर्मल धर्म धारक, चिन्ता तथा मरण से निर्भय

श्री परमार्थ-विंशति:

23-001) मंगलाचरण में भगवान आत्मा का अद्वैत ही उत्कृष्ट एवं दर्शनीय
23-002) स्वस्थता ही जन्म-मरण की नाशक एवं शुद्ध चैतन्य से मिलाने वाली
23-003) एकत्व-स्थिति-पूर्वक शील आदि से युक्त होने पर परम आनन्द
23-004) मित्र आदि से सम्बन्ध भी दु:खदायक
23-005) सैकड़ों शास्त्रों का सार - 'जो चैतन्यस्वरूप है, वही मैं हूँ'
23-006) चैतन्यस्वरूप में गुप्त मन वाले मुझसे समस्त परपदार्थ भिन्न
23-007) विकार का हेतु दो पदार्थों का संयोग, लेकिन मैं तो केवल आत्मा
23-008) यति का दूसरे पदार्थों के साथ संयोग होना ही आपत्ति
23-009) मन में प्रकाशमान सदैव आनन्द देने वाले श्रीगुरु के वचन
23-010) गुरु प्रकाशित मार्ग में गमन करने से निर्वाण की प्राप्ति
23-011) 'मैं सुखी हूँ या दु:खी हूँ' - ऐसे विकल्पों से रहित योगीश्वर
23-012) व्यवहार में देव-शास्त्र गुरु, निश्चय में केवल आत्मा
23-013) मुझे कोई कैसा भी कष्ट दे, किन्तु मुझे कोई भय नहीं
23-014) सर्व शक्तिमान का विचार - जो कुछ होना है, वह तो होगा ही
23-015) संयमी संसार में रहता हुआ भी जल से भिन्न कमल
23-016) निर्ग्रन्थता से उत्पन्न आनन्द के सामने इन्द्रियसुख दु:खरूप
23-017) अग्नि से निकल शीतल कुएँ को प्राप्त मनुष्य, क्या पुन: अग्निप्रवेश करेगा?
23-018) मोह से मोक्ष में की गई अभिलाषा भी मोक्ष-नाशिनी
23-019) जब निज आतम अनुभव आवै, तब और कछु न सुहावै
23-020) उपसंहार में ग्रन्थकार द्वारा अवाच्य तत्त्व की प्राप्ति हेतु मौन-धारण

शरीराष्टक

24-001) प्रारम्भ में मूर्ख जीव की अपवित्र शरीर के साथ प्रीति पर आश्चर्य

24-002) रोगों के घर निकृष्ट शरीर के साथ प्रीति करने पर आश्चर्य
24-003) स्नान तथा चन्दनादि के लेप से शरीर को पवित्र करना वृथा
24-004) (शार्दूलविक्रीडित)
24-005) गुरु-वचन सर्वोत्तम मोक्ष-लक्ष्मी के प्रदाता
24-006) शरीर की हीन अवस्था देख कर, उसके लिए पाप करने का निषेध
24-007) मोक्षाभिलाषी जीवों को शरीर का त्याग ही आवश्यक
24-008) उपसंहार में काल की आज्ञाकारिणी दासी वृद्धावस्था का चित्रण

स्नानाष्टक

25-001) प्रारम्भ में मूर्ख जीव की अपवित्र शरीर के साथ प्रीति पर आश्चर्य
25-002) रोगों के घर निकृष्ट शरीर के साथ प्रीति करने पर आश्चर्य
25-003) स्नान तथा चन्दनादि के लेप से शरीर को पवित्र करना वृथा
25-004) (शार्दूलविक्रीडित)
25-005) गुरु-वचन सर्वोत्तम मोक्ष-लक्ष्मी के प्रदाता
25-006) शरीर की हीन अवस्था देख कर, उसके लिए पाप करने का निषेध
25-007) मोक्षाभिलाषी जीवों को शरीर का त्याग ही आवश्यक
25-008) उपसंहार में काल की आज्ञाकारिणी दासी वृद्धावस्था का चित्रण

ब्रह्मचर्याष्टक

26-001) मंगलाचरण में भववर्द्धक अत्यन्त दु:खदायी मैथुन-सेवन का निषेध
26-002) गुण-दोषों को विचारने वाले बुद्धिमानों की दृष्टि में मैथुन ही पशुकर्म
26-003) यदि स्वस्त्री से मैथुन उचित है तो पर्वों में स्वस्त्री का त्याग क्यों?
26-004) थोडे से सुख के लिए विद्वानों का मैथुन में आदर नहीं
26-005) काम-सम्बन्धी प्रीति, चैतन्य के वैरी मोह के फैलाव की कारण
26-006) संयमरूपी वृक्ष का खण्डन करने में मैथुन तीक्ष्ण कुठार के समान
26-007) पापी जीवों की मैथुन में सदा प्रीति
26-008) हे मन! यह विषय-सुख जहर के समान निषेध योग्य
26-009) उपसंहार में ब्रह्मचर्याष्टक से भोगियों को होने वाले दु:ख हेतु क्षमा

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-भगवत् पद्मनंदी-देव-प्रणीत

श्री

पद्मनंदी-पंचविंशतिका

मूल संस्कृत गाथा,

पं-गजाधरलाल छाबडा कृत हिंदी टीका सहित

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीपद्म्नंदी-पंचविन्शतिका नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीपद्मनंदीदेव विरचितं, श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

कायोत्सर्गायतांङ्गो, जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा

मध्याह्ने यस्य भास्वा,-नुपरि परितो, राजते स्मोग्रमूर्ति:

चक्रं कर्मेन्धनाना,-मतिबहु दहतो, दूरमौदास्यवात

स्फूर्यत् सद्ध्यानवह्ने,-रिव रुचिरतर:, प्रोद्गतो विस्फुलिंग: ॥1॥

प्रज्वलित जो वैराग्य पवन से, कर्मेन्धन को भस्म करें ।

जिनकी ध्यान-अग्नि से नभ में, फैले हैं स्फुलिंग अरे! ॥

वह मध्याह्न दिवाकर जिनके, ऊपर सदा सुशोभित है ।

कायोत्सर्गरूप मुद्रा अरु, जो विशाल तनधारी हैं ॥

अष्ट कर्म के परम विजेता, उत्तम पुरुषों के स्वामी ।

नाभिपुत्र जिनपति महात्मा, जयवन्तो अन्तर्यामी ॥

अन्वयार्थ : दोपहर के समय जिन आदीश्वर भगवान के ऊपर रहा हुआ तेजस्वी सूर्य, ज्ञानावरणादि कर्मरूपी इंर्धन को पल भर में भस्म करने वाली, वैराग्यरूपी पवन से जलाई हुई ध्यानरूपी अग्नि से उत्पन्न हुए मनोहर स्फुलिंगों के समान जान पड़ता है, ऐसे कायोत्सर्ग सहित विस्तीर्ण शरीर के धारी तथा अष्ट कर्मों के जीतने वाले उत्तम पुरुषों के स्वामी महात्मा श्री नाभिराय के पुत्र श्री ऋषभदेव भगवान सदा जयवन्त रहें ।

नो किंचित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किंचिद्दृशो-
र्दृश्यं यस्य न कर्णयो: किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न ।
तेनालंबितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टी रह:।
संप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिन: ॥2॥
रहा न किञ्चित् कार्य अत: हैं, आलम्बित द्वय हाथ अहो! ।
जानन-देखन योग्य नहीं हैं, अत: दृष्टि-नासाग्र अहो! ॥
सुनने योग्य रहा कुछ भी नहिं, इसीलिए रहते एकान्त ।
ध्यान-लीन अत्यन्त निराकुल, जिनवर हैं जग में जयवन्त ॥

अन्वयार्थ : भगवान को हाथ से करने योग्य कोई कार्य नहीं रहा है इसलिये तो उन्होंने हाथों को नीचे लटका दिया है तथा जाने के लायक कोई स्थान नहीं रहा है इसलिये वे निश्चल खड़े हुवे हैं और देखने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहा है इसलिये भगवान नाक के ऊपर अपनी दृष्टि दे रखी है तथा एकान्तवास इसलिये किया है कि भगवान को पास में रहकर कोई बात सुनने के लिये नहीं रही है इसलिये इस प्रकार अत्यंत निराकुल तथा ध्यानरस में लीन भगवान सदा लोक में जयवन्त हैं।

राग-द्वेष-मोह से रहित एवं आनन्द आदि गुणों के धाम अर्हन्त भगवान

रागो यस्य न विद्यते क्कचिदपि प्रध्वस्तसंगग्रहात्
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि संभाव्यते
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा-
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु वः ॥3॥
मोह परिग्रह नष्ट हुआ है, अत: किसी से राग नहीं ।
शस्त्र नहीं हैं अत: न उनमें, नहीं देखते द्वेष कहीं ॥
इसीलिए हैं साम्यस्वभावी, आतमज्ञानी कर्मजयी ।
आनन्दादि गुणों के आश्रय, रक्षा करो प्रभो मेरी ॥

अन्वयार्थ : मोह तथा परिग्रह के नाश हो जाने के कारण न तो किसी पदार्थ में जिस अर्हंत का राग ही प्रतीत होता है तथा अर्हंत भगवान ने समस्त शस्त्र आदि को छोड़ दिया है इसलिये विद्वानों को किसी में जिस अर्हंत का द्वेष भी देखने में नहीं आता तथा द्वेष के न रहने के कारण जो शान्तस्वभावी है तथा शान्तस्वभावी होने के ही कारण जिस अर्हंत ने अपनी आत्मा को जान लिया है तथा आत्मा का ज्ञाता होने के कारण जो अर्हंत कर्मोंकर रहित है तथा कर्मों से रहित होने के ही कारण जो आनन्द आदिगुणों का आश्रय है ऐसा अर्हंत भगवान मेरी सदा रक्षा करो अर्थात् ऐसे अर्हंत भगवान का मैं सदा सेवक हूं।

भगवान के चरण-कमलों के आराधन से मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति

इन्द्रस्य प्रणतस्य शेखरशिखारत्नार्कभासा नख-
श्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृद्दूरोल्लसत्पाटलम्
श्रीसद्माङ्घ्रियुगं जिनस्य दधदप्यम्भोजसाम्यं रज-
स्त्यक्तं जाड्यहरं परं भवतु नश्चेतोऽर्पितं शर्मणे ॥4॥
नम्रीभूत सुरेन्द्र मुकुट की, रत्नप्रभा से चमक रहे ।
चरण-कमल में सुरपतियों के, नेत्र-भ्रमर हैं नित सजते ॥
पाद-पद्म-रजरहित और श्रीयुक्त साम्य है दोनों में ।
किन्तु चरण-युगल जाड्यहर, सुखकर सदा बसे मन में ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कमलों पर भ्रमर गुंजार करते हैं उस ही प्रकार भगवान के चरण कमलों को बड़े—बड़े इन्द्र आकर नमस्कार

करते हैं तथा उनके मुकुट के अग्रभाग में लगे हुये जो रत्न उनकी प्रभा सहित भगवान के चरणों के नखों में उन इन्द्रों के नेत्रों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं इसलिये भगवान के चरणों पर भी इन्द्रों के नेत्ररूपी भौंरे निवास करते हैं— तथा जिस प्रकार कमल कुछ सफेदी लिये लाल होते हैं उस ही प्रकार भगवान के चरण कमल भी कुछ सफेदी लिये हुए लाल वर्ण है तथा जिस प्रकार कमलों में लक्ष्मी रहती हैं उस ही प्रकार भगवान के चरणकमल भी लक्ष्मी के स्थान है अर्थात् चरण कमलों के आराधन करने से भव्य जीवों को उत्तम मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसलिये यद्यपि कमल तथा भगवान के चरण कमल इन गुणों से समान है तथापि कमल धूलिसहित है तथा जड़ है और भगवान के चरणकमल धूलि (पाप) रहित है तथा जड़ता के दूर करने वाले हैं अत: कमलों से भी उत्कृष्ट भगवान के चरणकमल सदा मेरे मन में स्थित रहो तथा कल्याण करो।

पाप-सन्ताप को दूर करने वाले श्री शान्तिनाथ भगवान के चरण कमल

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं
स्मृतमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै
विबुधकुलकिरीटप्रस्फु रन्नीलरत्न-
द्युतिचलमधुपालीचुम्बितं पादपद्मम् ॥5॥
सुर किरीट के नीलरत्न की, प्रभा-भ्रमरयुत चरण-कमल ।
स्मृति से ही पाप-ताप-क्षय, होंवे शान्तिनाथ जयवन्त ॥

अन्वयार्थ : नानाप्रकार के देवताओं के जो मुकुट उनमें लगी हुई जो चमकती हुई नीलमणि उनकी जो प्रभा वही जो चलती हुई भ्रमरों की पंक्ति उस पर सहित जिस शान्तिनाथ भगवान के चरणकमल स्मरण किये हुवे ही समस्त जनों के पाप तथा संताप को दूरकर देते हैं ऐसे वे तीन लोक के स्वामी श्री शांतिनाथ भगवान सदा जयवंत हैं

मोक्षमार्ग में गमन कराने वाला उत्कृष्ट धर्म

स जयति जिनदेवः सर्वविद्विश्वनाथो
वितथवचनहेतुक्रोधलोभाद्विमुक्त :
शिवपुरपथपान्थप्राणिपाथेयमुच्चै-
र्जनितपरमशर्मा येन धर्मोऽभ्यधायि ॥6॥
असत् वचन के हेतुभूत जो, क्रोध-लोभ से हुए विमुक्त ।
सकल ज्ञेय के ज्ञायक त्रिभुवन,-पति जिनदेव रहें जयवन्त ॥
शिवपुर-पथ के पथिकजनों को, दिया धर्म-उपदेश महान ।
परमोत्तम कल्याणभूत जो, भविजन को पाथेय समान ॥

अन्वयार्थ : सबके जानने वाले तथा तीन लोक के स्वामी और क्रोधलोभादिकर रहित इसीलये सत्य वचन के बोलने वाले श्री जिनदेव सदा जयवंत हैं जिन श्री जिनदेव ने मोक्षमार्ग को गमन करने वाले प्राणियों को पाथेय (टोसा) स्वरूप तथा उत्तम कल्याण के करने वाले उत्कृष्ट धर्म का निरूपण किया है

धर्म के अनेक लक्षणों एवं भेदों का समन्वय

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद्विधा च त्रयं
रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः ।
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागसङ्गोज्झिता
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥7॥
जीवदया है धर्म तथा, श्रावक-मुनिधर्म द्विभेद कहा ।

रत्नत्रय है परम धर्ममय, क्षमा आदि दश भेद कहा ॥
मोहोत्पन्न विकल्पजाल से, रहित तथा जो वचनातीत ।
धर्म अहो! यह आत्मदेव का, निर्मल आनन्दमय परिणाम ॥

अन्वयार्थ : समस्त जीवों पर दया करना इसी का नाम धर्म है अथवा एकदेश गृहस्थ का धर्म तथा सर्वदेश मुनियों का धर्म इस प्रकार उस धर्म के दो भी भेद हैं अथवा उत्कृष्ट रत्नत्रय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र ही धर्म है अथवा उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदिक दश प्रकार भी धर्म है अथवा मोह से उत्पन्न हुवे समस्त विकल्पोंकर रहित तथा जिसको वचन से निरूपण नहीं कर सकते ऐसी जो शुद्ध तथा आनन्दमय आत्मा की परिणति उसी का नाम उत्कृष्ट धर्म है इस प्रकार सामान्यतया धर्म का लक्षण तथा भेद इस श्लोक में बतलाये गये हैं

धर्मरूपी वृक्ष का मूल, सभी प्राणियों पर दया

आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका ।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः
धिङ्नामाप्यपदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥8॥
व्रतसमूह में प्रथम और, सच्चे सुख-सम्पति की जननी ।
धर्म-वृक्ष की मूल यही है, मोक्ष-महल की है सीढ़ी ॥
धर्मात्माजन सब जीवों पर, सर्वप्रथम नित दया करै ।
निर्दय का नहिं कोई जगत् में, सभी कहें धिक् है धिक् है ॥

अन्वयार्थ : जो समस्त उत्तम व्रतों के समूह में मुख्य है तथा सच्चे सुख और श्रेष्ठ संपदाओं की उत्पन्न करने वाली है और जो धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है (अर्थात् जिस प्रकार जड़ बिना वृक्ष नहीं ठहरता उस ही प्रकार दया बिना धर्म भी नहीं ठहर सकता) तथा जो मोक्षरूपी महल के अग्रभाग में चढ़ने के लिये सीढ़ी के समान है ऐसी धर्मात्मा पुरूषों को ''समस्त प्राणियों पर दया'' अवश्य करनी चाहिये किन्तु जिस पुरूष के चित्त में लेशमात्र भी दया नहीं है उस पुरूष के लिये धिक्कार है तथा समस्त दिशा उसके लिये शून्य है अर्थात् जो निर्दयी है उसका कोई भी मित्र नहीं होता।

सभी जीव परस्पर कुटुम्बी : कौन किसे मारे?

संसारे भ्रमतश्चिरं तनुभृतः के के न पित्रादयो
जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु ते सर्वे भवन्त्याहताः
पुंसात्मापि हतो यदत्र निहतो जन्मान्तरेषु ध्रुवम्
हन्तारं प्रतिहन्ति हन्त बहुशः संस्कारतो नु क्रुधः ॥9॥
जग में चिर भ्रमते प्राणी का, कौन न मात-पितादि हुआ ।
अत: किसी को मारे कोई, तो अपनों को ही मारा ॥
तथा स्वयं को मारा उसने, क्योंकि मृतक संग जाए क्रोध ।
जन्मान्तर में जागृत हो, संस्कार हनें हत्यारे को ॥

अन्वयार्थ : चिरकाल से संसार में भ्रमण करते हुवे इस दीन प्राणी के कौन—कौन माता पिता भाई आदिक नहीं हुवे ? अर्थात् सर्व ही हो चुके इसलिये यदि कोई प्राणी किसी जीव को मारे तो समझना चाहिये कि उसने अपने कुटुम्बी को ही मारा तथा अपनी आत्मा का भी उसने घात क्योंकि यह नियम है जो मनुष्य किसी दीन प्राणी को एक बार मारता है उस समय उसे मरे हुवे जीव के क्रोधादि की उत्पत्ति होती है तथा जन्मान्तर में उसका संस्कार बैठा रहता है इसलिये जिससमय कारण पाकर उस मृतप्राणी का संस्कार प्रकट हो जाता है उस समय वह हिंसक को (अर्थात् पूर्वभव में अपने मारने वाले जीव को) अनेक बार मारता है इसलिये ऐसे दुष्ट हिंसक के लिये धिक्कार हो

जीवनदान : सबसे बड़ा दान

त्रैलोक्यप्रभुभावतो ऽपि सरुजो ऽप्येकं निजं जीवितं
प्रेयस्तेन बिना स कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः ।
निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं
जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानं लघु ॥10॥
कोई दरिद्री त्रिभुवन की, सम्पति लेकर भी प्राण न दे ।
प्राण बिना कैसे भोगेंगे, अत: प्राण सबको प्यारे ॥
अत: सुनिश्चित शील-व्रतादि निर्मल गुण आधार कहे ।
सब दानों में श्रेष्ठ दान है, प्राणदान ही त्रिभुवन में ॥

अन्वयार्थ : यदि किसी दरिद्री से भी यह बात कही जावे कि भाई तू अपने प्राण दे दे तथा तीन लोक की संपदा ले ले तब वह यही कहता है कि मैं ही मर जाऊंगा तो उस संपदा को कौन भोगेगा अत: तीनलोक की संपदा से भी प्राणियों को अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिये समस्त व्रत तथा शीलादि निर्मलगुणों का स्थानभूत जो यह प्राणी का जीवितदान है उसकी अपेक्षा संसार में सर्वदान छोटे हैं यह बात भलीभांति निश्चित है।

अव्रती की दया भी स्वर्ग-मोक्ष को देने वाली तथा दया बिना तप भी व्यर्थ

स्वर्गायाव्रतिनाऽपि सार्द्रमनसः श्रेयस्करी केवला
सर्वप्राणिदया तया तु रहितः पापस्तपस्थोऽपि वा
तद्दानं बहु दीयतां तपसि वा चेतश्चिरं धीयतां
ध्यानं वा क्रियतां जना न सफ लं किंचिद्दयावर्जितम् ॥11॥
व्रतविहीन भी स्वर्ग-मोक्ष, पाते हैं भीगे चित वाले ।
कितना भी तप करें किन्तु, निर्दयजन पापी कहलाते ॥
चाहे कितना दान करें या, चित-एकाग्र करे तप में ।
ध्यान करें पर सफल नहीं है, कोई क्रिया न दया जिनमें ॥

अन्वयार्थ : चाहे मनुष्य अव्रती—व्रतरहित क्यों न होवे यदि उसका चित्त समस्त प्राणियों के प्राणों को किसी प्रकार दु:ख न पहुँचाना रूप दया से भीगा हुआ है तो समझना चाहिये कि उस पुरुष को वह दया स्वर्ग तथा मोक्षरूप कल्याण को देने वाली है किन्तु यदि किसी पुरुष के हृदय में दया का अंश न हो तो चाहे वह केसा भी तपस्वी क्यों न होवे तथा वह चाहे इच्छानुसार ही दान क्यों न देता हो अथवा वह कितना भी तप में चित्त को क्यों न स्थिर करता हो तथा वह कैसा भी ध्यानी क्यों न हो पापी ही समझा जाता है क्योंकि दयारहित कोई भी कार्य सफल नहीं होता॥११॥

मुनिधर्म के अवलम्बनस्वरूप गृहस्थधर्म किसे प्रिय नहीं?

सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्ते: परं कारणं
रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति
वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते
तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः ॥12॥
सर्व सुरासुरपति से पूजित, एक मुक्ति का कारण जो ।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणमय, करे प्रकाशित त्रिभुवन को ॥
मुनिगण धारण करें रत्नत्रय, यदि तन में स्थिरता हो ।
अन्न समर्पित करें भक्ति से, श्रावकधर्म न क्यों प्रिय हो? ॥

अन्वयार्थ : जिस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररुपी रत्नत्रय की समस्त सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्र भक्ति से पूजन करते हैं तथा जो मोक्ष का उत्कृष्ट कारण है अर्थात् जिसके बिना कदापि मुक्ति नहीं हो सकती तथा जो तीन लोक का प्रकाश करने वाला है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय को देह की स्थिरता रहते—सन्ते ही मुनिगण धारण करते हैं तथा श्रद्धा, तुष्टि आदि गुणों कर संयुक्त गृहस्थियों के द्वारा भक्ति से दिये हुए दान से उन उत्तम मुनियों के शरीर की स्थिति रहती है इसलिये ऐसे गृहस्थों का धर्म किसको प्रिय नहीं है अर्थात् सब ही उसको प्रिय मानते हैं॥१२॥

सम्यग्दर्शन आदि गुणों से पूज्य गृहस्थाश्रम

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्धया
तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥13॥
जिनपूजा, गुरुसेवा-उपासना, साधर्मी में वत्सलभाव ।
पात्रदान अरु दीन-दु:खी, जीवों को होता करुणा-दान ॥
तत्त्वाभ्यास व्रतों में प्रीति, निर्मल हो सम्यग्दर्शन ।
बुधजन पूज्य गृहस्थाश्रम यह, किन्तु विपर्यय दु:ख-कारण ॥

अन्वयार्थ : तथा जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र भगवान की पूजा उपासना की जाती है तथा निग्रन्थगुरुओं की भक्ति सेवा आदि की जाती है और जिस गृहस्थाश्रम में धर्मात्मापुरुषों का परस्पर में स्नेह से वर्ताव होता है तथा मुनि आदि उत्तमादिपात्रों को दान दिया जाता है तथा दु:खी दरिद्रियों को जिस गृहस्थाश्रम में करुणा से दान दिया जाता है और जहाँ पर निरन्तर जीवादि तत्व का अभ्यास होता रहता है तथा अपने-अपने व्रतों में प्रीति रहती है और जिस गृहस्थाश्रम में निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के द्वारा पूजनीक होता है किन्तु उससे विपरीत इस संसार में केवल दु:ख का देने वाला है तथा मोह का जाल है॥१३॥

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम

आदौ दर्शनमुन्नतं व्रतमितः सामायिकं प्रोषध-
स्त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवाभुक्तं तथा ब्रह्म च
नारभ्भो न परिग्रहोऽननुमतिर्नोद्दिष्टमेकादश
स्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः ॥14॥
निर्मल सम्यग्दर्शन-व्रत, सामायिक अरु प्रोषधोपवास ।
सचित्त वस्तु का त्याग, दिवस में भोजन एवं ब्रह्म-विलास ॥
आरम्भ-परिग्रह-अनुमति त्याग, उद्देशिक भोजन का भी त्याग ।
ये ग्यारह स्थान ग्रहण के, पूर्व सप्त व्यसनों का त्याग ॥

अन्वयार्थ : जीवादि पदार्थों में शंकादि दोष रहित श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का जिसमें धारण होवे उसको दर्शन प्रतिमा कहते हैं तथा अहिंसादि पांच अणुव्रत तथा दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत और देशावकाशिकादि चार शिक्षाव्रत इस प्रकार जिसमें बारहव्रत धारण किये जावे वह दूसरी व्रत प्रतिमा कहलाती है तथा तीनों कालों में समता धारण करना सामायिक प्रतिमा है और अष्टमी आदि चारों पर्वो में आरम्भ रहित उपवास करना चौथी प्रोषध प्रतिमा है तथा दिन में भोजन ग्रहण करना रात्रि-भोजन त्याग प्रतिमा है ।जिस प्रतिमा में सचित्त वस्तुओं का भोग न किया जाय उसको सचित्त त्याग नामक पांचवीं प्रतिमा कहते हैं। तथा जिस प्रतिमा के धारण करने से आजन्म स्वस्त्री तथा परस्त्री दोनों का त्याग करना पड़ता है वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमा है तथा किसी प्रकार धनादि का उपार्जन न करना आरम्भ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा है और जिस प्रतिमा के धारण करते समय धनधान्य दासीदासादि का त्याग किया जाता है वह नवमी परिग्रह त्याग नामक प्रतिमा है तथा घर के कामों में और व्यापार में (ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये) इत्यादि अनुमति का न देना अनुमति

त्याग नामक दशमी प्रतिमा है तथा अपने उद्देश्य से भोजन न किया गया हो ऐसे गृहस्थों के घर में मौन सहित भिक्षापूर्वक आहार करना उद्दिष्ठ भोजन त्याग प्रतिमा है-- इस प्रकार ये ग्यारह व्रत (प्रतिमा) श्रावकों के हैं, इन सब व्रतों में भी प्रथम सप्तव्यसनों का त्याग अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि व्यसनों के बिना त्याग किये एक भी प्रतिमा धारण नहीं की जा सकती ॥१४॥

व्रत-ग्रहण से पूर्व सप्त व्यसन का त्याग आवश्यक

यत्प्रोक्तं प्रतिमाभिराभिरभितो विस्तारिभिः सूरिभिः
ज्ञातव्यं तदुपासकाध्ययनतो गेहिव्रतं विस्तरात्
तत्रापि व्यसनोज्झनं यदि तदप्यासूत्र्यते ऽत्रैव यत्
तन्मूलः सकलः सतां व्रतविधिर्याति प्रतिष्ठां पराम् ॥15॥
आचार्यों ने प्रतिमादिक का, किया बहुत विस्तृत वर्णन ।
उपासकाध्ययनादि ग्रन्थों से, जानो श्रावक-व्रत-विवरण ॥
व्यसन-त्याग भी वहाँ कहा है, और यहाँ भी करें कथन ।
क्योंकि इसी से सत्पुरुषों की, व्रत-विधि प्राप्त करे सम्मान ॥

अन्वयार्थ : समन्तभद्र आदि बड़े—बड़े आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमा तथा और भी गृहस्थों के व्रत अत्यन्त विस्तार के साथ अपने—२ ग्रन्थों में वर्णन किये हैं इसलिये उपासकाध्ययन से इनका स्वरूप विस्तार से जानना चाहिये और उन्हीं आचार्यों ने जूआ खेलना-१ मद्यपीना-२ मांस खाना-३ आदि सातों व्यसनों का भली भांति स्वरूप दिखाकर उनके त्याग की अच्छी तरह विधि बतलाई है तथा इस ग्रन्थ में भी उन सप्तव्यसनों के त्याग का वर्णन किया जायगा क्योंकि सप्तव्यसनों के त्याग से ही सज्जनों की व्रतविधि अत्यन्त प्रतिष्ठा को प्राप्त करती है बिना व्यसनों के त्याग के नहीं ॥१५॥

सप्त व्यसनों के नाम एवं उनके त्याग की प्रेरणा

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥16॥
जुआ मांस मदिरा वेश्या, आखेट चौर्य परनारी संग ।
सप्त व्यसन ये महापाप हैं, इनका त्याग करें बुधजन ॥

अन्वयार्थ : —१. जूआ खेलना, २. मांस खाना, ३. मद्य पीना, ४. वेश्या के साथ उपभोग करना, ५. शिकार खेलना , ६. चोरी करना, ७. परस्त्री का सेवन करना— ये सात व्यसनों के नाम हैं तथा विद्वानों को इन व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिये ॥१६॥
आचार्य सप्तव्यसनों से उत्पन्न हुई हानि तथा सप्तव्यसनों के स्वरूप को पृथक् —२ वर्णन करते हैं । प्रथम ही दो श्लोकों में द्यूतनामक व्यसन का निषेध करते हैं।

द्यूत (जुआ) नामक व्यसन का निषेध

भवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादिसर्व-
व्यसनपतिरशेषापन्निधिः पापबीजम्
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा
क इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति ॥17॥
त्रिभुवन में अपयश का घर है, सब व्यसनों का स्वामी है ।
जो समस्त आपत्ति-निकेतन, सकल पाप-उत्पादक है ॥
नरकादिक दुर्गतियों में, ले जाने वाला यही अरे! ।
महा निकृष्ट द्यूत-क्रीड़ा को, कहो कौन बुध अपनाये? ॥

अन्वयार्थ : जो समस्त अपकीर्तिओं का घर है अर्थात् जिसके खेलने से संसार में अकीर्ति ही फैलती है तथा जो चोरी वेश्यागमन आदि बचे हुवे व्यसनो का स्वामी है (अर्थात् जिस प्रकार राजा के आधीन मंत्री आदि हुआ करते हैं उस ही प्रकार जूआ के आधीन समस्त बचे हुवे व्यसन हैं) और जो समस्त आपत्तियों का घर है तथा जिसके संबन्ध से निरंतर पाप की ही उत्पत्ति होती रहती है तथा जो समस्त नरकादिखोटी गतियों का मार्ग बतलाने वाला है ऐसे सर्वथा निकृष्ट जूआ नामक व्यसन को कौन बुद्धिमान अंगीकार कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१७॥

सभी व्यसनों में जुआ खेलना ही मुख्य व्यसन

क्वाकीर्तिः क्व दरिद्रता क्व विपदः क्व क्रोधलोभादयः
चौर्यादिव्यसनं क्व च क्व नरके दुःखं मृतानां नृणाम् ।
चेतश्चेद्गुरुमोहतो न रमते द्यूते वदन्त्युन्नत-
प्रज्ञा यद्भुवि दुर्णयेषु निखिलेष्वेतद्धुरि स्मर्यते ॥18॥
मोह-शमन कर जुआ न खेलें, तो फिर अपयश नहिं होवे ।
कहाँ क्रोध-लोभादि विपत्ति, अन्य व्यसन भी कहाँ रहें? ॥
नरकादिक में नमन न होवे, क्योंकि सभी व्यसनों का मूल ।
जुआ व्यसन ही कहा अत: सब, बुधजन हों इससे प्रतिकूल ॥

अन्वयार्थ : इस जूआ के विषय में बड़े—२ गणधरादिकों का यह कथन है कि मोह के उदय में मनुष्य की जूआ में प्रवृत्ति होती है यदि मनुष्य के मोह के उपशम होने से जूआ में प्रवृत्ति न होवे तो कदापि संसार में इसकी अकीर्ति नहीं फैल सकती है और न यह दरिद्री ही बन सकता है तथा न इसको कोई प्रकार की विपत्ति घेर सकती है और इस मनुष्य के क्रोध लोभादि की भी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती तथा चोरी आदि व्यसन भी इसका कुछ नहीं कर सकते और मरने पर यह नरकादि गतियों की वेदना का भी अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि समस्तव्यसनों में जूआ ही मुख्य कहा गया है इसलिये सज्जनों को इस जूवे से अपनी प्रवृत्ति को अवश्य हटा लेना चाहिये ॥१८॥
आगे दो श्लोकों में मांस व्यसन का निषेध किया जाता है।

मांस व्यसन का निषेध

बीभत्सु प्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूलं
हस्तेनाक्ष्णापि शक्यं यदिह न महतां स्प्रष्टुमालोकितुं च ।
तन्मांसं भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं यस्य साक्षात्
पापं तस्यात्र पुंसो भुवि भवति कियत्का गतिर्वा न विद्मः ॥19॥
तीव्र घृणा उत्पन्न करे वह, प्राणि-घात से जो उत्पन्न ।
कृमि-स्थान अरु महा अशुचिमय, निन्दनीय मानें सज्जन ॥
छूने योग्य न, देख सकें नहिं, मांस शब्द नहिं सुनने योग्य ।
भक्षण करने वाले की नहिं, जानें क्या गति होने योग्य? ॥

अन्वयार्थ : देखते ही जो मनुष्यों को प्रबल घृणा का उत्पन्न करने वाला है तथा जिसकी उत्पत्ति दीन प्राणियों के मारने पर होती है और जो अपवित्र है तथा नाना प्रकार के दृष्टिगोचर जीवों का जो स्थान है और जिसकी समस्त सज्जन पुरूष निन्दा करते हैं तथा जिसको इस संसार में सज्जनपुरूष न हाथ से ही छू सकते हैं और न आंख से ही देख सकते हैं और ''मांस खाने योग्य होता है'' यह वचन भी सज्जनों को प्रबल घृणा का उत्पन्न करने वाला है ऐसे सर्वथा अपावन मांस को साक्षात् खाता है आचार्य कहते हैं हम नहीं जान सकते उस मनुष्य के कितने पापों का संसार में संचय होता है! तथा उसकी कौन सी गति होती है ॥१९॥

मांसभक्षण करनेवालों की निन्दा

गतो ज्ञातिः कश्चिद्बहिरपि न यद्येति सहसा
शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः ।
परेषामुत्कृत्य प्रकटितमुखं खादति पलं
कले रे निर्विण्णा वयमिह भवच्चित्रचरितैः ॥20॥
कोई परिजन देशान्तर, जाकर यदि शीघ्र नहीं आएँ ।
तो अनिष्ट चिन्तवन करें, माथा कूट-कूट रोएँ ॥
किन्तु अन्य जीवों का मांस, भखे पर लेश न लज्जित हो ।
रे कलि! तेरे विविध चरित्रों, से यह चित्त विरक्त अहो! ॥
अन्वयार्थ : यदि कोई अपना भाई पिता पुत्र आदि दैवयोग से (मरना तो दूर रहे) बाहर भी चला जावे तथा वह जल्दी लौट कर न आवे तो मनुष्य शिरकूट—२ कर रोता है तथा नाना प्रकार के मन में बुरे भावों का चिंतवन करता है किन्तु अपने कुटुम्बियों से भिन्न दूसरे जीवों के मांस को उपाट—२ कर खाता है तथा लेशमात्र भी लज्जा नहीं करता इसलिये आचार्य कहते हैं कि अरे कलिकाल तेरे नानाप्रकार के चरित्रों से हम सर्वथा विरक्त हैं, अर्थात् तेरे चरित्रों का हमको पता नहीं लग सकता ॥२०॥

मदिरापान का निषेध

सकलपुरुषधर्मभ्रंशकार्यत्रजन्म-
न्यधिकमधिकमग्रे यत्परे दु:खहेतु: ।
तदपि यदि न मद्यं त्यज्यते बुद्धिमद्भिः
स्वहितमिहकिमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम् ॥21॥
जनम-जनम दु:ख देने वाली, धर्म मूल से नष्ट करे ।
तो भी बुधिधर तजैं न मदिरा, अपना हित फिर कैसे करें? ॥
अन्वयार्थ : यह मदिरा इस जन्म में समस्त पीने वाले प्राणियों के धर्म को मूल से खोने वाली है तथा परलोक में अत्यन्त तीव्र नाना प्रकार के नरकों के दु:खों की देने वाली है ऐसा होने पर भी यदि विद्वान् मद पीना न छोड़ें तो समझ लेना चाहिये कि उन मनुष्यों के द्वारा अपने हितकारी धर्म के लिये कोई भी उत्कृष्ट कार्य नहीं बन सका क्योंकि व्यसनी कुछ भी उत्तम कार्य नहीं कर सकते ॥२१॥

मद्यपान समस्त खोटी चेष्टाओं का कारण

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना-
निन्द्याश्रेष्टा विदधति जना निस्त्रपा: पीतमद्या: ।
तत्राधिक्यं पथि निपतिपा यत्किरत्सारमेयाद्-
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणा: पिवन्ति ॥22॥
क्या आश्चर्य कि मदिरा पीकर, माता को पत्नी मानें ।
हो निर्लज्ज नरों में विविध, भाँति के खोटे कार्य करें ॥
किन्तु अधिक आश्चर्य कि जब वे, मारग में ही गिर जाते ।
कुत्ते मूतें मुख में पर वे, मधुर-मधुर कह पी जाते ॥
अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि मदिरा के पीने वाले मनुष्य यदि निर्लज्ज होकर अपनी माता को स्त्री मानें तथा उसके साथ नाना प्रकार की खोटी चेष्टा करें तो यह बात तो कुछ बात नहीं किन्तु सब से अधिक बात यह है कि मद्य के नशे में आकर जब मार्ग में गिर जाते हैं तथा जिस समय उनके मुख में कुत्ते मूतते हैं उसको मिष्ट—२ कहते हुवे तत्काल गटक जाते हैं।

वेश्या-सेवन व्यसन का निषेध

या: खादन्ति पलं पिवन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावच:,
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनस: पापात्मिका: कुर्वते,
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥23॥
मद्य-मांस का सेवन करती, और झूठ ही कहें वचन ।
धन के लिए प्रेम दिखलाती, नष्ट करे जो यश अरु धन ॥
जो अत्यन्त पापिनी नीच-मनुष्यों की भी पीती लार ।
अरे! झूठ है इससे बढ़ कर, अन्य नरक इस लोक मँझार ॥
अन्वयार्थ : जो सदा मांस खाती हैं तथा जो निरन्तर मद्यपान करती हैं और जिनको झूठ बोलने में अंशमात्र भी संकोच नहीं होता तथा जिनका स्नेह विषयी मनुष्यों के साथ केवल धन के लिये है और जो द्रव्य तथा प्रतिष्ठा को मूल से उड़ाने वाली हैं अर्थात् वेश्या के साथ संयोग करने से धन तथा प्रतिष्ठा दोनों किनारा कर जाते हैं तथा जिनके चित्त में सदा छल कपट दगाबाजी ही रहती है और अत्यन्त पापिनी हैं तथा जो धन के लाभ से अत्यन्त नीचधीवर चमार चाण्डाल आदि की लार का भी निरन्तर पान करती हैं ऐसी वेश्याओं से दूसरा नरक संसार में है । यह बात सर्वथा झूठ है। भावार्थ—वेश्या ही नरक है ॥२३॥

वेश्या की अत्यन्त निन्दनीय दशा

रजकशिलासदृशीभि: कुक्कुरकर्परसमानचरिताभि: ।
गणिकाभिर्यदि सङ्ग: कृतमिह परलोकवार्ताभि: ॥24॥
धोबी की शिला-सदृश जो, श्वान हेतु कंकाल अहो! ।
वेश्या संग रमने वाले के, नष्ट हुए हैं दोनों लोक ॥
अन्वयार्थ : जो वेश्या धोबी की कपड़े पछीटने की शिला के समान है अर्थात् जिसप्रकार शिला पर समस्त प्रकार के कपड़े लाकर पछीटे जाते हैं उसही प्रकार इस वेश्या के साथ भी समस्त निकृष्ट से निकृष्ट जाति के मनुष्य आकर रमण करते हैं अथवा दूसरा इसका आशय यह भी है कि जिस प्रकार शिला पर समस्त प्रकार के कपड़ों के मैल का संचय होता है उस ही प्रकार वेश्यारूपी शिला पर भी नाना जातियों के मनुष्य के वीर्यरूपी मैल का समूह इकट्ठा होता है तथा जो वैश्या कुलाओं के लिए कपाल के समान है अर्थात् जिस प्रकार मरे हुये मनुष्य के कपाल पर लड़ते लड़ाते नाना प्रकार के कुत्ते इकट्ठे होते हैं उस ही प्रकार इस वेश्या पर भी नाना जातियों के मनुष्य आकर टूटते हैं तथा नाना प्रकार के परस्पर में कलह करते हैं इसलिये ऐसी निकृष्ट वेश्याओं के साथ यदि कोई पुरूष संबन्ध करे तो समझ लेना चाहिये कि उसका परलोक उत्तम हो चुका।

शिकार व्यसन का निषेध

यादुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति त्रातृसंबन्धहीना,
भीतिर्यस्या: स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराधं करोति ।
वध्यालं सापि यस्मिन्ननुमृगवनितामांसपिण्डस्यलोभात्,
आखेटेऽस्मिन् रतानामिहकिमुनकिमन्यत्रनो यद्विरूपम् ॥25॥
देह मात्र ही धन है वन में, वसती रक्षक नहिं कोई ।
तृण-भक्षी भयभीत स्वभावी, नहिं अपराध करे कोई ॥
मांस-पिण्ड के लोभी तथा, शिकारी उसका घात करें ।
रोग-शोक इस भव में हो अरु, नरकादिक में दु:ख भोगें ॥
अन्वयार्थ : जिस बिचारीमृगी के सिवाय देह के दूसरा कोई धन नहीं है तथा जो सदा वन में ही भ्रमण करती रहती है और जिसका कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है तथा जिसको स्वभाव से ही भय लगता है तथा जो केवल तृण की ही खाने वाली है और किसी का जो

लेशमात्र भी अपराध नहीं करती ऐसी भी दीन मृगी को केवल मांस टुकड़े के लोभी तथा शिकार के प्रेमी, जो दुष्टपुरूष बिना कारण मारते हैं उनको इस लोक में तथा परलोक में नाना प्रकार के विरूद्ध कार्यों का सामना करना पड़ता है अर्थात् इस लोक में तों वे दुष्ट पुरूष रोग शोक आदि दु:खों का अनुभव करते हैं तथा परलोक में उनको नरक जाना पड़ता है॥२५॥

शिकार में आनन्द मानना अत्यन्त निन्दनीय

तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे,
भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो य: स लोक: ।
कथमिह मृगयाप्तानन्दमुत्खातशस्त्रो,
मृगमकृतविकारं ज्ञातदु:खोऽपि हन्ति ॥26॥
तन में किञ्चित् कीड़ा काटे, आँसू आवें व्याकुल हो ।
दु:ख जाने पर खुश होकर, पशुघात करें तो अचरज हो ॥

अन्वयार्थ : आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मनुष्य शरीर से किसी प्रकार कीड़ी आदि के संबन्ध हो जाने से ही अधीर होकर जहां तहां देखने लग जाता है (अर्थात् उसको वह चिंउटी आदि का संबन्ध ही पीड़ा का पैदा करने वाला हो जाता है) तथा जो दु:ख का भली भांति जानने वाला है वह मनुष्य भी शिकार में आनन्द मानकर निरपराध दीनमृग को हथियार उठाकर मारता है? यह बड़ा आश्चर्य है।

चोरी व्यसन का निषेध

यो येनैव हत: स हन्ति बहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चियतो,
नूनं वञ्चयते स तानपि भृशं जन्मान्तरेऽप्यत्र च ।
स्त्रीवालादिजनादपि स्फुटमिदं शास्त्रादपि श्रूयते,
नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोका: कुतो मुह्यते ॥27॥
जो जिसको मारे वह उससे, मारा जाता बारम्बार ।
जो जिसको ठगता उससे ही, ठगा जाए वह बारम्बार ॥
शास्त्रों से यह बात जानते, किन्तु बड़ा आश्चर्य अरे! ।
मूढ़ जगत् यह अन्यजनों को, सदा ठगे या प्राण हरे ॥

अन्वयार्थ : स्त्री बालक आदि से तथा शास्त्र से जब यह बात भलीभांति मालूम है कि जो प्राणी इस जन्म में एक बार भी दूसरे प्राणी को मारता है वह दूसरे जन्म में उस मरे हुवे प्राणी से अनन्त बार मारा जाता है तथाा जो मनुष्य इस जन्म में एक बार भी दूसरे प्राणी को ठगता है वह दूसरे जन्म में अनन्तबार उसी पूर्वभव में ठगे हुवे प्राणी से ठगाया जाता है फिर भी हे लोक तू दूसरे के ठगने में तथा मारने में छोड़ने में रात-दिन लगा रहता है यह बड़े आश्चर्य की बात है इसलिए भव्य जीवों को चाहिये कि वे ऐसे अनर्थक करने वाले दूसरे के मारने ठगने में अपने चित्तको न लगावे॥२७॥

दूसरे को ठगना भी उसकी हिंसा करने के समान

अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरनैर्ये वञ्चयन्ते परान्-
नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरत: पापिव्रजादन्यत: ।
प्राणा: प्राणिषु तन्निवन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने,
यावान् दु:खभरो नरे न मरणे तावानिह प्रायश: ॥28॥
जो नर छल-प्रपंच आदि से, सदा दूसरों को ठगते ।
अन्य पापियों से भी पहले, वे ही नरकों में जाते ॥
प्राणों में धन-प्राण मुख्य है, वही नष्ट जब हो जाता ।

अरे! मृत्यु के दु:ख से ज्यादा, दु:ख धन जाने पर होता ॥

अन्वयार्थ : जो दुष्टमनुष्य नाना प्रकार के छल कपट दगाबाजी से दूसरे मनुष्यों को धन आदि के लिये ठगते हैं उनको दूसरे पापीजनों से पहिले ही नरक जाना पड़ता है क्योंकि (धनं वै प्राणा:) इस नीति के अनुसार मनुष्यों के धन ही प्राण हैं, यदि किसी रीति से उनका धन नष्ट हो जावे तो उनको इतना प्रबल दु:ख होता है कि जितना उनको मरते समय भी नहीं होता इसलिये प्राणियों को चाहिये कि वे प्राणस्वरूप दूसरे के धन को कदापि हरण न करे तथा न हरण करने का प्रयत्न ही करे॥२८॥ परस्त्री सेवन में क्या—२ हानि है इस बात को आचार्य दो श्लोकों में दिखाते हैं।

पर-स्त्री-सेवन व्यसन का निषेध

चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशोऽतिदाहभ्रम-
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदु:खमरणान्येतान्यहो आसताम् ।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहतमतेस्तद्भूरिदु:खं चिरं,
श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात् ॥29॥
चिन्ता व्याकुलता भय एवं, बुद्धि-भ्रष्ट भ्रम देहाताप ।
क्षुधा-तृषा अरु जन्म-मरण, रोगादि दु:ख देते बहु ताप ॥
इससे अधिक दु:ख चिर भोगे, जो करता परनारी-संग ।
नरकों में फिर वह करता है, तप्त लौह-वपु आलिंगन ॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य परस्त्री के सेवन करने वाले हैं उनको इसी लोक में जो चिंता, व्याकुलता, भय, द्वेष, बुद्धि का भ्रष्टपना, शरीर का दाह, भूख, प्यास,रोग, जन्ममरण आदिक दु:ख होते हैं। वे कोई अधिक दु:ख नहीं किन्तु जिस समय उन परस्त्रीसेवी मनुष्यों को नरक में जाना पड़ता है तथा वहां पर जब उनको परस्त्री की जगह लोह की पुतली से आलिंगन करना पड़ता है उस समय उनको अधिक दु:ख होता है।

स्वप्न में भी परस्त्री-सेवन को धिक्कार!

धिक्तं पौरूषमासतामनुचितास्ताबुद्धयस्तेगुणा,
मा भून्मित्रसहायसम्पदपि सा तज्जन्म यातु क्षयम् ।
लोकानामिह येषु सत्सु भवति व्यामोहमुद्रांकितं,
स्वेप्नेऽपि स्थितिलङ्घनात्परधनस्त्रीषु प्रसक्तं मन: ॥30॥
मोही होकर जो प्राणी, करते मर्यादा उल्लंघन ।
स्वप्न मात्र भी पर-नारी, परधन में रमता जिनका मन ॥
दूर रहे ऐसी कुबुद्धि अरु, उस पौरुष को है धिक्कार ।
ऐसे गुण-सम्पत्ति नहिं होवे, नहीं मित्रजन का सहकार ॥

अन्वयार्थ : जिन पौरूष आदि के होते सन्ते अपनी स्थिति को उल्लंघन कर मोह से स्वप्न में भी परस्त्री तथा पर धन में मनुष्यों का मन आसक्त हो जावे ऐसे उस पौरूष के लिये धिक्कार हो तथा वह अनुचित बुद्धि भी दूर रहो तथा वे गुण भी नहीं चाहिये और ऐसी मित्रों की सहायता तथा संपत्ति की भी आवश्यकता नहीं।

जुआ आदि खेलने से नष्ट होने वालों के उदाहरण

द्यूताद्धर्मसुत: पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दना:,
चारु: कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृप: ।
चौर्यत्वांच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठात्,

एकैकव्यसनोद्धता इति जना: सर्वैर्नं को नश्यति ॥31॥
जुआ मांस अरु मद्य-पान से, धर्मराज बक यदुनन्दन ।
मृग-क्रीड़ा से ब्रह्मदत्त नृप, चारुदत्त वेश्या-सेवन ॥
चोरी से शिवभूति पुरोहित, पर-नारी से रावण नष्ट ।
एक व्यसन-सेवन से होते, सब से नहीं कौन-सा कष्ट? ॥
अन्वयार्थ : जूआ से तो युधिष्ठिरनामक राजा राज्य से भ्रष्ट हुए तथा उनको नाना प्रकार के दु:ख उठाने पड़े तथा मांस भक्षण से वक नाम का राजा राज्य से भ्रष्ट हुआ तथा अंत में नरक गया और मद्य पीने से यदुवंशी राजा के पुत्र नष्ट हुवे तथा वेश्याव्यसन के सेवन से चारूदत्त सेठि दरिद्रावस्था को प्राप्त हुवे तथा और भी नाना प्रकार के दु;खों का उनको सामना करना पड़ा और शिकार की लोलुपता से ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज्य से भ्रष्ट हुवा तथा उसे नरक जाना पड़ा। तथा चोरी व्यसन से सत्यघोषनामक पुरोहित गोबर खाना सर्वधनहरण हो जाना आदि नाना प्रकार के दु:खों को सहनकर अंत में मल्ल की मुष्टि से मरकर नरक को गया। तथा परस्त्री सेवन से रावण को अनेक दु:ख भोगने पड़े तथा मरकर नरक गया आचार्य कहते हैं कि एक—२ व्यसन के सेवन से जब इन मनुष्यों की ऐसी बुरी दशा हुई तथा ये नष्ट हुवे तब जो मनुष्य सातों व्यसनों का सेवन करने वाला है वह क्यों नहीं नष्ट होगा ? इसलिये भव्यजीवों को चाहिये कि वे किसी भी व्यसन के फन्दे में न पड़े॥३१॥

सप्त व्यसनों के अलावा अन्य व्यसन

दूसरे को ठगना भी उसकी हिंसा करने के समान
क्षुद्र-बुद्धि से श्रेष्ठ मार्ग को, तज कुमार्ग में करें गमन ।
यह प्रवृत्ति भी व्यसन जानिये, मात्र नहीं हैं सप्त व्यसन ॥
अन्वयार्थ : आचार्य महाराज और भी उपदेश देते हैं कि जिन व्यसनों का ऊपर कथन किया गया है वे ही व्यसन हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये किन्तु और भी व्यसन हैं वे यही हैं अल्पबुद्धी मिथ्यादृष्टियों की श्रेष्ठ मार्ग को छोड़कर निकृष्ट मार्ग में प्रवृत्ति हो जाना इसलिये जीवों को चाहिये कि वे व्यसनों की रक्षा के लिये निकृष्ट मार्गों में प्रवृत्ति न करें॥३२॥

व्यसन ही प्राणियों के शत्रु

(शार्दूलविक्रीडित)
सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथाः स्वर्गापवर्गार्गलाः
वज्राणि व्रतपर्वतेषु विषमाः संसारिणां शत्रवः ।
प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेष्वेतेषु सद्धीधनैः
कर्तव्या न मतिर्मनागपि हितं वाञ्छद्भिरत्रात्मनः ॥33॥
सभी व्यसन हैं दुर्गति पथ, अरु स्वर्ग-मोक्ष के अवरोधक ।
परम शत्रु हैं सब प्राणी के, महावज्र हैं व्रत-पर्वत ॥
पहले तो ये मधुर लगें पर, महाकटुक है इनका अन्त ।
अत: न किञ्चित् सेवें इनको, आत्म-हितैषी सत् धीमन्त ॥
अन्वयार्थ : जिन मनुष्यों की बुद्धि निर्मल है तथा जो अपनी आत्मा का हित चाहते हैं उनको कदापि व्यसनों की ओर नहीं झुकना चाहिये क्योंकि ये समस्तव्यसन दुर्गति को ले जाने वाले हैं तथा स्वर्ग मोक्ष के प्रतिबंधक हैं और समस्तव्रतों के नाश करने वाले हैं तथा प्राणियों के ये परम शत्रु हैं तथा प्रारंभ में मधुर होने पर भी अंत में कटुक है इसलिये इनसे स्वप्न में भी हित की आशा नहीं होती॥३३॥

व्यसनी पुरुषों की संगति का निषेध

(वसंततिलका)

मिथ्याद्रशां विसद्रशां च पथच्युतानां
मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च ।
संगं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां
गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥34॥
श्रेष्ठ मार्ग पर चलना हो तो, करो श्रेष्ठ पुरुषों का संग ।
मिथ्यादृष्टि मार्गभ्रष्ट, व्यसनी दुष्टों का तजो कुसंग ॥
अन्वयार्थ : हे भव्यजीवो यदि तुम उत्तममार्ग में जाने के लिये चाहते हो तो तुम कदापि मिथ्यादृष्टि विपरीत बुद्धि मार्गभ्रष्ट छली व्यसनी दुष्टजीवों के साथ संबंध मत करो यदि तुमको संबंध ही करना है तो उत्तम मनुष्यों के साथ ही संबंध करो।

दुष्ट पुरुषों के मिष्ट वचनों से सावधान!

(वसंततिलका)
स्निग्धैरपि व्रजत मा सह संगमेभिः
क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम् ।
स्नेहो ऽपि संगतिकृतः खलताश्रितानां
लोकस्य पातयति निश्चितमश्रु नेत्रात् ॥35॥
मृदुभाषी हो तो भी दुष्टों से न कभी रखना सम्बन्ध ।
सरसों तेल लगे किञ्चित् भी, तो नहिं होते आँसू बन्द ॥
अन्वयार्थ : यह नियम है कि दुष्ट पुरुष, जब अपना काम निकालना चाहते हैं, तब मीठे वचनों से ही निकालते हैं; किन्तु आचार्य इस बात का उपदेश देते हैं कि दुष्ट पुरुष, चाहे जैसे सरल तथा मिष्टवादी क्यों न हों? लेकिन उनके साथ सज्जनों को कदापि सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए क्योंकि हम इस बात को प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब सरसों खलरूप में परिणत हो जाती हैं, उस समय उससे निकला हुआ तेल, आँखों में लगते ही मनुष्यों को अश्रुपात होता है ।

कलिकाल में प्राय: सज्जनों का अभाव

(शिखरिणी)
कलावेकः साधुर्भवति कथमप्यत्र भुवने
स चाघ्रातः क्षुद्रैः कथमकरुणैर्जीवति चिरम् ।
अतिग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चञ्चुचरतां
बकोटानामाग्रे तरलशफ री गच्छति कियत् ॥36॥
कलिकाल में इस दुनिया में, कहीं कोई साधु होता ।
वह भी दुष्टों के आघातों से, चिरजीवी नहिं होता ॥
ग्रीष्म ऋतु में सूखे सर में, चोंच हिलाते बगुलों से ।
चञ्चल मछली कहाँ जाए वह, कैसे बच सकती उनसे? ॥
अन्वयार्थ : जिस समय ग्रीष्म ॠतु में तालाबों का पानी सूख जाता है, उस समय पानी के अभाव में ही बेचारी मछलियाँ मर जाती हैं । यदि दैवयोग से दस-पाँच बची भी रहें तो लम्बीचोंचों के धारी बगुले बात ही बात में उनको गटक जाते हैं; इसलिए ग्रीष्म ॠतु में मछलियों का नामो-निशान भी दृष्टिगोचर नहीं होता । उसी प्रकार प्रथम तो इस कलिकाल में सज्जन उत्पन्न ही नहीं होते । यदि दैवयोग से कोई उत्पन्न होते हैं तो दयारहित दुष्ट पुरुषों के फन्दे में फँस कर, अधिक समय तक जीवित रह नहीं पाते; इसलिए इस कलिकाल में प्राय: सज्जनों का अभाव ही है ।

दुष्ट पुरुषों का सम्पर्क भी बुरा

(मालिनी)

इह वरमनुभूतं भूरि दारिद्र्यदुःखं
वरमतिविकराले कालवक्त्रे प्रवेशः ।
भवतु वरमितो ऽपि क्लेशजालं विशालं
न च खलजनयोगाज्जीवितं वा धनं वा ॥37॥

निर्धनता या मर जाने का, दु:ख भोगना श्रेष्ठ अरे! ।
अन्य क्लेश भी उत्तम पर, नहिं दुष्ट-संग धन या जीवन ॥

अन्वयार्थ : संसार में दरिद्रता का दुःख भोगना अच्छा है अथवा मर जाना अच्छा है अथवा और भी सांसारिक नाना प्रकार की पीड़ाओं का सहन करना उत्तम है; किन्तु दुष्टजन के साथ जीना तथा दुष्टजन के साथ धन कमाना उत्तम नहीं ।

मुनिधर्म में पंचाचार, दश धर्म, बारह तप, मूलगुण, उत्तरगुण आदि का पालन

(शार्दूलविक्रीडित)

आचारो दशधर्मसंयमतपोमूलोत्तराख्या गुणाः
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः ।
वैराग्यं समयोपबृंमहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतेः ॥38॥

पंचाचार धर्म दश संयम तप अरु मूलोत्तर-गुणखान ।
मिथ्या मोह तथा मद त्यागी, शम-दम-अप्रमाद अरु ध्यान ॥
निर्मल रत्नत्रय वैराग्य, तथा शासन-वर्धक गुणवान ।
मरण-समाधि सुशोभित मुनिधर्म, अक्षय आनन्ददायक जान ॥

अन्वयार्थ : जिस धर्म में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार व वीर्याचार - इस प्रकार पाँच प्रकार के आचार; उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य - इस प्रकार का दश धर्म; बारह प्रकार का संयम, बारह प्रकार का तप, अट्ठाईस प्रकार के मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण, मिथ्यात्व-मोह-मद का त्याग, शम-दम-ध्यान तथा प्रमादरहित स्थिति, वैराग्य, जिनशासन की महिमा के बढ़ाने वाले अनेक गुण, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र स्वरूप निर्मल रत्नत्रय तथा अन्त में समाधि विद्यमान है - ऐसा मुनियों का धर्म, अक्षयपद के आनन्द के लिए है ।

मुनिव्रत-धारण करना, शरीरादि के त्याग में हेतुभूत क्रिया

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं शुद्धं प्रविहाय चिद्गुणमयं भ्रान्त्याणुमात्रेऽपि यत्
संबन्धाय मतिः परे भवति तद्बन्धाय मूढात्मनः ।
तस्मात्त्याज्यमशेषमेव महतामेतच्छरीरादिकं
तत्कालादिविनादियुक्ति त इदं तत्त्यागकर्म व्रतम् ॥39॥

शुद्ध चिदानन्दमय स्वरूप तज, अणुमात्र पर में निज-भ्रान्ति ।
मूढ़जनों की इस कुबुद्धि से, होता मात्र कर्म का बन्ध ॥
इसीलिए देहादि समस्त पदार्थों में ममता है त्याज्य ।
आयुकर्म वश देह रहे तो भी, मुनि होना तन का त्याग ॥

अन्वयार्थ : अपने शुद्ध चैतन्य को छोड़ कर, परमाणु मात्र परपदार्थों में भी चैतन्यगुण के भ्रम से यदि मूढ़ पुरुषों की बुद्धि लग जाए तो

उस बुद्धि से केवल कर्मबन्ध ही होता है; इसलिए सज्जन पुरुषों को शरीर आदि के समस्त पदार्थों का त्याग अवश्य कर देना चाहिए । यदि आयुकर्म के प्रबल होने से शरीरादि का त्याग न हो सके तो शरीरादि के त्याग करने के लिए मुनिव्रत ही धारण करना योग्य है क्योंकि मुनिव्रत धारण करना ही शरीर आदि के त्याग करने में हेतुभूत क्रिया है ।

प्रथम मूलगुणों का धारण, पश्चात् उत्तरगुणों का पालन

(शार्दूलविक्रीडित)

मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः ।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरच्छेदकं
रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं को ऽन्यो रणे बुद्धिमान् ॥40॥

मूलगुणों को छोड़ यत्न करता उत्तरगुण-पालन में ।
पूजादिक वाञ्छक को देते, दण्ड मूलगुण-छेदन में ॥
कौन सुधी रण में शिर-छेदक, के प्रहार से नहीं बचे? ।
अंगुलि-छेदक अल्पप्रहार से, रक्षा करना वह चाहे? ॥

अन्वयार्थ : युद्ध करते समय अनेक प्रकार के प्रहार होते हैं; उनमें कई तो शिर के छेदने वाले होते हैं और कई अंगुलि के अग्र भाग को छेदने वाले होते हैं । यदि कोई पुरुष शिर के छेदने वाले प्रहार को छोड़ कर, अंगुली के अग्र भाग का छेदन करने वाले प्रहार से अपनी रक्षा करे तो जिस प्रकार उसका रक्षा करना व्यर्थ है; उसी प्रकार जो यति, मूलगुणों को छोड़ कर शेष उत्तरगुणों को पालन करने के लिए प्रयत्न करते हैं तथा निरन्तर पूजा आदि को चाहते हैं, उनको आचार्य मूलछेदक दण्ड देते हैं । इसलिए मुनियों को प्रथम मूलगुणों को पालना चाहिए, पीछे उत्तरगुणों का पालन करना चाहिए ।

'आचेलक्य' (नग्नता) मूलगुण का उद्देश्य

(शार्दूलविक्रीडित)

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते
तन्नित्यं शुचि रागहृत् शमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥41॥

वस्त्र मलिन होने पर करना, पड़े जलादिक का आरम्भ ।
फटने पर आकुलता हो, मांगे तो नष्ट अयाचक गुण ॥
यदि कोई ले जाए लँगोटी, तो क्रोधित होवे तत्काल ।
अत: पवित्र राग-वर्जक, दिक्-मण्डल ही है उत्तम वस्त्र ॥

अन्वयार्थ : यदि संयमी वस्त्र रखता है तो उसके मलिन होने पर, उसे धोने के लिए जल आदि का आरम्भ उनको करना पड़ता है तथा यदि संयमी को जल आदि का आरम्भ करना पड़ता है तो उनका संयम ही कहाँ रहा? तथा यदि वह वस्त्र नष्ट हो जाए तो उनके चित्त में व्याकुलता उत्पन्न होती है । उसके लिए यदि वे किसी से प्रार्थना करते हैं तो उनकी अयाचक-वृत्ति छूटती है । यदि वे वस्त्रों को छोड़ कर कौपीन लँगोट ही रखें तो भी उसके खो जाने पर उनको क्रोध पैदा होता है । इसलिए समस्त वस्त्रों को त्याग कर, मुनिगणों को नित्य पवित्र, राग का नाशक, दिशामण्डलरूप ही वस्त्र है - ऐसा समझना चाहिए ।

केशलोंच मूलगुण का उद्देश्य

(शार्दूलविक्रीडित)

काकिन्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैः
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ॥42॥
कौड़ी का भी नहीं परिग्रह, अत: कटा सकते नहिं केश ।
कैंची आदि शस्त्र न रखते, क्योंकि उपजता चित में क्लेश ॥
जटा रखें तो हिंसा होती, अत: अयाचक-वृत्ति रखें ।
वैराग्यादि बढ़ाने हेतु, यति स्वयं कचलोंच करें ॥
अन्वयार्थ : मुनिगण, अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते, जिससे वे दूसरे के द्वारा मुण्डन करा सकें । मुण्डन के लिए छुरा, कैंची आदि शस्त्र भी नहीं रखते क्योंकि उनके रखने से क्रोधादि की उत्पत्ति होती है । वे जटा भी नहीं रख सकते क्योंकि जटाओं में जुएँ आदि अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है? उसे रखने से हिंसा होती है तथा मुण्डन कराने के लिए वे दूसरे से द्रव्य भी नहीं माँग सकते क्योंकि इससे उनकी अयाचक-वृत्ति का परिहार होता है । इसलिए वैराग्य की अतिशय वृद्धि के लिए ही मुनिगण, अपने हाथों से केशों को उपाटते हैं, इसमें अन्य कोई मानादि कारण नहीं है ।

स्थितिभोजन मूलगुण का उद्देश्य

(शार्दूलविक्रीडित)
यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति द्रढता पाण्योश्च संयोजने
भुञ्जे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः ।
काये ऽप्यस्पृहचेतसो ऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनः सन्मतेः
न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके संपद्यते तद्विना ॥43॥
जब तक तन में खड़े-खड़े, आहार-ग्रहण की शक्ति रहे ।
तब तक भोजन करें अन्यथा नहीं, प्रतिज्ञा यति करें ॥
तन ममत्व तज जो समाधि-विधि में अति उत्साहित होते ।
वे यति जाते स्वर्ग अन्यथा, नरकों में स्थिति करते ॥
अन्वयार्थ : जो मुनिगण, अपने शरीर से भी ममत्वरहित हैं, समाधिमरण करने में उत्साही हैं तथा श्रेष्ठ ज्ञान के धारक हैं; उनकी यह कड़ी प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक हमारी खड़े होकर आहार लेने की तथा दोनो हाथों को जोड़ने की शक्ति मौजूद है, तब तक ही हम भोजन करेंगे, नहीं तो कदापि नहीं करेंगे; जिससे उनको स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा नरक में नहीं जाना पड़ता, किन्तु जो इस प्रतिज्ञा से रहित हैं, उनको अवश्य नरक जाना पड़ता है ।

मुनिराज द्वारा ममत्वरहित होने का उपदेश-चिन्तन

(शार्दूलविक्रीडित)
एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेः कारणं
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमानेऽपि च ।
तद्वास्यां हरिचन्दनेऽपि च समः संश्लिष्टतोऽप्यङ्गतो
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुनिः ॥44॥
तप-आराधन करके भी यदि, देह मात्र में हो ममता ।
तो संसार-भ्रमण होता फिर, बाह्य वस्तु की कौन कथा? ॥
अत: देह पर पड़े कुल्हाड़ी, या होवे चन्दन का लेप ।

तो भी निज को निज से निज में, मुनिवर तन से भिन्न लखें ॥

अन्वयार्थ : विस्तीर्ण तप का आराधन करने पर भी यदि अपने एक शरीर में भी 'यह मेरा है' - ऐसा ममत्व हो जाए तो वह ममत्व ही संसार-परिभ्रमण का कारण हो जाता है । तब यदि शरीर से अतिरिक्त धन-धान्य में ममता की जाएगी तो वह ममता क्या न करेगी? - ऐसा जान कर, चाहे कोई उनके शरीर में कुल्हाड़ी मारे, चाहे उनके शरीर में चन्दन का लेप करे तो भी कुल्हाड़ी और चन्दन में समभावी होकर, मुनिगण क्षीर-नीर के समान आत्मा-शरीर का सम्बन्ध होने पर भी स्वयं अपने में, अपने से, अपने को निरन्तर भिन्न देखते हैं ।

शान्तरस के लोलुपी निर्ग्रन्थ मुनियों के समताभाव का स्वरूप

(शिखरिणी)

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहो सौधमथवा ।
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ
स्फुटं निर्ग्रंथानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् ॥45॥
तृण हो अथवा रत्न तथा, रिपु हो या परम मित्र भी हो ।
सुख हो अथवा दुख हो, राजमहल हो या मसान-भू हो ॥
निन्दा हो अथवा स्तुति हो, मरण होय या जीवन हो ।
सबमें समता धारण करते, शान्त चित्त निर्ग्रन्थ अहो! ॥

अन्वयार्थ : जो मुनि, परिग्रह से रहित और शान्तस्वरूप हैं; वे तृण से घृणा भी नहीं करते हैं और रत्न को अच्छा भी नहीं समझते हैं । अपने हित के करने वाले को मित्र नहीं समझते तथा अहित करने वाले को वैरी नहीं समझते हैं । सुख होने पर सुख नहीं मानते हैं तथा दुःख होने पर दुःख नहीं मानते हैं । श्मशान-भूमि को बुरी नहीं कहते हैं तथा राज-मन्दिर को अच्छा नहीं कहते हैं । स्तुति होने पर सन्तुष्ट नहीं होते हैं तथा निन्दा होने पर रुष्ट नहीं होते हैं । इस प्रकार वे जीवन-मरण दोनों को ही समान मानते हैं ।

मुनियों के एकान्तवास में आत्मानन्द का अनुभव लेने की भावना

(मालिनी)

वयमिह निजयूथ,-भ्रष्टसारंगकल्पाः;
परपरिचयभीताः, क्वापि किंचिच्चरामः ।
विजनमधिवसामो न व्रजाम:प्रमाद:;
सुकृतमनुभवामो,यत्र तत्रोपविष्टा ॥46॥
मृगवत् परिजन से च्युत होकर, यत्र-तत्र वन में विचरें ।
फिर से परिचय ना हो जाए - इस भय से एकान्त वसें ॥
होवे नहीं प्रमाद कभी भी, अहो! सदा प्रतिबुद्ध रहें ।
चाहे जहाँ बैठ कर कब हम, निजानन्द रस-पान करें? ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार मृग, अपने समूह से जुदा होकर तथा दूसरों से भयभीत होकर जहाँ-तहाँ विचरता-फिरता है, एकान्त में रहता है, प्रतिसमय प्रतिबुद्ध रहता है, जहाँ-तहाँ बैठ कर आनन्द भोगता है; उसी प्रकार हम भी अपने कुटुम्बियों से जुदे हुए, परन्तु दूसरे गृहस्थों से परिचय न हो जावे, इससे भयभीत होकर, यहाँ-वहाँ विचरते हैं, एकान्तवास में रहते हैं, प्रमादी नहीं होते तथा जहाँ-तहाँ बैठ कर अपने आत्मानन्द का अनुभव करते हैं ।

सुख-दु:ख में हर्ष-विषाद नहीं करने की भावना

(मालिनी)

कति न कति न वारान्, भूपतिर्भूरिभूतिः;
कति न कति न वारानत्र जातोऽस्मि कीटः ।
नियतमिति न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दु:खं;
जगति तरलरूपे, किं मुदा किं शुचा वा ॥47॥
बड़ी बड़ी सम्पति के धारक, भूपति कितनी बार हुए ।
इस जग में हम क्षुद्र कीट भी, जाने कितनी बार हुए ॥
अत: परिणमनशील जगत् में, सुख-दुख सदा नहीं रहते ।
ऐसा निश्चित जान सुधीजन, हर्ष-विषाद नहीं करते ॥
अन्वयार्थ : इस संसार में हम कितनी-कितनी बार तो बड़ी-बड़ी सम्पत्ति के धारी राजा हो चुके हैं और कितनी-कितनी बार इसी संसार में हम क्षुद्र कीड़े भी हो चुके हैं; इसलिए यही मालूम होता है कि चंचलरूप इस संसार में किसी का सुख और दु:ख निश्चित नहीं है, अत: सुख और दु:ख के होने पर हर्ष और विषाद कदापि नहीं करना चाहिए ।

उक्त सम्यक् भावनाओं के द्वारा संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष की भावना

(पृथ्वी)
प्रतिक्षणमिदं हृदि, स्थितमतिप्रशान्तात्मनो;
मुनेर्भवति संवरः, परमशुद्धिहेतुर्ध्रुवम् ।
रजः खलु पुरातनं, गलति नो नवं ढौकते;
ततोऽतिनिकटं भवेदमृतधाम दु:खोज्झितम् ॥48॥
परम शान्त स्थिरमति मुनि, प्रतिक्षण करते हैं उक्त विचार ।
इससे परम शुद्धि उत्पादक, होता परिणति में संवर ॥
आत्म-प्रदेशों में पहले से, बँधे कर्म खिरने लगते ।
नये न आते दु:खरहित, अमृतमय मुक्ति निकट वसे ॥
अन्वयार्थ : परम शान्त मुद्रा के धारी मुनियों के द्वारा इस प्रकार भावना करने से परम शुद्धि का करनेवाला संवर होता है तथा उसके होने पर जो कुछ प्राचीन कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं, वे गल जाते हैं, नवीन कर्मों का आगमन भी बन्द हो जाता है । इस प्रकार उन मुनियों के लिए समस्त प्रकार के दुःखों से रहित मुक्ति भी सर्वथा समीप हो जाती है ।

उद्यमी महात्मा महामुनियों के लिए संसाररूपी समुद्र कुछ भी नहीं

(शिखरिणी)
प्रबोधो नीरन्ध्रं, प्रवहणममन्दं पृथुतप:;
सुवायुर्यैः प्राप्तो, गुरुगणसहायाः प्रणयिनः ।
कियन्मात्रस्तेषां, भवजलधिरेषोऽस्य च परः;
कियद्दूरे पार:, स्फुरति महतामुद्यमयुताम् ॥49॥
सम्यग्ज्ञान जहाज निरन्ध्र, अमन्द पवन तपरूपी हो ।
बड़े-बड़े गुरुवर स्नेही जन, जिनके सदा सहायी हों ॥
ऐसे उद्यमशील महामुनियों को भवदधि कितना है? ।
चुल्लुभर रह गया अहो! बस, निकट किनारा आया है ॥
अन्वयार्थ : जिन मुनियों के पास छिद्ररहित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाज उपस्थित है, अमन्द विस्तीर्ण तपरूपी पवन भी जिनके पास है तथा स्नेही बड़े-बड़े गुरु भी जिनके सहायी हैं; उन उद्यमी महात्मा मुनियों के लिए यह संसाररूपी समुद्र कुछ भी नहीं है तथा इस संसाररूपी

समुद्र का पार भी उनके समीप में ही है ।

भो मुनिगण! शुद्धात्मा का अनुभव करो और मोह को कृश करो

(वसन्ततिलका)
अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु, लोकभक्त्या;
मोहं कृशीकुरुत किं, वपुषा कृशेन ।
एतद्द्वयं यदि न किं, बहुभिर्नियोगैः;
क्लेशैश्च किं किमपरैः, प्रचुरैस्तपोभिः ॥50॥
हे मुनि! अन्तर्दृष्टि करो, क्या लाभ लोकरंजन में है? ।
करो मोह कृश क्योंकि मात्र तन-कृश करने से क्या फल है ?
यदि ये दोनों कार्य नहीं तो, संयम-नियम व्यर्थ जानो ।
काय-क्लेश अरु प्रचुर तपस्या, करने से क्या लाभ कहो ?

अन्वयार्थ : भो मुनिगण! आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करो, लोक के रिझावने के लिए प्रयत्न मत करो, मोह को कृश करो, शरीर को कृश करने में कुछ भी नहीं रखा है क्योंकि जब तक तुम इन दो बातों को न करोगे, तब तक तुम्हारा यम-नियम करना भी व्यर्थ है, तुम्हारा क्लेश सहना भी बिना प्रयोजन का है और तुम्हारे द्वारा नाना प्रकार के किये हुए तप भी व्यर्थ हैं ।

कषायों को जीत कर पापों के नाश हेतु स्वस्थ होने का उपदेश

(वंशस्थ)
जुगुप्सते संसृतिमत्र मायया;
तितिक्षते प्राप्तपरीषहानपि ।
न चेन्मुनिर्दृष्टकषायनिग्रहात्;
चिकित्सति स्वान्तमघप्रशान्तये ॥51॥
जग की निन्दा करें कपट से, और परीषह-सहन करें ।
पाप-शान्ति के लिए यदि मुनि, नहीं कषायों को जीतें॥

अन्वयार्थ : जो मुनि, आत्मा का सर्वथा अहित करने वाली दुष्ट कषायों को जीत कर, पापों के नाश के लिए अपने चित्त को स्वस्थ बनाना नहीं चाहता; वह मुनि, समस्त लोक के सामने कपट से संसार की निन्दा करता है तथा कपट से ही वह क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों को सहन करता है ।

धन के आश्रय से सच्चे मार्ग का नाश

(शार्दूलविक्रीडित)
हिंसा प्राणिषु कल्मषं भवति सा, प्रारम्भतः सोऽर्थतः;
तस्मादेव भयादयोऽपि नितरां, दीर्घा ततः संसृतिः ।
तत्रासातमशेषमर्थत इदं, मत्वेति यस्त्यक्तवान्;
मुक्त्यर्थी पुनरर्थाश्रितवता, तेनाहत: सत्पथ:॥52॥
पापोत्पादक हिंसा, आरम्भ से होती, धन से आरम्भ ।
धन से हो उत्पन्न भयादिक, जिनसे होता दीर्घ-भ्रमण ॥
जग के घोर दु:ख सब धन से, यही जान जो करते त्याग ।
वे ही मोक्षार्थी हैं किन्तु, धनाश्रित करते सत्पथ नाश ॥

अन्वयार्थ : प्राणियों को मारने से हिंसा पाप होता है; वह हिंसा, आरम्भ से होती है और वह आरम्भ, धन के होने पर होता है । धन के होने पर ही भय आदि की उत्पत्ति होती है, भय आदि के होने से दीर्घ संसार होता है तथा दीर्घ संसार से अनन्त दुःख होते हैं; इस प्रकार सब बातें धन से होती हैं - इस बात को जान कर, मोक्ष के अभिलाषी मुनियों ने धन का त्याग कर दिया है, किन्तु जिसने धन का आश्रय लिया है, उसने सच्चे मार्ग का नाश ही कर दिया है - ऐसा समझना चाहिए ।

कलिकाल का ही माहात्म्य

(शार्दूलविक्रिडीत)
दुर्ध्यानार्थ वद्यकारणमहो, निर्ग्रन्थताहानये;
शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिनां, लज्जाकरं स्वीकृतम् ।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं, स्वर्णादिकं साम्प्रतं;
निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां, प्राय: प्रविष्ट: कलि: ॥53॥
शैय्या हेतु गहें मुनि तृण भी, तो उससे होता दुर्ध्यान ।
पाप और लज्जा का कारण, अपरिग्रह की होती हानि॥
तो गृहस्थ के योग्य धनादिक, कैसे रख सकते निर्ग्रन्थ? ।
किन्तु रखें तो जानो यह है, कलिकाल का ही माहात्म्य॥
अन्वयार्थ : निर्ग्रन्थ मुनि, शय्या के लिए यदि घास आदि को भी स्वीकार कर लें तो उनको इसे स्वीकार करना भी खोटे ध्यान के लिए ही होता है, यही निन्दा का करने वाला, निर्ग्रन्थता में हानि पहुँचाने वाला तथा लज्जा को करने वाला भी होता है; अतः वे निर्ग्रन्थ यतीश्वर, गृहस्थ के योग्य सुवर्ण आदि को कैसे रख सकते हैं?

क्रोधादि से कभी-कभी बन्ध, जबकि परिग्रह से निरन्तर बन्ध

(आर्या)
कादाचित्को बन्धः, क्रोधादेः कर्मणः सदा सङ्गात् ।
नातः क्वापि कदाचित्, परिग्रहग्रहवतां सिद्धिः ॥54॥
क्रोधादिक से बन्ध कदाचित्, प्रतिक्षण बन्ध परिग्रह से ।
अत: परिग्रहधारी मुनि नहिं, कभी कहीं भी सिद्धि लहें॥
अन्वयार्थ : क्रोधादि कर्मों के द्वारा तो प्राणियों को कर्मों का बन्ध कभी-कभी ही होता है, किन्तु परिग्रह से प्रतिक्षण बन्ध होता रहता है; अतएव परिग्रहधारियों को किसी काल में तथा किसी प्रदेश में भी सिद्धि नहीं होती, इसलिए भव्य जीवों को कदापि धन-धान्य से ममता नहीं रखनी चाहिए ।

मोक्षाभिलाषी मुनियों को मोक्ष की अभिलाषा भी उचित नहीं

(इन्द्रवजा)
मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो;
विशेषतो मोक्षनिषेधकारी ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षु:;
भवेत् किमन्यत्र कृताभिलाषः॥55॥
अरे! मोह से शिव-वाञ्छा भी, दोषरूप जो बन्ध करे ।
अत: निजानन्द लीन मुमुक्षु, कैसे पर की चाह करे?॥
अन्वयार्थ : स्त्री-पुत्र आदि की अभिलाषा करना तो दूर रहो, यदि मोक्ष के लिए भी अभिलाषा की जाए तो वह दोषस्वरूप समझी जाती

है, वह भी मोक्ष की निषेध करने वाली ही होती है; इसलिए जो मुनि, अपनी आत्मा के रस में लीन हैं, मोक्ष के अभिलाषी हैं, वे स्त्री-पुत्र आदि में अभिलाषा कैसे कर सकते हैं ?

परिग्रहधारियों को मुक्तिप्राप्ति अग्नि को शीतल करने के समान

(पृथ्वी)

परिग्रहवतां शिवं, यदि तदानलः शीतलो;
यदीन्द्रियसुखं सुखं, तदिह कालकुटः सुधा ।
स्थिरा यदि तनुस्तदा, स्थिरतरं तडिदम्बरं;
भवेऽत्र रमणीयता, यदि तदीन्द्रजालेऽपि च॥56॥

मुक्ति लहें यदि परिग्रहधारी, तो अग्नि भी शीतल हो ।
इन्द्रिय-सुख यदि सच्चा सुख हो, तो विष को भी सुधा कहो॥
देह यदि स्थिर मानो तो, नभ-विद्युत् भी स्थिर हो ।
यदि जग को रमणीय कहो, तो इन्द्रजाल रमणीय कहो॥

अन्वयार्थ : यदि परिग्रहधारियों को भी मुक्ति कही जाएगी तो अग्नि को भी शीतल कहना पड़ेगा । यदि इन्द्रियों से पैदा हुए सुख को भी सुख कहोगे तो विष को भी अमृत मानना पड़ेगा । यदि शरीर को स्थिर कहोगे तो आकाश में बिजली को भी स्थिर कहना पड़ेगा तथा संसार में रमणीयता कहोगे तो इन्द्रजाल में भी रमणीयता कहनी पड़ेगी ।

कामदेवरूपी प्रबल योद्धा को जीतने पर कषायें स्वयमेव परास्त

(मालिनी)

स्मरमपि हृदि येषां, ध्यानवह्निप्रदीप्ते;
सकलभुवनमल्लं, दह्यमानं विलोक्य ।
कृतभिय इव नष्टा:, ते कषाया न तस्मिन्-
पुनरपि हि समीयुः, साधवस्ते जयन्ति ॥57॥

ध्यान-अग्नि में त्रिभुवनजयी, काम जलता देख अहो! ।
भय से भगी कषायें पुन: न, जीवित हों वे मुनि जयवन्त॥

अन्वयार्थ : वे यतीश्वर, सदा इस लोक में जयवन्त हैं कि जिन यतीश्वरों के हदय में ध्यानरूपी अग्नि के जाज्वल्यमान होने पर, तीनों लोक को जीतने वाले कामदेवरूपी प्रबल योद्धा को जलते हुए देख कर, कषायें भय से ही मानो भाग गईं तथा ऐसी भागीं कि फिर न आ सकीं ।

कामदेव की स्त्री को विधवा करनेवाले शान्त मुद्रावन्त गुरु

(उपेन्द्रवज्रा)

अनर्घ्य - रत्नत्रय-सम्पदोऽपि;
निर्ग्रन्थतायाः पदमद्वितीयम् ।
जयन्ति शान्ता: स्मरवैरिवध्वा:;
वैधव्यदास्ते गुरवो नमस्या: ॥58॥

रत्नत्रय अनमोल सम्पदा, तो भी पद निर्ग्रन्थ धरें ।
शान्त रहें पर रति को विधवा, किया सुगुरु को नमन करें ॥

अन्वयार्थ : अमूल्य रत्नत्रयरूपी सम्पत्ति के धारी होकर भी जो निर्ग्रन्थ पद के धारक हैं, शान्त मुद्रा के धारी होने पर भी जो कामदेवरूपी वैरी की स्त्री को विधवा करने वाले हैं - ऐसे वे उत्तम गुरु सदा नमस्कार करने योग्य हैं ।

स्व-परोपकारक श्री आचार्य परमेष्ठी की स्तुति

(शार्दूलविक्रीडित)

ये स्वाचारमपारसौख्यसुतरो:, बीजं परं पञ्चधा;
सद्बोधाः स्वयमाचरन्ति च परानाचारयन्त्येव च ।
ग्रन्थग्रन्थिविमुक्तमुक्तिपदवीं, प्राप्ताश्च यैः प्रापिताः;
ते रत्नत्रयधारिणः शिवसुखं, कुर्वन्तु नः सूरयः ॥59॥
परम-सौख्य-तरु-बीजभूत जो, पञ्चाचार स्वयं पालें ।
शिष्यों से आचरण कराएँ, अरु सम्यक् श्रुत को धारें ॥
ग्रन्थ-ग्रन्थि से रहित मुक्ति-पद, प्राप्त करें अरु करवाएँ ।
रत्नत्रयधारी आचार्य, हमें भी मुक्ति-प्रदान करें ॥

अन्वयार्थ : जो सद्ज्ञान के धारक आचार्य, अपार सौख्यरूपी वृक्ष को उत्पन्न करने वाले पाँच प्रकार के आचार का स्वयं आचरण करते हैं तथा दूसरों को आचरण कराते हैं; जहाँ पर किसी प्रकार के परिग्रह का लेश नहीं - ऐसी मुक्ति में जो स्वयं जाते हैं तथा दूसरों को भी पहुंचाते हैं - ऐसे निर्मल रत्नत्रय के धारी आचार्यवर हमारे लिए मोक्ष सुख प्रदान करें ।

आचार्य परमेष्ठी द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने की भावना

(वसन्ततिलका)

भ्रान्तिप्रदेषु बहुवर्त्मसु जन्मकक्षे;
पन्थानमेकममृतस्य परं नयन्ति ।
ये लोकमुन्नतधियः, प्रणमामि तेभ्यः;
तेनाप्यहं जिगमिषुर्गुरुनायकेभ्यः॥60॥
भ्रान्तिरूप उन्मार्गों में से, जो शिवपथ में ले जाते ।
श्रेष्ठ ज्ञानधारी गुरु को, शिवपुर-वाञ्छक हम नमन करें ॥

अन्वयार्थ : जो गुरु, इस संसार में भ्रम उत्पन्न करने वाले अनेक मार्गों में से लोक को सुख देने वाले एक मोक्षमार्ग में ले जाते हैं तथा स्वयं उच्च ज्ञान के धारक हैं - ऐसे उन श्रेष्ठ गुरुओं को, उसी मार्ग में जाने की इच्छा करने वाला मैं मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ ।

उपाध्याय परमेष्ठी की स्तुति

(शार्दूलविक्रीडित)

शिष्याणामपहाय मोहपटलं, कालेन दीर्घेण यत्;
जातं स्यात्पदलाञ्छितोज्ज्वलवचो,-दिव्याञ्जनेन स्फुट् ।
ये कुर्वन्ति दृशं परामतितरां, सर्वावलोकक्षमां;
लोके कारणमन्तरेण भिषजा:, ते पान्तु नोऽध्यापकाः ॥61॥
जो अनादि से लगा हुआ है, शिष्यगणों का मोह-पटल ।
स्याद्वाद दिव्यांजन से जो, उनकी दृष्टि हो निर्मल ॥
जग के सब पदार्थ-दर्शन की, क्षमता भी उत्पन्न करें ।
बिन कारण जो वैद्य जगत् के, उपाध्याय मम त्राण करें ॥

अन्वयार्थ : जो उपाध्याय परमेष्ठी, स्याद्वाद से अविरोधी अपने उपदेशरूपी दिव्य अंजन से अनादिकाल से लगे हुए मोह के परदे को हटा कर, शिष्यों की दृष्टि को अत्यन्त निर्मल तथा समस्त पदार्थों के देखने में समर्थ बनाते हैं - ऐसे वे बिना कारण के ही निःस्वार्थ वैद्य उपाध्याय परमेष्ठी! इस संसार में मेरी रक्षा करें ।

गृहरूपी बन्धन एवं मोहजन्य विकल्पों से मुक्त, साधु परमेष्ठी की स्तुति

उन्मुच्यालयबन्धनादपि दृढोत्कायेऽपि वीतस्पृहा;
चित्ते मोहविकल्पजालमपि यद्,-दुर्भेद्यमन्तस्तमः ।
भेदायास्य हि साधयन्ति तदहो, ज्योतिर्जितार्कप्रभं;
ये सद्बोधमयं भवन्तु भवतां, ते साधवः श्रेयसे ॥62॥
मोहजन्य दुर्भेद्य विकल्पों, का समूह जो अन्तर में ।
उसे भेदने हेतु ज्ञान की, ज्योति निरन्तर सिद्ध करें ॥
दृढ़ गृह-बन्धन तोड़ मुनीश्वर, तन से भी ममत्व त्यागें ।
निज-कल्याण हेतु हम उन गुरु-चरणों में नित नमन करें॥

अन्वयार्थ : जो साधु परमेष्ठी, अत्यन्त कठिन गृहरूपी बन्धन से अपने को छुड़ा कर तथा अपने शरीर से भी इच्छारहित होकर कठिनता से भेदने योग्य मोह से पैदा हुए विकल्पों के समूहरूपी भीतरी अन्धकार को नाश करने के लिए, सूर्य की प्रभा को भी नीची करने वाली सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति को निरन्तर सिद्ध करते रहते हैं - ऐसे उन साधु परमेष्ठी के लिए हमारा नमस्कार है अर्थात् वे हमारा कल्याण करें ।

सम्यग्दर्शन के धारक परिषहजयी मुनियों की महिमा

(वसन्ततिलका)
वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोक;
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।
बोधप्रदीप-हत-मोह-महान्धकाराः;
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेतुः ॥63॥
जिसकी वज्रपात ध्वनि से, भयभीत जगत् निज मार्ग तजे ।
किन्तु प्रशम-रस-लीन मुनीश्वर, ध्यान योग से नहीं डिगें ॥
सम्यग्ज्ञान दीप से जो मुनि, मोह-तिमिर का नाश करें ।
अन्य परीषह से वे सम्यक्, दृगधारी क्या विचलित हों? ॥

अन्वयार्थ : जिस वज्र के शब्द के भय से चकित होकर समस्त लोक, मार्ग को छोड़ देते हैं - ऐसे वज्र के गिरने पर भी जो शान्तात्मा मुनि, ध्यान से किञ्चित् भी विचलित नहीं होते, जिन्होंने सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक से समस्त मोहान्धकार का नाश कर दिया है और जो सम्यग्दर्शन के धारक हैं; वे मुनि, परीषहों को जीतने में कब चलायमान हो सकते हैं?

ग्रीष्मॠतु में पर्वत के शिखर पर स्थित मुनीश्वरों की साधना

(शार्दूलविक्रीडित)
प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि लसत्, चण्डानिलोद्यद्दिशि;
स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि, प्रक्षीणनद्यम्भसि ।
ग्रीष्मे ये गुरुमेदिनीध्रशिरसि, ज्योतिर्निधायोरसि;
ध्वान्तध्वंसकरं वसन्ति मुनय:, ते सन्तु नः श्रेयसे ॥64॥
तीक्ष्ण तेजयुत सूर्य किरण हो, चहुँ दिशि उष्ण पवन झकझोर ।
गरम रेत भी तीव्र तापमय, सूख गया नदियों में नीर ॥
ग्रीष्मऋतु में गिरि-शिखरों पर, ज्ञानज्योति निज उर में धार ।
मोह-तिमिर का नाश करें, उन गुरु-चरणों में, हो कल्याण ॥

अन्वयार्थ : जिस ग्रीष्मॠतु में अत्यन्त तीक्ष्ण धूप पड़ती हैं, चारों दिशाओं में भयंकर लू चलती है, जिस ॠतु में अत्यन्त सन्ताप को देने

वाली गरम रेत फैल जाती है तथा नदियों का पानी सूख जाता है - ऐसी भयंकर ग्रीष्मऋ्तु में जो मुनि, समस्त अन्धकार को नाश करने वाली सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति को अपने मन में रख कर, अत्यन्त ऊँचे पहाड़ की चोटी पर निवास करते हैं, उन मुनियों के लिए हमारा नमस्कार हो अर्थात् वे हमारा कल्याण करें ।

वर्षाऋ्तु में वृक्षों के नीचे स्थित मुनीश्वरों की साधना

ते वः पान्तु मुमुक्षवः कृतरवै,-रब्दैरतिश्यामलैः;
शश्वद्वारिवमद्भिरब्धिविषय, - क्षारत्वदोषादिव ।
काले मज्जदिले पतद्गिरिकुले, धावद्धुनीसंकुले;
झंझावातविसंस्थुले तरुतले, तिष्ठन्ति ये साधव: ॥65॥
अतिश्यामल मेघों की गरजन और बरसती मूसलधार ।
गिरें पाषाण, धरा धसके अरु, नदियों में हो वेग अपार ॥
पवन वेग युत जलवर्षा में, तरु-तल तिष्ठें जो तप-धार ।
रक्षा करें हमारी गुरुवर, चरणों में हो नमन हजार ॥

अन्वयार्थ : जिस वर्षाकाल में काले-काले मेघ भयंकर शब्द करते हैं, समुद्र के क्षार-दोष से ही मानों जो जहाँ-तहाँ खारा जल वर्षाते हैं, जिस काल में जमीन नीचे को धसक जाती है, पर्वतों से पत्थर गिरते हैं, जल से भरी हुई नदियाँ सब जगह दौड़ती फिरती हैं तथा जो वर्षाकाल वृष्टिसहित पवन से भयंकर हो रहा है - ऐसे भयंकर वर्षाकाल में जो मोक्षाभिलाषी मुनि, वृक्षों के नीचे बैठकर तप करते हैं, उन मुनियों के लिए हमारा नमस्कार है (वे मुनि हमारी रक्षा करें) ।

शीतकाल में खुले मैदान में तप करने वाले मुनीश्वरों की साधना

म्लायत्कोकनदे गलत्कपिमदे, भ्रश्यद्द्रौघच्छदे;
हर्षद्रो -दरिद्रके हिमऋ्तावत्यन्तदुःख-प्रदे ।
ये तिष्ठन्ति चतुष्पथे पृथुतपः, सौधस्थिताः साधवो;
ध्यानोष्मप्रहतोग्रशैत्यविधुरा:, ते मे विदध्युः श्रियम् ॥66॥
कमल मलिन हों, कपि मद गलता, वृक्षों के पत्ते जलते ।
अतिदु:खदायक शीतऋ्तु में, दीनों के हों रोम खड़े ॥
ध्यान-अग्नि से शीत नशें अरु, तप-महलों को करें निवास ।
निर्भय रहें चतुष्पथ में वे, पतिवर दें लक्ष्मी अविनाश ॥

अन्वयार्थ : जिस शीतकाल में कमल मुरझा जाते हैं, बन्दरों का मद गल जाता है, वृक्षों के पत्ते जल जाते हैं, वस्त्ररहित दरिद्रों के शरीर पर रोंच खड़े हो जाते हैं तथा और भी जो नाना प्रकार के दुःखों को देने वाला है - ऐसे भयंकर शीतकाल में महातपस्वी ध्यानरूपी अग्नि से समस्त शीत को नाश करने वाले यतीश्वर, खुले मैदान में निर्भयता से निवास करते हैं - ऐसे यतीश्वर मुझे भी अविनाशी लक्ष्मी प्रदान करें ।

मुनि-जीवन में आत्मज्ञान की विशेषता

(वसन्ततिलका)
काल-त्रये बहिरवस्थित-जातवर्षा-;
शीतातप-प्रमुख-संघटितोग्र-दुःखे ।
आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि काय-;
क्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे ॥67॥

आत्मज्ञान बिन सहें शीत-वर्षा एवं ग्रीषम-आताप ।
धान्य रहित खेतों में बाड़, लगाने जैसा वृथा कलाप ॥

अन्वयार्थ : जो मुनि, अपने आत्मज्ञान की कुछ भी परवाह न कर, बाहर में वर्षा-शीत-ग्रीष्म तीनों कालों में उत्पन्न हुए दुःखों को सहन करते हैं, उनका उस प्रकार का दुःख सहना वैसा ही निरर्थक मालूम होता है, जैसा कि धान (फसल) के कट जाने पर खेत को बाड़ लगाना निरर्थक होता है; इसलिए मुनियों को आत्मज्ञान पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

मुनियों की पूजन के माध्यम से जिनवाणी एवं केवली भगवान की पूजन

(शार्दूलविक्रीडित)
सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ, त्रैलोक्यचूडामणिः;
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरत,-क्षेत्रे जगद्द्योतिकाः ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरा:, तेषां समालम्बनं;
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमत:, साक्षाज्जिन: पूजित: ॥68॥
कलिकाल में त्रिभुवन-चूड़ामणि केवलि भगवान नहीं ।
भरतक्षेत्र में जगत्-प्रकाशक, विद्यमान उनकी वाणी ॥
रत्नत्रयधारी मुनिवर हैं, श्री जिनवाणी के आधार ।
उनको पूजा, यानि पूजा-वाणी, पूजा जिन-साक्षात् ॥

अन्वयार्थ : यद्यपि इस समय कलिकाल में तीन लोक के द्वारा पूजनीय केवली भगवान विराजमान नहीं हैं तो भी इस भरतक्षेत्र में समस्त जगत् को प्रकाश करने वाली उन केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी का अवलम्बन लेने वाले श्रेष्ठ रत्नत्रय के धारी मुनि हैं; इसलिए उन मुनियों की पूजन तो जिनवाणी की पूजन है तथा जिनवाणी की पूजन साक्षात् केवली भगवान की पूजन है - ऐसा भव्य जीवों को समझना चाहिए ।

आत्मध्यानी मुनियों के चरणों से स्पर्शित भूमि ही उत्तम तीर्थ

स्पृष्टा यत्र मही तदंघ्रिकमलै:, तत्रैति सत्तीर्थतां;
तेभ्यस्तेऽपि सुराः कृताञ्जलिपुटा, नित्यं नमस्कुर्वते ।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता, निष्कल्मषा जायते;
ये जैना यतयश्चिदात्मनिरता, ध्यानं समातन्वते ॥69॥
जिनकी पद-रज से यह भूतल, होता है सत्-तीर्थ अहो! ।
सुर-गण नित्य नमन करते हैं, हाथ जोड़ कर जिन मुनि को ॥
जिनके नाम-स्मरण मात्र से, भविजन हो जाते निष्पाप ।
जैन यतीश्वर ध्याते निज चेतन में प्रीति धरें अरु ध्यान ॥

अन्वयार्थ : जो यतीश्वर, आत्मा में लीन होकर ध्यान करते हैं, उन जैन यतीश्वरों के चरणकमलों से संस्पर्शित भूमि, उत्तम तीर्थ बन जाती है; उन यतीश्वरों को बड़े-बड़े देव आकर, हाथ जोड़ कर, मस्तक नवा कर नमस्कार करते हैं, उनके स्मरण मात्र से ही जीवों के समस्त पाप गल जाते हैं; इसलिए यतीश्वरों को सदा आत्मा के ध्यान में लीन रहना चाहिए ।

निन्दा करने वालों के प्रति भी मुनियों की समता

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तनिचितः, शान्तः शिवैषी मुनिः;
मन्दैः स्यादवधीरितोऽपि विशदः, साम्यं यदालम्बते ।
आत्मा तैर्विहतो यदत्र विषम,-ध्वान्तश्रिते निश्चितं;

सम्पातो भवितोग्रदुःखनरके, तेषामकल्याणिनाम् ॥70॥
रत्नत्रयधारी मुनिवर हैं, शिवसुख-वाञ्छक एवं शान्त ।
अज्ञानी अपमानित करते, मुनि करते समता रसपान ॥
आत्मघात कर अज्ञानीजन, अकल्याण अपना करते ॥
जहाँ घोरतम तीव्र दु:ख हैं - ऐसे नरकों में जाते ।

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र के धारी, शान्त और मोक्षाभिलाषी जो मुनि, दुष्टों से अपमानित होकर भी स्वच्छ अन्तःकरण से समता को धारण करते हैं, उनकी तो आत्मा शुद्ध ही होती हैं; किन्तु जो उनकी निन्दा करने वाले हैं, उन्होंने तो अपनी आत्मा का घात कर लिया क्योंकि वे दुष्ट कल्याणरहित पुरुष, ऐसे नरकों में गिरेंगे, जो भयंकर अन्धकार से व्याप्त है तथा कठिन दुःख का स्थान है; इसलिए दुष्ट, मुनियों की कैसी भी निन्दा करें तो भी उनको समता धारण करना ही योग्य है ।

मुनियों की स्तुति करने वाले भी महापुरुष

(स्रग्धरा)
मानुष्यं प्राप्य पुण्यात्, प्रशममुपगता, रोगवद्भोगजातं;
मत्वा गत्वा वनान्तं, दृशि विदि चरणे, ये स्थिताः संगमुक्ताः ।
कः स्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैराश्रितानां मुनीनां;
स्तोतव्यास्ते महद्भिः, भुवि य इह तदंघ्रिद्वये भक्तिभाज: ॥71॥
नरभव पाकर प्रशमभाव से, भोगों को भी जानें रोग ।
संग रहित हो वन में बसते, दर्शन-ज्ञान-चरित थिर हो ॥
वचनातीत गुणों से भूषित, गुरु-स्तवन कर सकता कौन? ।
पद-पंकज आराधक महत्-पुरुष ही भक्ति करने योग्य ॥

अन्वयार्थ : पुण्य योग से मनुष्य भव को पाकर, भोगों को रोगतुल्य जान कर, वन में जाकर, समस्त परिग्रह से रहित होकर, शान्ति को प्राप्त होकर, जो यतीश्वर, सम्यग्दर्शनसम्य ग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र में स्थित होते हैं, वचन-अगोचर गुणों से सहित, उन मुनियों की प्रथम तो कोई स्तुति करने में समर्थ ही नहीं है । यदि कोई स्तुति कर सके तो भी वे ही पुरुष, उनकी स्तुति कर सकते हैं, जो उन मुनियों के चरण-कमलों का आराधन करने वाले महात्मा पुरुष हैं ।

व्यवहार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का स्वरूप

(शार्दूलविक्रीडित)
तत्त्वार्थाप्ततपोभृतां यतिवराः, श्रद्धानमाहुर्दृशं;
ज्ञानं जानदनूनमप्रतिहतं, स्वार्थावसन्देहवत् ।
चारित्रं विरतिः प्रमादविलसत्, कर्मास्रवाद्योगिनां;
एतन्मुक्तिपथस्त्रयं च परमो, धर्मो भवच्छेदकः ॥72॥
तत्त्व, आप्त जिन-गुरुओं का, श्रद्धान कहा सम्यग्दर्शन ।
संशयहीन अप्रतिहत एवं, पूर्ण-प्रकाशक निज-पर ज्ञान ॥
सप्रमाद कर्मास्रव का, निरोध होना सम्यक्चारित्र ।
परम धर्म है यही मुक्ति का, मार्ग अहो! भव-भव छेदक ॥

अन्वयार्थ : गणधरादि देवों ने जीवादि पदार्थ, आप्त और गुरुओं पर श्रद्धान रखने को सम्यग्दर्शन कहा है; जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं हैं, जो संशयरहित तथा पूर्ण है - ऐसे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है तथा प्रमादसहित कर्मों के आगमन के रुक जाने को सम्यक्चारित्र कहा है; अतः सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की एकता ही मुक्ति का मार्ग और संसार का नाश करने वाला परम धर्म है ।

बाह्य तप आदि से अधिक रत्नत्रय की महिमा

(मालिनी)

हृदयभुवि दृगेकं, बीजमुप्तं त्वशंका-;

प्रभृतिगुणसदम्भः, सारिणीसिक्तमुच्चैः ।

भवदवगमशाख:, चारुचारित्रपुष्प:;

तरुरमृतफलेन, प्रीणयत्याशु भव्यम् ॥73॥

अन्तर परिणति भू में बोया, सम्यग्दर्शनरूपी बीज ।

नि:शंकादि गुणों की निर्मल, नीर भरी क्यारी से सींच॥

शाखा सम्यग्ज्ञानमयी, चारित्र-सुमनयुत वृक्ष फलें ।

भव्य जीव को शीघ्र मोक्ष-रूपी फल से सन्तुष्ट करें॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि अन्तःकरणरूपी पृथ्वी में बोया हुआ तथा निःशंकित आदि आठ गुणरूपी उत्तम जल की भरी हुई नालियों से सींचा हुआ सम्यग्दर्शनरूपी बीज, सम्यग्ज्ञानरूपी शाखाओं का धारक तथा चारित्ररूपी पुष्पों से सहित वृक्षरूप में परिणत होकर, शीघ्र ही भव्यजीवों को मोक्षरूपी फल से सन्तुष्ट करता है ।

रत्नत्रयरूपी वृक्ष से मोक्षफल की प्राप्ति

दृगवगमचरित्रालंकृतः सिद्धिपात्रं;

लघुरपिनगुरु: स्यादन्यथात्वे कदाचित् ।

स्फुटवगतमार्गो याति मन्दोऽपि गच्छन्;

अभिमतपदमन्यो नैव तूर्णोऽपि जन्तुः ॥74॥

रत्नत्रय-भूषित मुनि यदि तप, करें अल्प पर सिद्धि लहें ।

मार्गविज्ञ यदि मन्द चलें, तो भी गन्तव्य-थल पहुँचें ॥

किन्तु रहित यदि रत्नत्रय से, घोर तपें पर मुक्ति नहीं ।

मार्ग अपरिचित शीघ्र चलें पर, पहुँचे इष्ट स्थान नहीं ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार जिसको मार्ग मालूम है - ऐसा मनुष्य यदि धीरे-धीरे चले तो भी अभिमत स्थान पर पहुँच जाता है, किन्तु जिसको मार्ग कुछ भी नहीं मालूम है, वह चाहे कितनी भी जल्दी चले तो भी वह अपने अभिमत स्थान पर नहीं पहुँच सकता; उसी प्रकार जो मुनि, तप आदि को तो बहुत थोड़ा करने वाला है, लेकिन जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का धारी है, वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, किन्तु जो तप आदि तो बहुत करने वाला है, परन्तु सम्यग्दर्शन आदिरूप रत्नत्रय का धारी नहीं है, वह कितना भी प्रयत्न करे तो भी मोक्ष को नहीं पा सकता; इसलिए मोक्षाभिलाषियों को सम्यग्दर्शनादि की सबसे अधिक महिमा समझना चाहिए ।

रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी

वनशिखिनि मृतोऽन्धः, सञ्चरन् बाढमंघ्रि;

द्वितयविकलमूर्ति:, वीक्षमाणोऽपि खञ्जः ।

अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्;

दृगवगमचरित्रैः, संयुतैरेव सिद्धि: ॥75॥

जलते वन में अन्ध पुरुष यदि, दौड़े तो भी मर जाता ।

लँगड़ा देखे जलते वन को, किन्तु नहीं वह बच पाता ॥

जिसे नहीं श्रद्धान अग्नि का, स्वस्थ पुरुष भी बच न सकें ।

अत: ज्ञान-श्रद्धान-चरित हो, एक साथ तो मुक्ति मिले ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार वन में अग्नि लगने पर उस वन में रहनेवाला अन्धा तो देख न सका, इसलिए दौड़ता हुआ भी मर गया । दोनों चरणों से लँगड़ा, लगी हुई अग्नि को देखता हुआ भी दौड़ न सकने के कारण तत्काल भस्म हो गया । आँख तथा पैर सहित भी आलसी इसलिए मर गया कि उसको अग्नि का श्रद्धान ही नहीं हुआ । इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि अलग-अलग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, मोक्ष के लिए कारण नहीं हैं, किन्तु तीनों मिले हुए ही कारण हैं ।

सम्यग्दर्शनादि वास्तविक रत्नों से ही आत्मा की शोभा

बहुभिरपिकिमन्यैः, प्रस्तरैः रत्नसंज्ञैः;
वपुषि जनितखेदैः, भारकारित्वयोगात् ।
हत-दुरित-तमोभिः, चारु-रत्नैरनर्घ्यैः;
त्रिभिरपि कुरुतात्माऽलंकृतिं दर्शनाद्यैः ॥76॥
रत्न नामधारी पत्थर से, होता है क्या लाभ कहो ।
किन्तु भारयुत होने से बस! खेद मात्र ही तन में हो ॥
अत: पापमय अन्धकार के नाशक रत्नत्रय जानो ।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित, बहुमूल्य रत्न से भूषित हों ॥
अन्वयार्थ : संसार में यद्यपि रत्न संज्ञा बहुत से पत्थरों की भी है, किन्तु उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि वे केवल भारभूत होने के कारण शरीर को खिन्न करने वाले ही हैं; इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे मुनीश्वरों! जो सम्पूर्ण अन्धकार के नाश करने वाले हैं, अमूल्य और मनोहर हैं - ऐसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी तीनों रत्नों से ही अपनी आत्मा को शोभित करो, ये ही वास्तविक रत्न हैं ।

सम्यग्दर्शन से ही मनुष्य जन्म की शोभा

जयति सुखनिधानं, मोक्षवृक्षैकबीजं;
सकलमलविमुक्तं, दर्शनं यद्विना स्यात् ।
मतिरपि कुमतिर्नु, दुश्चरित्रं चरित्रं;
भवति मनुजजन्म, प्राप्तमप्राप्तमेव ॥77॥
जिसके बिना ज्ञान मिथ्या है, चारित भी मिथ्या होता ।
शाश्वत सुख का है निधान अरु, बीजरूप है शिवतरु का ॥
सकल दोष से रहित अहो!, सम्यग्दर्शन जयवन्त रहें ।
बिन समकित यह नरभव पाया, पर नहिं पाये जैसा है ॥
अन्वयार्थ : जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है, चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है, प्राप्त हुआ भी मनुष्य जन्म न पाया हुआ-सा कहलाता है - ऐसा सुखस्वरूप तथा मोक्षरूपी वृक्ष का देने वाला एकमात्र निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी रत्न, इस लोक में सदा जयवन्त है ।

सम्यक् रत्नत्रय की महिमा

(आर्या)
भवभुजगनागदमनी, दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः ।
मुक्तिसुखामृतसरसी, जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥78॥
भव-भुजंग को नाग-नाशिनी, दुख-दावानल को जलधार ।
मुक्ति-सुखामृत के सरवर, जयवन्त रहे ये रत्नत्रय ॥

अन्वयार्थ : संसाररूपी सर्प को नाश करने के लिए नागदमनी, दुःखरूपी दावानल को बुझाने के लिए जलवृष्टि और मोक्षरूपी सुखामृत की सरोवरी (तालाब) के समान समीचीन रत्नत्रयी सदा इस लोक में जयवन्त है ।

अभेद रत्नत्रय ही निश्चय रत्नत्रय

(मालिनी)

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुद्धिः;

दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम् ।

अनुपचरितमेतच्चेतनैक - स्वभावं;

व्रजति विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ॥79॥

दर्शन-ज्ञान-चरित्र आत्ममय, भेदबुद्धि बस कहने में ।

अनुपचरित चैतन्यभाव ही, बसे योगी की दृष्टि में ॥

अन्वयार्थ : व्यवहारनय की अपेक्षा से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र जुदे-जुदे मालूम पड़ते हैं । निश्चयनय की अपेक्षा से इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है, किन्तु ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं । समस्त लोकालोक को देखने वाले केवली भगवान, वास्तविक रीति से इन तीनों को चैतन्य से अभिन्नस्वरूप ही देखते हैं ।

शुद्धनय का आश्रय करना ही श्रेयस्कर

(उपेन्द्रवज्रा)

निरूप्य तत्त्वं, स्थिरतामुपागता;

मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी ।

अखण्डमेकं, विशदं चिदात्मकं;

निरन्तरं पश्यति तत्परं महः ॥80॥

शुद्धनयाश्रित साधुमति है, संवरतत्त्व निरूपण में ।

एक अखण्ड विशद चिन्मय, उत्कृष्ट ज्योति को नित निरखें ॥

अन्वयार्थ : जीवाजीवादि समस्त तत्त्वों को देख कर, जिन सज्जनों की मति स्थिर और शुद्धनय का आश्रय करने वाली हो गई है; वे ही मनुष्य, निर्मल तथा उत्कृष्ट चित्स्वरूप ज्योति को देखते हैं ।

निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप

(स्रग्धरा)

दृष्टिर्निर्णीतिरात्माह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः;

शुद्धं चारित्रमत्र, स्थितिरिति युगपद् बन्धविध्वंसकारि ।

बाह्यं बाह्यार्थेव, त्रितयमपि परं, स्याच्छुभो वाऽशुभो वा;

बन्धः संसारमेवं, श्रुतिनिपुणधियः, साधवस्तं वदन्ति ॥81॥

आत्मतेज-रुचि सम्यग्दर्शन, उसे जानना सम्यग्ज्ञान ।

आत्मलीनता सम्यक्चारित्र, नष्ट करे कर्मों का बन्ध ॥

रत्नत्रय से भिन्न सभी हैं, भाव शुभाशुभ उससे बाह्य ।

बन्ध चतुर्गति के कारण ये, कहें साधु श्रुत-विज्ञ महान् ॥

अन्वयार्थ : आत्मारूपी निर्मल तेज में निश्चय (विश्वास) करना तो निश्चय सम्यग्दर्शन है; उसी तेज का जानपना निश्चय सम्यग्ज्ञान है तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के साथ स्वरूप में स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है । इन तीनों की एकता कर्मबन्ध का नाश करने वाली है । इस निश्चय

रत्नत्रय से जो बाह्य है, सो बाह्य ही है । वह चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, बन्ध का ही कारण है । बन्ध का कारण होने से संसार का ही कारण है - ऐसा श्रुतज्ञान के पारंगत आचार्य कहते हैं । इसलिए भव्य जीवों को निश्चय रत्नत्रय के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए । व्यवहार रत्नत्रय को भी सर्वथा न छोड़ कर निश्चय रत्नत्रय का साधक समझना चाहिए ।

उत्तम क्षमाधर्म, मुनियों की सर्वप्रथम सहायता करने वाला

(मालिनी)
जडजनकृत-बाधाऽक्रोशहासाऽप्रियादा-;
वपि सति न विकारं, यन्मनो याति साधोः ।
अमलविपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ-;
शिवपथपथिकानां , सत्सहायत्वमेति ॥82॥
अज्ञानीकृत बाधा बन्धन, कटु वचनों के कहने पर ।
निर्मल चित्त न विकृत होता, उत्तम क्षमाधर्म सुखकर॥
अन्वयार्थ : मूर्खजनों द्वारा किए हुए बन्धन, क्रोध, हास्य आदि के होने पर तथा कठोर वचनों के बोलने पर भी जो साधु, अपने निर्मल धीर-वीर चित्त से विकृत नहीं होता, उसी का नाम उत्तम क्षमा है । यह उत्तम क्षमा, मोक्षमार्ग में जाने वाले मुनियों की सबसे पहले सहायता करने वाली है ।

यतिधर्म का तीव्र विघातक, क्रोध

(वसन्ततिलका)
श्रामण्यपुण्यतरुरुच्चगुणौघशाखा-;
पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा ।
याति क्षयं क्षणत एव घनोग्रकोप-;
दावानलात् त्यजत तं यतयोऽतिदूरम् ॥83॥
गुण-पत्रों-पुष्पों से शोभित यति-तरु नहिं किञ्चित् फल दे ।
क्रोधाग्नि से त्वरित नष्ट हों, अत: यतीश्वर क्रोध तजें ॥
अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि गुणरूपी शाख-पत्र-फूलों से सहित यह यतिरूपी वृक्ष है । यदि इसमें भयंकर क्रोधरूपी दावानल प्रवेश कर जावे तो यह किसी प्रकार फल न देकर बात ही बात में नष्ट हो जाता है । इसलिए यतीश्वर, क्रोध आदि को वे दूर से ही छोड़ देते हैं ।

राग-द्वेष रहित क्षमाधारी मुनियों के विचार

(शार्दूलविक्रीडित)
तिष्ठामो वयमुज्ज्वलेन मनसा, रागादिदोषोज्झिताः;
लोकः किञ्चिदपि स्वकीयहृदये, स्वेच्छाचरो मन्यताम् ।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा;
मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफलं, स्वार्थ: स्वयं लप्स्यते ॥84॥
स्वेच्छाचारी लोक हमें, चाहे जैसा माने मन में ।
किन्तु राग-द्वेषादि रहित हम, अपना निर्मल चित्त रखें ॥
राग-द्वेष परिणामों का फल, सबको मिलता अपने आप ।
प्रशमभावयुत मुनिजन को बस! आत्मशुद्धि ही होती साध्य ॥
अन्वयार्थ : राग-द्वेषादि से रहित होकर हम तो अपने उज्ज्वल चित्त से रहेंगे । स्वेच्छाचारी यह लोक, अपने हृदय में चाहे हमको भला-

बुरा कैसा भी मानो क्योंकि शमी पुरुषों को अपने आत्मा की शुद्धि करनी चाहिए । इस लोक में वैरी अथवा मित्रों से हमको क्या है? अर्थात् वे हमारा कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि जो हमारे साथ द्वेषरूप तथा प्रीतिरूप परिणाम करेगा, उसका फल उसको अपने आप मिल जाएगा ।

क्षमाधारक की समस्त जगत् को सुखी देखने की भावना

(स्रग्धरा)
दोषानाघुष्य लोके, मम भवतु सुखी, दुर्जनश्चेद्धनार्थी;
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा, रिपुरथ सहसा, जीवितं स्थानमन्यः ।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाऽखिलमिह हि जगत् , जायतां सौख्यराशिः;
मत्तो माभूदसौख्यं, कथमपि भविनः, कस्यचित्पूत्करोमि ॥85॥
दुर्जन होय सुखी मम दोषों, को दुनिया में घोषित कर ।
धन-लोभी सर्वस्व ग्रहण कर, बैरी मम जीवन लेकर ॥
मध्यस्थ गहें मेरी पदवी सब, जीव जगत् के सुखी रहें ।
करूँ पुकार जगत् में मुझसे, नहीं किसी को दु:ख पहुँचे ॥
अन्वयार्थ : मेरे दोषों को सबके सामने प्रकट कर संसार में दुर्जन सुखी होवें । धन का अर्थी, मेरे समस्त धन आदि को ग्रहण कर सुखी होवें । वैरी, मेरे जीवन को लेकर सुखी होवें । जिनको मेरा स्थान लेने की अभिलाषा है, वे मेरा स्थान लेकर आनन्द से रहें । जो राग-द्वेष रहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें, वे मध्यस्थ होकर सुख से रहें । इस प्रकार समस्त जगत् सुख से रहे, किन्तु किसी भी संसारी को मुझसे दुःख न पहुँचे - ऐसा मैं सबके सामने पुकार-पुकार कर कहता हूँ ।

तीन लोक के द्वारा पूज्य वीतरागता का प्रभाव

(शार्दूलविक्रीडित)
किं जानासि न वीतरागमखिलं, त्रैलोक्यचूडामणिं;
किं तद्धर्मुपाश्रितं न भवता, किं वा न लोको जडः ।
मिथ्यादृग्भिरसज्जनैरपटुभिः, किञ्चित्कृतोपद्रवात्;
यत्कर्मार्जनहेतु स्थिरतया, बाधां मनो मन्यसे ॥86॥
वीतरागता पूज्य त्रिजग में, रे मन! क्या तू नहिं जाने ।
जिसका आश्रय लिया कहो वह, धर्म नहीं क्या पहिचाने ॥
दुर्जन द्वारा किये उपद्रव, से तू विचलित होता है ।
कर्मोपार्जन करता है क्यों, नहिं जाने तू जग जड़ है ॥
अन्वयार्थ : हे मन! मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्खजनों से किये हुए उपद्रव से चंचल होकर कर्मों के पैदा करने में कारणभूत ऐसी वेदना का तू अनुभव करता है सो क्या तीन लोक के द्वारा पूजनीक वीतरागता को तू नहीं जानता है? अथवा जिस यति-धर्म का तूने आश्रय किया है, क्या उस धर्म को तू नहीं जानता है? अथवा यह समस्त लोक अज्ञानी जड़ है - इस बात का तुझे ज्ञान नहीं है?

अष्ट मदों के त्यागरूप उत्तम मार्दवधर्म

(वसन्ततिलका)
धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेयं;
जात्यादिगर्वपरिहारमुशन्ति सन्तः ।
तद्धार्यते किमुत, बोधदृशा समस्तं;

स्वप्नेन्द्रजालसदृशं, जगदीक्षमाणैः ॥87॥
यह मार्दवधर्मांग! जाति बल, आदि मदों के त्याग-स्वरूप ।
इसके धारक, जग को देखें, इन्द्रजाल या स्वप्न-स्वरूप ॥
अन्वयार्थ : उत्तम पुरुष, जाति-बल-ज्ञान-कुल आदि गर्वों के त्याग को मार्दव धर्म कहते हैं - यह धर्मों का अंगभूत है; इसलिए जो मनुष्य, अपनी सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से समस्त जगत् को स्वप्न तथा इन्द्रजाल के तुल्य देखते हैं, वे अवश्य ही इस मार्दव नामक धर्म को धारण करते हैं ।

शरीर के सम्बन्ध में मुनियों के विचार

(शार्दूलविक्रीडित)
कास्था सद्नि सुन्दरेऽपि परितो, दन्दह्यमानेऽग्निभिः;
कायादौ तु जरादिभिः प्रतिदिनं, गच्छत्यवस्थान्तरम् ।
इत्याऽऽलोचयतो हृदि प्रशमिन:, शश्वद्विवेकोज्ज्वले;
गर्वस्याऽवसर: कुतोऽत्र घटते, भावेषु सर्वेष्वपि ॥88॥
सुन्दर घर भी जले चतुर्दिश, तो बचने की क्या आशा? ।
प्रतिदिन जर्जर होती काया, के टिकने की क्या आशा? ॥
अत: मुनीश्वर निर्मल उर में, नित विवेक से करें विचार ।
जाति ज्ञान कुल आदि विषय में, मद का अवसर कैसे आय? ॥
अन्वयार्थ : जो अत्यन्त मनोहर भी है, किन्तु जिसके चारों तरफ अग्नि जल रही है - ऐसे घर के जलने से बचने की, जिस प्रकार अंश मात्र भी आशा नहीं की जाती; उसी प्रकार जो शरीर, वृद्धावस्था से सहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था को छोड़ कर, दूसरी अवस्था को धारण करता रहता है - ऐसा शरीर सदाकाल रहेगा? इसका विश्वास कैसे हो सकता है? इस प्रकार विवेकपूर्वक निर्मल हदय में विचार करने वाले मुनि के समस्त पदार्थों में अभिमान करने का अवसर ही नहीं है; इसलिए मुनियों को सदा ऐसा ही ध्यान करना चाहिए ।

आर्जवधर्म और कुटिल मायाचाररूप अधर्म की तुलना

(आर्या)
हृदि यत्तद्वाचि बहिः, फलति तदेवाऽऽर्जवं भवत्येतत् ।
धर्मो निकृतिरधर्मो, द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ ॥89॥
जो मन में हो वही वचन में, वही क्रिया यह आर्जवधर्म ।
इनमें विकृति ही अधर्म है, धर्म-स्वर्ग-पथ-नरक-अधर्म ॥
अन्वयार्थ : मन में जो बात होवे, उसी को वचन से प्रकट करना चाहिए; ऐसा न हो कि मन में कुछ होवे तथा वचन से कुछ अन्य ही बोलें; इसे आचार्य आर्जवधर्म कहते हैं तथा मीठी बात करके दूसरे को ठगना, इसको अधर्म कहते हैं । इनमें से आर्जवधर्म से तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अधर्म, नरक को ले जाने वाला होता है । इसलिए आर्जवधर्म के पालन करने वाले भव्य जीवों को किसी के साथ माया से व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए ।

उत्तम आर्जवधर्म से विरुद्ध मायाचार का दुष्ट फल

(शार्दूलविक्रीडित)
मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपि, च्छायाविघातं गुणेष्वाजातेय
र्मिनोऽर्जितेष्विह गुरु,-क्लेशैः समादिष्वलम् ।
सर्वे तत्र यदासतेऽतिनिभृता:, क्रोधादयस्तत्त्वत:;

तत्पापं बत येन दुर्गतिपथे, जीवश्चिरं भ्राम्यति ॥90॥
अति कष्टों से हुआ उपार्जित, जीवन भर का सद्-गुण-कोष ।
पूर्ण नष्ट हो जाता है यदि, एक बार हो माया-दोष ॥
क्रोधादिक सारे दुर्गुण ही, कपटभाव में छिपे रहें ।
माया से उत्पन्न पाप से, जीव चतुर्गति-भ्रमण करें ॥
अन्वयार्थ : यदि एक बार भी किसी के साथ मायाचारी की जाए तो यह मायाचारी, बड़ी कठिनता से संचय किए हुए अहिंसा, सत्य आदि मुनियों के गुणों को फीका कर देती है अर्थात् वे गुण आदरणीय नहीं रह पाते । उस मायारूपी मकान में नाना प्रकार के क्रोधादि शत्रु छिपे बैठे रहते हैं । उससे उत्पन्न हुए पाप से जीव, नाना प्रकार के दुर्गति-मार्गों में भ्रमण करता रहता है । इसलिए मुनिगण मायाचार को अपने पास भी फटकने न देवें ।

मौन-साधना में उत्तम सत्यधर्म की उत्कृष्ट साधना

(आर्या)
स्वपरहितमेव मुनिभिः, मितममृतसमं सदैव सत्यं च ।
वक्तव्यं वचमथ, प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥91॥
निज-पर हितकर अमृत-सम, प्रिय परिमित-वचन सदैव कहें ।
पर-पीड़क कटु वचन तजें या, धी-धारी मुनि मौन रहें॥
अन्वयार्थ : उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करने वाले मुनियों को प्रथम तो बोलना ही नहीं चाहिए । यदि बोलें तो ऐसा वचन बोलना चाहिए, जो समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो, परिमित हो, अमृत के समान प्रिय हो और सर्वथा सत्य हो; किन्तु जो वचन, जीवों को पीड़ा देने वाला और कड़वा हो, उस वचन की अपेक्षा मौन-साधना ही अच्छा है ।

समस्त व्रत एवं सरस्वती सत्य बोलने वाले के आधीन

(अनुष्टुभ्)
सति सन्ति व्रतान्येव, सूनृते वचसि स्थिते ।
भवत्याराधिता सद्भिः, जगत्पूज्या च भारती ॥92॥
सत्य वचन कहने वाले के, उर में व्रत सब करें निवास ।
त्रिभुवन-पूजित सरस्वती का, भी परिणति में हो आवास॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, सत्य वचन बोलने वाला है अर्थात् सत्य व्रत का पालन करने वाला है, उसके समस्त व्रत विद्यमान रहते हैं अर्थात् सत्यव्रत के पालन करने से ही वह समस्त व्रतों का पालन करने वाला होता है । वह सत्यवादी सज्जन पुरुष, तीन लोक के द्वारा पूज्य सरस्वती को भी सिद्ध कर लेता है अर्थात् सरस्वती भी सत्य बोलने वाले के पास रहती है ।

सत्यवादी, चक्रवर्ती इन्द्र एवं मोक्षरूपी फल पाने में भी समर्थ

(शार्दूलविक्रीडित)
आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः, कालेन यल्लप्स्यते;
सद्भूपत्वसुरत्वसंसृतिसरित्, पाराप्तिमुख्यं फलम् ।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं, शिष्टेषु यन्मान्यतां;
तत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं, तत्केन संवर्ण्यते ॥93॥
नरपति हो या सुरपति अथवा, हो जाए भव-सागर-पार ।
ये फल तो आगामी भव में, सत् वक्ता को होते प्राप्त ॥

किन्तु इसी भव में वे पाते, उज्ज्वल कीर्ति चन्द्र-समान ।
कैसे वर्णन करें सुफल का, सज्जन गण करते सन्मान ॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि सत्यवादी मनुष्य, आगामी भवों में श्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा बनते हैं, इन्द्रादि फल को प्राप्त करते हैं और सबसे उत्कृष्ट मोक्षरूपी फल को भी प्राप्त कर लेते हैं - यह बात तो दूर रहो, किन्तु इसी भव में वे चन्द्रमा के समान उत्तम कीर्ति को पा लेते हैं । शिष्ट मनुष्य, उनको बड़ी प्रतिष्ठा से देखते हैं, वे सज्जन कहे जाते हैं, इत्यादि नाना प्रकार के उत्तम फल उनको मिलते हैं, जो कि सर्वथा अवर्णनीय हैं; इसलिए सज्जनों को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए ।

उत्तम शौचधर्म का धारक परस्त्री और परधन से इच्छारहित

(आर्या)
यत्परदारार्थादिषु, जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेतः ।
दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नाऽन्यत् ॥94॥
पर-धन नारी में निर्वाञ्छक, वृत्ति अहिंसक सदा रहे ।
अन्तर्मल दुर्भेद्य विनाशक, यही शौच नहिं अन्य कहें ॥

अन्वयार्थ : जो परस्त्री तथा पराये धन में इच्छारहित हैं, किसी भी जीव को मारने की जिनकी भावना नहीं है और जो अत्यन्त दुर्भेद्य लोभ, क्रोधादि मलों का हरण करने वाला है- ऐसा चित्त ही शौचधर्म है, किन्तु उससे भिन्न कोई शौचधर्म नहीं है ।

उत्तम शौचधर्म हेतु बाह्य की अपेक्षा अन्त:करण की शुद्धि अनिवार्य

(शार्दूलविक्रीडित)
गंगासागरपुष्करादिषु सदा, तीर्थेषु सर्वेष्वपि;
स्नातस्याऽपि न जायते तनुभृतः, प्रायो विशुद्धिः परा ।
मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो, बाह्येऽतिशुद्धोदकैः;
धौतं किं बहुशोऽपि शुद्ध्यति सुरा,-पूरप्रपूर्णो घटः ॥95॥
गंगा-सागर पुष्करादि, तीर्थों में यदि स्नान करें ।
किन्तु विशुद्धि न मन में हो तो, प्राणी सदा अशुद्ध रहें ॥
मिथ्यात्वादि मलों से मैला, मन हो शुद्ध कहो कैसे? ।
मद्य भरा घट शुचि कैसे हो, कितना भी धोएँ जल से ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार अत्यन्त घृणित मद्य से भरा हुआ घड़ा यदि बहुत बार शुद्ध जल से धोया भी जाए तो वह शुद्ध नहीं हो सकता; उसी प्रकार जो मनुष्य, बाह्य में गंगा-पुष्कर आदि तीर्थों में स्नान करने वाला है, किन्तु उसका अन्तःकरण नाना प्रकार के क्रोधादि कषायों से मलीमस (मलिन) है तो वह कदापि उत्कृष्ट शुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए मनुष्य को सबसे पहले अपने अन्तःकरण को शुद्ध करना चाहिए क्योंकि जब तक अन्तःकरण शुद्ध न होगा, तब तक सर्व बाह्य क्रियाएँ व्यर्थ हैं ।

उत्तम संयमधर्म : काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय-मन वश करो

(आर्या)
जन्तुकृपार्दितमनसः, समितिषु साधोः प्रवर्तानस्य ।
प्राणेन्द्रियपरिहारं, संयममाहु र्हामुनयः ॥96॥
जीव-दया से भीगा मन हो, पञ्च समिति में हो वर्तन ।
इन्द्रिय-विषय तथा हिंसा का, त्याग कहें मुनिवर संयम ॥

अन्वयार्थ : जिसका चित्त, जीवों की दया से भीगा हुआ है, जो ईर्या-भाषा-एषणा आदि पाँच समितियों का पालन करने वाला है - ऐसे

साधु के जो षट्काय के जीवों की हिंसा तथा इन्द्रियों के विषयों का त्याग है, उसी को गणधरादि देव संयमधर्म कहते हैं ।

उत्तम संयमधर्म की उत्तरोत्तर दुर्लभता

(शार्दूलविक्रीडित)

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृत:, तत्रापि जात्यादयः;
तेष्वेवाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरत:, तस्याश्च दृग्बोधने ।
प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं, स्यातां न येनोज्झिते;
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं, न श्लाघ्यते संयमः ॥97॥
यह नरभव मिलना दुर्लभ है, उसमें दुर्लभ उत्तम जाति ।
आप्त वचन सुनना दुर्लभ है, उसमें भी दुर्लभ दीर्घायु ॥
ये सब होवें प्राप्त किन्तु, दुर्लभ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान ।
इनसे भी अति दुर्लभ संयम, क्यों न प्रशंसा करें सुजान ?

अन्वयार्थ : प्रथम तो इस संसाररूपी गहन वन में भ्रमण करते हुए प्राणियों का मनुष्य होना ही अत्यन्त कठिन है, किन्तु किसी कारण से मनुष्य जन्म प्राप्त भी हो जाए तो उत्तम ब्राह्मणादि जाति मिलना अति दुःसाध्य है । यदि किसी प्रबल दैवयोग से उत्तम जाति भी मिल जाए तो अर्हन्त भगवान के वचनों का सुनना बड़ा दुर्लभ है । यदि उनके सुनने का भी सौभाग्य प्राप्त हो जाए तो संसार में अधिक जीवन नहीं मिलता । यदि अधिक जीवन भी मिले तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होना अति कठिन है । यदि किसी पुण्य के उदय से अखण्ड तथा निर्मल सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी हो जाए तो संयमधर्म के बिना वे स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फल के देनेवाले नहीं हो सकते । इसलिए संयम सबसे अधिक प्रशंसनीय है, अतः संयमियों को ऐसे संयम की अवश्य रक्षा करनी चाहिए ।

उत्तम तपधर्म : द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करें निज शक्ति-सम

(आर्या)

कर्मलविलयहेतो:, बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम् ।
तद्द्वेधा द्वादशधा, जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥98॥
ज्ञान-नेत्र-धारी साधु जो, कर्मक्षय के हेतु तपें ।
दो अथवा बारह प्रकार तप, भव-सागर से पार करें ॥

अन्वयार्थ : सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से भले प्रकार वस्तु के स्वरूप को जान कर, ज्ञानावरणादि कर्मल के नाश की बुद्धि से जो तप किया जाता है, वही तपधर्म कहा गया है । वह तप मूल में बाह्य व अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है ।
1. अनशन, 2. अवमौदर्य, 3. वृत्ति-परिसंख्यान, 4. रस-परित्याग, 5. विविक्त-शय्यासन 6. कायक्लेश - इस रीति से छह प्रकार का बाह्य तथा 1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्त्य, 4. स्वाध्याय, 5. व्युत्सर्ग 6. ध्यान - इस रीति से छह प्रकार का अभ्यन्तर; इस प्रकार तप के बारह भेद भी हैं । वह तप, संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है **अर्थ**ात् मोक्ष को देनेवाला है ।

उत्तम तपधर्म के द्वारा क्रोधादि कषायों पर विजय

(पृथ्वी)

कषायविषयोद्भट,-प्रचुरतस्करौघो हठात्;
तपः सुभटताडितो, विघटते यतो दुर्जयः ।
अतो हि निरुपद्रव:,चरति तेन धर्मश्रिया;
यति: समुपलक्षितः, पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥99॥
विषय-कषायरूप तस्कर हों, उद्धत और महाबलवान् ।

किन्तु सुभट तप-सन्मुख हो तो, तत्क्षण ही होते निष्प्राण ॥
धर्मरूप लक्ष्मी से शोभित, योगी तप-योद्धा के संग ।
शिवपुर-पथ में गमन करें वे, अति सुख से होकर नि:शंक ॥

अन्वयार्थ : यद्यपि क्रोधादि कषायरूपी उद्धत तथा प्रबल चोरों का समूह दुर्जय है अर्थात् साधारण रीति से जीतने में नहीं आ सकता तो भी जिस समय तपरूपी प्रबल योद्धा, उसके सामने आता है, उस समय उसकी कुछ भी तीनपाँच नहीं चलती अर्थात् बात ही बात में वह जीत लिया जाता है; इसलिए जो योगीश्वर, तपरूपी सुभट के साथ धर्मरूपी लक्ष्मी से युक्त हैं, वे मोक्षरूपी नगर के मार्ग में निरुपद्रव तथा सुख से चले जाते हैं ।

उत्तम तपधर्म से भयभीत होना व्यर्थ

(मन्दाक्रान्ता)
मिथ्यात्वादे:, यदिह भविता, दुःखमुग्रं तपोभ्यो;
जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात् ।
स्तोकं तेन, प्रभवमखिलं, कृच्छ्रलब्धे नरत्वे;
यद्येतर्हि, स्खलति तदहो, का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥100॥
मिथ्यात्वादिक से नरकों में, होते हैं जो दु:ख महान ।
तप से होने वाले दु:ख कुछ, नहीं जलधि की बूँद समान ॥
महाकष्ट से नर-तन पाया, तप से होते सब गुण प्राप्त ।
किन्तु यदि चूके तो मानो! हो जाता है सब कुछ घात ॥

अन्वयार्थ : हे जीव! जिस प्रकार समस्त समुद्र की अपेक्षा जल का कण अत्यन्त छोटा होता है, उसी प्रकार तप के करने से तुझे बहुत थोड़े दुःख का अनुभव करना पड़ता है; किन्तु जिस समय मिथ्यात्व के उदय से तू नरक जाएगा, उस समय तुझे नाना प्रकार के छेदन-भेदन आदि असह्य दुःखों का सामना करना पड़ेगा तो भी तू न जाने तप से क्यों भयभीत होता है? अरे! तेरी तप करने में क्या हानि है?

उत्तम त्यागधर्म में मुनियों को देने योग्य दान की मुख्यता

(शार्दूलविक्रीडित)
व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये, यद्दीयते पुस्तकं;
स्थानं संयमसाधनादिकमपि, प्रीत्या सदाचारिणा ।
स त्यागो वपुरादिनिर्म तया, नो किंचनास्ते यते:;
आकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो, धर्मः सतां सम्मतः ॥101॥
श्रुत की व्याख्या करना एवं, निर्ग्रन्थों को ग्रन्थ-प्रदान ।
प्रीतिसहित यति को दे संयम-साधन, यह श्रावक का दान ॥
'किञ्चित् भी नहिं मेरा' - ऐसा, हो विचार तन से निर्मम ।
आकिञ्चन्यधर्म यह भव-नाशक है श्रेष्ठ कहें सज्जन ॥

अन्वयार्थ : शास्त्रों का भलीभाँति व्याख्यान करना तथा मुनियों को पुस्तक, स्थान और संयम-शौच आदि के साधन, पीछी-कमण्डलु आदि देना, सदाचारियों का उत्कृष्ट त्यागधर्म है । 'मेरा कुछ भी नहीं है' - ऐसा विचार कर, अत्यन्त निकट शरीर से भी ममता छोड़ देना, आकिञ्चन्य धर्म है, वह यतियों को होता है, वह समस्त संसार का नाश करने वाला है और समस्त श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आदरणीय है ।

उत्तम त्यागधर्म के धारकों की महिमा

(शिखरिणी)

विमोहा मोक्षाय, स्वहितनिरताश्चारुचरिताः;
गृहादि त्यक्त्वा ये, विदधति तपस्तेऽपि विरलाः ।
तपस्यन्तोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतः;
सहायाः स्युर्ये ते, जगति यतयो दुर्लभतराः ॥102॥
निर्मोही हो चारु चरित-धर, निज-हित में ही लीन रहें ।
मोक्षहेतु गृह-त्याग करें तप, ऐसे साधु विरले हैं ॥
स्वयं तपें तप अन्य मुनी को, शास्त्रादिक दे करें सहाय ।
दुर्लभ से दुर्लभ हैं ऐसे, मुनिवर जो जग को सुखदाय ॥
अन्वयार्थ : जिनका मोह सर्वथा गल गया है, जो अपने आत्मा के हित में ही निरन्तर लगे रहते हैं, जो सुन्दर चारित्र के धारण करने वाले हैं तथा घर, स्त्री, पुत्रादि को छोड़ कर, मोक्ष के लिए तप करते हैं, वे मुनि, संसार में विरले ही हैं । जो स्वतः अपने हित के लिए तप करने वाले हैं, दूसरे तपस्वियों के लिए शास्त्रादिक का दान करते हैं और उनके सहायी भी हैं - ऐसे योगीश्वर, संसार के बीच में अत्यन्त दुर्लभ हैं, वे बड़ी कठिनाई से मिलते हैं ।

उत्तम त्यागधर्म एवं आकिञ्चन्यधर्म में ममत्व-त्याग का महत्त्व

परं मत्वा सर्वं, परिहृतमशेषं श्रुतविदा;
वपुः पुस्ताद्यास्ते, तदपि निकटं चेदिति मति: ।
ममत्वाभावे तत्, सदपि न सदन्यत्र घटते;
जिनेन्द्राज्ञाभंगो, भवति च हठात् कल्मषमृषेः ॥103॥
सर्व परिग्रह भिन्न जान कर, ज्ञानी मुनि ने त्याग किया ।
किन्तु देह अरु शास्त्र निकट हैं, क्यों नहिं उनका त्याग किया ?
उनमें नहीं ममत्व अत: वे, सत् हैं किन्तु असत्-वत् जान ।
यदि ममत्व हो तो जिन-आज्ञा-उल्लंघन का पाप महान ॥
अन्वयार्थ : समस्त शास्त्रों को जानने वाले वीतरागदेव ने अपनी आत्मा से समस्त वस्तुओं को भिन्न जान कर सबका त्याग कर दिया है । यदि कहोगे कि सबको छोड़ते समय उन्होंने शरीर, पुस्तकादि का त्याग क्यों नहीं किया? तो उसका समाधान यह है कि उनकी शरीरादि में भी किसी प्रकार की ममता नहीं रही है; इसलिए वे मौजूद होते हुए भी नहीं मौजूद की तरह ही हैं अर्थात् मुनियों के शरीरादि का साथ, आयुकर्म का नाश हुए बिना छूट नहीं सकता यदि वे उन शरीरादि को बीच में ही छोड़ देवें तो उनको प्राणघात करने के कारण हिंसा का भागी होना पड़ेगा; इसलिए उनके शरीरादि तो रहते हैं, किन्तु वे शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखते । यदि वे शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व करें तो उनको जिनेन्द्र की आज्ञा-भंग करनेरूप महान दोष का भागी होना पड़ेगा अर्थात् जब तक उनको ममत्व रहेगा, तब तक वे मुनि ही नहीं कहे जा सकते हैं ।

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म : स्त्री ही संसार-परिभ्रमण का कारण

(स्रग्धरा)
यत्संगाधारमेतत् चलति लघु च यत्, तीक्ष्णदुःखौघधारं;
मृत्पिण्डीभूतं, कृतबहुविकृति,-भ्रान्तिसंसारचक्रम् ।
ता नित्यं यन्मुक्षु:, यतिरमलमतिः, शान्तमोहः प्रपश्येत्;
जामी: पुत्रीः सवित्रीरिव हरिणदृश:, तत्परं ब्रह्मचर्य् ॥104॥
जिसका संग अधिकरण जगत् का, तीव्र दु:खों की पैनी धार ।
प्राणी भ्रमते मृत-पिण्डीवत्, पर्यायें धर विविध प्रकार ॥

उस नारी को जो मुमुक्षु यति,लखें मोह को कर उपशान्त ।
माता-बहन-सुता-सम वे ही, पाते हैं व्रत ब्रह्म परम ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कुम्भकार का चाक, जमीन के आधार से चलता है, उस चाक की तीक्ष्ण धारा रहती है, उसके ऊपर मिट्टी का पिण्ड भी रहता है तथा वह चाक, नाना प्रकार के कुसूल, स्थास आदि घट के विकारों को करता है; उसी प्रकार संसाररूपी चाक की आधार यह स्त्री है अर्थात् यह स्त्री न होती तो यह जीव, कदापि संसार में भटकता न फिरता ।

स्त्रियों से प्रीति छोड़ने वाले ही महान

(मालिनी)
अविरतमिह तावत्, पुण्यभाजो मनुष्याः;
हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति ।
कथमपि न पुनस्ता, जातु येषां तदंघ्री;
प्रतिदिनमतिनम्रा:, तेपि नित्यं स्तुवन्ति ॥105॥
जो नारी को प्रिय हैं पर, उनमें नहिं है नारी का वास ।
नारी को प्रिय पुण्यवान भी, उन्हें नमें नित शीश नवा ॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष, निरन्तर स्त्रियों के हृदय में प्रीति उपजाने वाले हैं अर्थात् जिनको स्त्रियाँ चाहती हैं, वे भी यद्यपि संसार में धन्य हैं, तथापि जिन मनुष्यों के हृदय में स्त्रियाँ स्वप्न में भी निवास नहीं करतीं, वे उनसे भी अधिक धन्य हैं तथा उन वीतरागी पुरुषों के चरण-कमलों को स्त्रियों के प्रिय पात्र, बड़े-बड़े चक्रवर्ती आदि भी सिर झुका कर नमस्कार करते हैं; इसलिए जिन पुरुषों को संसार में अपनी कीर्ति फैलाने की इच्छा है, उनको कदापि स्त्रियों के जाल में नहीं फँसना चाहिए ।

द्यानत धरम दश पैंड़ि चढ़ि कै, शिवमहल में पग धरा.....

(स्रग्धरा)
वैराग्यत्यागदारु,-कृतरुचिरचना, चारुनि:श्रेणिका यैः;
पादस्थानैरुदारै:, दशभिरनुगता, निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः ।
योग्या स्यादारुरुक्षोः, शिवपदसदनं, गन्तुमित्येषु केषां;
नो धर्मेषु त्रिलोकी-पतिभिरपि सदा, स्तूयमानेषु हृष्टि: ॥106॥
त्याग-विराग काष्ठ-खण्डों से बनी हुई उत्तम सीढ़ी ।
क्षमा आदि दस पाद-स्थल युत, मोक्षमहल को है जाती ॥
मुक्ति-कामिनी वाञ्छक नर को, यही नसैनी योग्य कही ।
सुरपति से उन वन्द्य धर्म दश, धरने में नहीं हर्ष किसे ?

अन्वयार्थ : जिसके इधर-उधर वैराग्य तथा त्यागरूपी मनोहर काष्ठ लगे हुए हैं, जिसमें बड़े-बड़े मजबूत दश धर्मरूपी पाद-स्थान (डण्डे) मौजूद हैं - ऐसी सीढ़ी मोक्षरूपी महल पर चढ़ने की इच्छा करने वाले मनुष्य को चढ़ने के लिए योग्य है क्योंकि जो तीन लोक के पति इन्द्रादिकों से वन्दनीक हैं - ऐसे उन दश धर्मों के धारण करने में किसको हर्ष नहीं होता है ?

अनन्त चतुष्टयस्वरूप स्वस्थता को नमस्कार

(शार्दूलविक्रीडित)
निःशेषामलशीलसद्गुणमयी,-मत्यन्तसाम्यस्थितां;
वन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं, कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्राऽनन्तचतुष्टयाऽमृत-सरित्याऽऽत्मानमन्तर्गतं;

न प्राप्नोति जरादिदु:सहशिख:, संसारदावानल: ॥107॥
रहें सदा समभावों में जो, निर्मलशील-गुणों की खान ।
आत्म-प्रीतिकर कर्त्तव्यान्तक, आत्मलीनता धर्म महान ॥
जो ज्ञानादि चतुष्टय अमृत,-सरिता में स्नान करें ।
जन्म-जरा-दु:ख दावानल भी, उन्हें दु:खी नहिं कर सकते ॥
अन्वयार्थ : समस्त निर्मल शीलगुण स्वरूप, सर्वथा समतारूप अवस्था में होने वाली, उत्कृष्ट आत्मा से प्रीति कराने वाली, जिसके होने पर किसी प्रकार का कर्तव्य बाकी नहीं रहता - ऐसी स्वस्थता को मैं नमस्कार करता हूँ क्योंकि अनन्त विज्ञानादि अनन्त चतुष्टय-स्वरूप, स्वस्थतारूपी अमृत नदी के भीतर रहने वाली आत्मा को जरा आदि दुःसह शिखा को धारण करने वाला संसाररूपी बड़वानल प्राप्त नहीं हो सकता ।

अनेक प्रकार के आनन्द को उत्पन्न करने वाले चैतन्य को मेरा नमस्कार!

आयातेऽनुभवं भवारिमथने, निर्मुक्तमूर्त्याऽऽश्रये;
शुद्धेऽन्यादृशि सो सूर्यहुतभुक्,-कान्तेरनन्तप्रभे ।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरात्, निःशेषवस्त्वन्तरं;
तद्वन्दे विपुल-प्रमोद-सदनं, चिद्रूपमेकं मह: ॥108॥
जो भवारि-नाशक है अनुभवगम्य देह बिन है अनुपम ।
सूर्यादिक से अधिक प्रभामय, अन्य ज्ञान से रहे अगम ॥
जिसमें अस्त समस्त पराश्रित, आकुलतामय विविध विकल्प ।
विपुल प्रमोद सदन चेतनमय, 'तेजपुञ्ज' को करूँ नमन ॥
अन्वयार्थ : समस्त कर्मादि वैरियों का नाश करने वाला, शरीर आदि के आश्रय से रहित (जिसको किसी प्रकार के शरीर आदि का आश्रय नहीं है), जो शुद्ध है, दूसरे के प्रत्यक्षज्ञान के अगोचर है तथा चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि से भी अनन्तगुनी प्रभा को धारण करने वाला है, जिस चैतन्यस्वरूप उत्कृष्ट तेज के अनुभव होने पर बात ही बात में समस्त पर-पदार्थों का विकल्प अस्त हो जाता है - ऐसे अनेक प्रकार के प्रमोद (आनन्द) को पैदा करने वाले उस चैतन्यस्वरूप तेज को मैं सिर झुका कर नमस्कार करता हूँ ।

अविनाशी सिद्ध भगवान को मेरा नमस्कार !

जातिर्याति न यत्र यत्र च मृतो, मृत्युर्जरा जर्जरा;
जाता यत्र न कर्मकायघटना, नो वाग् न च व्याधयः ।
यत्राऽऽत्मैव परं चकास्ति विशद,-ज्ञानैकमूर्तिः प्रभु:;
नित्यं तत्पदमाश्रिता निरुपमाः, सिद्धाः सदा पान्तु वः ॥109॥
जहाँ न जन्मे जन्म, मृत्यु भी मरी, जरा भी जीर्ण हुई ।
जहाँ न वाणी-व्याधि नहीं, तन-कर्मों का सम्बन्ध नहीं ॥
निर्मल ज्ञान-मूर्ति प्रभु आतम, सदा प्रकाशित होता है ।
शिवपद आश्रित शाश्वत अनुपम, सिद्ध शरण हम लेते हैं ॥
अन्वयार्थ : जहाँ पर न जन्म है, न मरण है, न जरा है; न कर्मों और न शरीर का सम्बन्ध है; न वाणी है और न रोग है, जहाँ पर निर्मल ज्ञान का धारण करने वाला प्रभु आत्मा, सदा प्रकाशमान है - ऐसे उस अविनाशी पद में रहने वाले उपमारहित (जिनको किसी की उपमा ही नहीं दे सकते - ऐसे) सिद्ध भगवान मेरी रक्षा करें (ऐसे सिद्धों की मैं शरण लेता हूँ) ।

अमूर्तिक चैतन्यस्वरूपी आत्मा के बारे में कुछ कहने की प्रतिज्ञा

दुर्लक्ष्येऽपि चिदात्मनि श्रुतबलात्, किञ्चित्स्वसंवेदनात्;
ब्रूः किंचिदिह प्रबोधनिधिभिः,-ग्राह्यं न किञ्चिच्छलम् ।
मोहे राजनि कर्मणामतितरां, प्रौढान्तराये रिपौ;
दृग्बोधावरणद्वये सति मतिः, तादृक्कुतो मादृशाम् ॥110॥
दृष्टि-अगोचर है तथापि, श्रुतबल से या निज अनुभव से ।
कहूँ आत्मा का स्वरूप, विद्वान् न समझें छल इसमें ॥
कर्म-शत्रु का नृपति मोह है, अन्तराय भी महासुभट ।
ज्ञान-दर्शनावरण संग हैं, कैसे मेरी मति उत्कृष्ट ?
अन्वयार्थ : जिस प्रकार अमूर्तिक होने के कारण आकाश आदि किसी के द्वारा देखे नहीं जा सकते, उसी प्रकार यद्यपि यह आत्मा किसी के द्वारा दृष्टिगोचर नहीं है तो भी उस चैतन्य-स्वरूप आत्मा के स्वरूप का शास्त्र के बल से अथवा अपने अनुभव से मैं वर्णन करता हूँ । इसलिए बुद्धिमानों को इसमें किसी प्रकार की दगाबाजी नहीं समझनी चाहिए क्योंकि समस्त कर्मों का राजा मोहनीय, अत्यन्त प्रबल अन्तरायरूपी कर्मशत्रु तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म, अभी मेरी आत्मा के साथ लगे हुए हैं; इसलिए वास्तविक स्वरूप के कहने में मेरी बुद्धि कैसे प्रवीण हो सकती है ?

परमात्मतत्त्व का ज्ञान कराने वाले अत्यन्त दुर्लभ

विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरा,-मुद्दण्डवाग्डम्बराः;
श्रृंगारादिरसैः प्रमोदजनकं, व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो, व्यामोहविस्तारिणो;
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं, ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥111॥
अपने को विद्वान् मान कर, वचनों के आडम्बर से ।
श्रंगारादि रसों से आनन्द-दायक सम्बोधन करते ॥
जन-जन को सन्मार्ग दिखाने वाले हैं नर बहुतेरे ।
परम तत्त्व बतलाने वाले, बड़ी कठिनता से मिलते ॥
अन्वयार्थ : अपने को विद्वान् मान कर, श्रृंगारादि रस सहित नाना प्रकार के प्रमोदजनक व्याख्यानों को कहने वाले, सभा में व्यर्थ वचनों के आडम्बर को धारण करने वाले और मनुष्यों को सन्मार्ग से भुलाने वाले पुरुष, संसार में घर-घर में बहुत मिलेंगे; परन्तु जो परमात्मतत्त्व का ज्ञान देने वाले हैं, ऐसे मनुष्य बड़ी कठिनाई से मिलते हैं ।

वीतरागता-पोषक शास्त्राभ्यास की महिमा

आपद्धेतुषु रागरोषनिकृति,-प्रायेषु दोषेष्वलं;
मोहात्सर्वजनस्य चेतसि सदा, सत्सु स्वभावादपि ।
तन्नाशाय च संविदे च फलवत्, काव्यं कवेर्जायते;
श्रृंगारादिरसं तु सर्वजगतो, मोहाय दुःखाय च ॥112॥
मोहोदय से राग-द्वेष माया एवं लोभादिक दोष ।
प्राय: सबके चित् में स्वाभाविक रहते देखे दु:ख-कोष ॥
काव्य वही है फलदायक जो, इन दोषों का करें विनाश ।
श्रृंगारादिक रस तो सबके, मोह और दु:खमय आवास ॥
अन्वयार्थ : समस्त मनुष्यों के चित्त में नाना प्रकार के दुःख देने वाले राग, द्वेष, माया, क्रोध, लोभ आदि दोष, स्वभाव से ही रहे आते हैं; इसलिए जिस कवि का काव्य, उनको मूल से उड़ाने वाला तथा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने वाला होता है; वास्तव में वही कार्यकारी

समझना चाहिए अर्थात् जिसमें वीतरागता का वर्णन होवे, वही काव्य, फल का देने वाला है । शृंगारादि रस तो समस्त जगत् को मोह उत्पन्न करने वाले तथा दुःख देने वाले हैं; इसलिए भव्यों को चाहिए कि वे वीतराग भाव को दर्शाने वाले शास्त्रों का ही अभ्यास करें ।

रागवर्द्धक शृंगारपोषक शास्त्रों की निन्दा

(वसन्ततिलका)

कालादपि प्रसृतमोह,-महाऽन्धकारे;
मार्गं न पश्यति जनो, जगति प्रशस्तम् ।
क्षुद्राः क्षिपन्ति दृशि दुःश्रुतिधूलिमस्य;
न स्यात्कथं गतिरनिश्चितदुःपथेषु ॥113॥

मोह महातम व्याप्त जगत् में, प्राणी देख सकें न सुमार्ग ।
दुष्ट फेंकते धूल दु:श्रुति तो फिर क्यों नहीं चलें कुमार्ग ?

अन्वयार्थ : अनादि काल से फैले हुए मोहरूपी अन्धकार से व्याप्त इस जगत् में बेचारे मोही जीव, एक तो स्वयमेव ही श्रेष्ठ मार्ग को नहीं देख सकते; यदि किसी रीति से देख भी सकें तो दुष्ट पुरुष उनकी आँखों में शृंगारादि शास्त्र सुना कर धूलि डालते हैं, इसलिए वे जीव, कहाँ तक खोटे मार्ग में गमन नहीं करें ?

स्त्री के घृणित शरीर को 'चन्द्रमुखी' की उपमा देना आश्चर्यकारक

(शार्दूलविक्रीडित)

विण्मूत्रकृमिसंकुले कृतघृणै,-रन्त्रादिभिः पूरिते;
शुक्रासृग्वरयोषितामपि तनु,-र्मातुः कुगर्भेऽजनि ।
साऽपि क्लिष्टरसादिधातुकलिता, पूर्णा मलाद्यैरहो;
चित्रं चन्द्रमुखीति जातमतिभि:, विद्वद्भिरावर्ण्यते ॥114॥

यह नारी-तन नाना कृमि से, भरा मूत्र-विष्टादिक खान ।
घृणाजनक मांसादिक से परिपूर्ण गर्भ में लेता जन्म ॥
उत्तम नारी-तन भी निर्मित, वीर्य और रज से उत्पन्न ।
तो भी नीच कवि कहते हैं, 'चन्द्रमुखी' आश्चर्य महान ॥

अन्वयार्थ : यह स्त्री का शरीर, विष्टा-मूत्र, नाना प्रकार के कीड़ों आदि से व्याप्त, प्रबल घृणा को पैदा करने वाले आँत-मांस आदि से पूरित तथा वीर्य, रक्त आदि से पुष्ट - ऐसे माता के घृणित गर्भ से उत्पन्न हुआ है । स्वयं भी वह स्त्री, नाना प्रकार के खोटे वीर्य-रक्त आदि से बनी हुई है तथा मल आदि से युक्त है तो भी नीच विद्वान् कवि, ऐसी स्त्री को 'चन्द्रमुखी' कहते हैं - यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

स्त्री के मुख-केश-स्तन आदि घृणास्पद स्थान

(शिखरिणी)

कचा यूकावासा, मुखमजिनबद्धास्थिनिचयः;
कुचौ मांसोच्छ्रायौ, जठरमपि विष्ठादिघटिका ।
मलोत्सर्गे यन्त्रं, जघनमबलायाः क्रमयुगं;
तदाधारस्थूणे, किमिह किल रागाय महताम् ॥115॥

केश, जुओं का वास तथा मुख, चर्मयुक्त हाड़ों का जाल ।
स्तन, मांस-पिण्ड हैं एवं जठर, मलादिक का स्थान ॥
योनिस्थल, है मूत्र-वाहिनी, जंघाएँ उसका आधार ।

ऐसी घृणित नारियों से, विद्वान करेंगे कैसे प्यार ?

अन्वयार्थ : स्त्री के केश तो जुओं के घर हैं, मुख चर्म से वेष्टित हाड़ों का समूह है, स्तन मांस के पिण्ड हैं, उदर विष्टा आदि गन्दी चीजों का घर है, योनिस्थान मूत्र आदि के बहने का नाला है और दोनों चरण उस योनिस्थान के ठहरने के लिए खंभों के समान हैं; इसलिए ऐसी घृणित स्त्री में विद्वान् पुरुष, कदापि राग नहीं कर सकते ।

स्त्री से राग छुड़ाने के लिए कामदेवरूपी धीवर का उदाहरण

(द्रुतविलम्बित)

परमधर्मनदाज्जनमीनकान्, शशिमुखीबडिशेन समुद्धृतान् ।

अतिसमुल्लसिते रतिमुर्मुरे; पचति हा हतकः स्मरधीवरः ॥116॥

धीवर-काम, जीव-मछली को, नारीरूपी काँटे से ।

धर्म-सरोवर से निकाल कर, सम्भोगाग्नि में भूँजे ॥

अन्वयार्थ : यह हिंसक कामदेवरूपी धीवर, जीवरूपी मछलियों को उत्कृष्ट धर्मरूपी तालाब से निकाल कर, स्त्रीरूपी मांससहित काँटे पर लटका कर, अत्यन्त प्रज्वलित सम्भोगरूपी अग्नि में भूँजता है - यह बड़े दुःख की बात है ।

स्त्री का रूप, अन्य समस्त दोषों से भयंकर

(शार्दूलविक्रीडित)

येनेदं जगदापदम्बुधिगतं, कुर्वीत मोहो हठात्;

येनैते प्रतिजन्तु हन्तुनसः, क्रोधादयो दुर्जयाः ।

येन भ्रातरियं च संसृतिसरित्, संजायते दुस्तरा;

तज्जानीहि समस्तदोषविषमं, स्त्रीरूपमेतद्ध्रुवम् ॥117॥

जिसके द्वारा मोह जगत् को, दु:ख-समुद्र में डुबा रहा ।

जिससे क्रोधादिक शत्रु भी, जीव-घात में तत्पर हा !

जिसके कारण संसृति-सरिता, हो जाती है यहाँ अथाह ।

हे भ्राता! यह नारीरूप, सब दोषों में ज्येष्ठ कहा ॥

अन्वयार्थ : जिस स्त्री के रूप की सहायता से मोह, जबर्दस्ती मनुष्य को नाना प्रकार के दुःख देता है, उसी रूप की सहायता से समस्त जीवों के नाशक, क्रोधादि कषाय दुर्जय हो जाते हैं, उसी रूप की सहायता से संसाररूपी नदी तिरी नहीं जा सकती, बल्कि वह अथाह हो जाती है; इसलिए हे भव्यों! उस स्त्री के रूप को समस्त दोषों से भी भयंकर समझो ।

इन्द्रिय-विषयों के जाल में फँसने वाले जीवों की मूर्खता

मोहव्याधभटेन संसृतिवने, मुग्धैणबन्धाऽपदे;

पाशाः पंकजलोचनादिविषयाः, सर्वत्र सज्जीकृताः ।

मुग्धास्तत्र पतन्ति तानपि वरा,-नास्थाय वाछन्त्यहो;

हा कष्ट ं परजन्मनेऽपि न विदः, क्वापीति धिङ् मूर्खताम् ॥118॥

मोह-व्याध-भट इस भव-वन में, मूढ़ों को बन्धन दु:खकार ।

नेत्रादिक इन्द्रिय-विषयों का, जाल बिछा कर फँसा रहा ॥

श्रेष्ठ जान कर इन्हें मूढ़जन, पर-भव में भी चाह करें ।

धिक् है इनका मूढ़पना पर, ज्ञानी इनमें नहीं फँसे ॥

अन्वयार्थ : इस संसार-वन में भोले जीवरूपी मृगों को बाँध कर, दुःख देने के लिए मोहरूपी सुभट चिड़ियामार ने सब जगह लोचनादि

विषयरूपी जाल फैला रखे हैं; उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयरूपी जालों को श्रेष्ठ मान कर, भोले जीव उनमें आकर फँस जाते हैं, यह बड़े दुःख की बात है; किन्तु आत्मा के स्वरूप को जानने वाले विद्वान्, स्वप्न में भी उन जालों में नहीं फँसते और परलोक के लिए भी उन विषयों को हितकारी नहीं समझते; इसलिए उन भोले जीवों की मूर्खता के लिए धिक्कार है ।

मोहरूपी वैरी के दु:खद प्रयोग

एतन्मोह-ठक-प्रयोग-विहित,-भ्रान्ति-भ्रमच्चक्षुषा;
पश्यत्येष जनोऽसमंजसमसद्,-बुद्धिर्ध्रुवं व्यापदे ।
अप्येतान्विषयाननन्त-नरक,-क्लेश-प्रदान-स्थिरान्;
यत् शश्वत्सुखसागरानिव सत:,चेतः प्रियान् मन्यते ॥119॥
मोहरूप ठग के प्रयोग से, इसकी दृष्टि हुई भ्रमरूप ।
विषयों को सुखरूप मान कर, भोगे निश्चित कष्ट अनूप ॥
अस्थिर विषय भोग नरकों में, दु:ख अनन्त देने वाले ।
किन्तु मूढ़-मन को वे सुख-सागर-सम प्रिय लगने वाले ॥
अन्वयार्थ : यह कुबुद्धि मनुष्य, मोहरूपी ठग के प्रयोग से उत्पन्न हुए भ्रम से भ्रान्त नेत्रों से विपरीत ही देखता है और विपरीत देखने से नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है तो भी अनन्त नरकों के दुःखों को देने वाले और बिजली के समान चंचल - इन विषयों को स्थिर, निरन्तर सुख को देने वाले और चित्त को प्रिय मानता है ।

मोह को जीतने के लिए ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की आराधना करने की प्रेरणा

संसारेऽत्र घनाटवीपरिसरे, मोहष्ठकः कामिनी-;
क्रोधाद्याश्च तदीयपेटकमिदं, तत्सन्निधौ जायते ।
प्राणी तद्विहितप्रयोगविकलः, तद्वश्यतामागतो;
न स्वं चेतयते लभेत विपदं, ज्ञातुः प्रभोः कथ्यताम् ॥120॥
इस संसार महा अटवी-परिसर में महामोह ठग है ।
जीवों को ठगने की सामग्री क्रोधादि समीप रहे ॥
मोह-मन्त्र से प्राणी उसके, वश में व्याकुल होते हैं ।
निज को जाने बिन दु:ख पाते, अत: जिनेश्वर शरण गहें ॥
अन्वयार्थ : इस संसाररूपी विस्तीर्ण वन में ठग तो मोह है और स्त्री, क्रोध-मान-माया आदि उसके पास प्राणियों को ठगने की सामग्री है । (अर्थात् स्त्री, क्रोध आदि कारणों से ही वह प्राणियों को ठगता है ।) प्राणी, उसके प्रयोग में विकल होकर उसके आधीन पड़े रहते हैं । अपने स्वरूप को भी नहीं जानते हैं तथा नाना प्रकार की आपत्तियों को सहते हैं; इसलिए हे जीव! तुझे उस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा तथा श्री सर्वज्ञदेव का ही आश्रय करना चाहिए ।

मोह-चक्रवर्ती की बड़ी कठोर आज्ञा

ऐश्वर्यादिगुणप्रकाशनतया, मूढा हि ये कुर्वते;
सर्वेषां टिरिटिल्लितानि पुरतः, पश्यन्ति नो व्यापदः ।
विद्युल्लोलमपि स्थिरं परमपि, स्वं पुत्रदाराऽदिकं;
मन्यन्ते यदहो तदत्र विषमं, मोहप्रभो: शासनम् ॥121॥
ऐश्वर्यादि प्रकाशन हेतु, मूढ़ करें पर का उपहास ।
कहें दुर्वचन किन्तु नहीं, देखें नरकादि विपत्ति पास ॥

भिन्न तथा चञ्चल पुत्रादिक, को अपना अरु ध्रुव मानें ।
मोह-चक्रवर्ती की ही यह, आज्ञा महा विषम जानें ॥
अन्वयार्थ : मैं लक्ष्मीवान हूँ, मैं ज्ञानवान हूँ, इत्यादि अपने गुणों को मूढ पुरुष प्रकाशित करते हैं, समस्त पुरुषों के सामने नाना प्रकार की गालियों को बकते हैं, किन्तु आने वाली नरकादि विपत्तियों पर कुछ भी ध्यान नहीं देते । बिजली के समान चञ्चल पुत्र-स्त्री आदि को स्थिर मानते हैं और अपने से भिन्न होने पर भी उनको अपना मानते हैं; इसलिए मोह-चक्रवर्ती की आज्ञा बड़ी कठोर है ।

मोह से मोह तोड़ने की प्रेरणा

(शिखरिणी)
क्व यामः किं कुर्मः, कथमिह सुखं किं च भविता;
कुतो लभ्या लक्ष्मीः, क इह नृपतिः सेव्यत इति ।
विकल्पानां जालं, जडयति मनः पश्यत सतां;
अपि ज्ञातार्थानामिह, महदहो मोहचरितम् ॥122॥
जाएँ कहाँ? करें क्या हम? अरु कैसे सुख हो यही विचार ।
कैसे लक्ष्मी प्राप्त करें, किस राजा की आज्ञा उर धार ?
वस्तुतत्त्व के ज्ञाताजन को, भी हों जाल-विकल्प अहो !
मन को जड़ कर देता हैं यह, मोह-चरित आश्चर्य अहो !!
अन्वयार्थ : हम कहाँ जाएँ? क्या करें? कैसे सुखी हों? किस रीति से लक्ष्मी प्राप्त करें? किस राजा की सेवा-टहल करें? इत्यादि नाना प्रकार के विकल्पों के समूह, संसार में प्राणियों को उत्पन्न होते रहते हैं, भले प्रकार वस्तु के स्वरूप को जानने वाले मनुष्यों के मन को जड़ बना देते हैं - यह प्रत्यक्षगोचर है; इसलिए मोह का चरित्र बड़ा आश्चर्यकारी है ।

जिनधर्म की शरण और निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश मिलना अत्यन्त दुर्लभ

विहाय व्यामोहं, धनसदनतन्वादिविषये;
कुरुध्वं तत्तूर्णं, किमपि निजकार्यं बत बुधाः ।
न येनेदं जन्म, प्रभवति सुनृत्वादिघटना;
पुन: स्यान्न स्याद्वा, किमपरवचोडम्बरशतै: ॥123॥
पुत्र-धनादिक मोह छोड़, हे बुधजन! ऐसा कार्य करो ।
पुनर्जन्म हो नहीं क्योंकि यह, कुल-गुरु-धर्म मिले न मिलें ॥
अन्वयार्थ : अरे बुद्धिमानों! विशेष कहाँ तक कहें? शीघ्र ही स्त्री-पुत्र-धन-घर आदि पदार्थों से मोह छोड़ कर - ऐसा कोई काम करो, जिससे तुको फिर जन्म न धारण करना पड़े क्योंकि नहीं मालू फिर उत्तम कुल, जिनधर्म की शरण, निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश आदि मिलें या नहीं मिलें ।

वीतराग-सर्वज्ञ का वचन ही प्रमाणभूत

(स्रग्धरा)
वाचस्तस्य प्रमाणं, य इह जिनपतिः, सर्वविद्वीतरागो;
रागद्वेषाऽदिदोषै:, उपहतमनसो, नेतरस्याऽनृतत्वात् ।
एतन्निश्चित्यचित्ते, श्रयत बत बुधा, विश्वतत्त्वोपलब्ध्यै;
मुक्तेर्मूलं तमेकं, भ्रमति किमु बहुष्वन्धवद् दुष्पथेषु ॥124॥
वीतराग-सर्वज्ञ जिनेश्वर, के ही वचन प्रमाण कहें ।

रागी अरु अल्पज्ञ वचन हैं, असत् अत: अप्रामाणिक हैं ॥
यह निश्चय कर हे बुधजन! कैवल्य-प्राप्ति के लिए अहो ।
मुक्ति-मूल जिन-शरण गहो, क्यों अन्ध बने दुष्पथ भटको ॥

अन्वयार्थ : जो समस्त पदार्थों को अच्छी तरह जानने वाला है, वीतराग है और ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों से रहित है, उसी का वाक्य प्रमाण है; किन्तु उससे विपरीत जो अल्पज्ञानी रागी आदि हैं, उनका वचन असत्य होने से प्रमाण नहीं है - ऐसा मन में ठानकर, हे पण्डितों! केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए मुक्ति के देने वाले उन अर्हन्त का ही आश्रय करो । क्यों व्यर्थ अन्धे के समान जहाँ-तहाँ खोटे मार्ग में गिरते-पड़ते हो?

सर्वज्ञ के वचनों में सन्देह नहीं करने का उपदेश

(वसन्ततिलका)
यः कल्पयेत्, किमपि सर्वविदोऽपि वाचि;
सन्दिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्ध्या ।
खे पत्रिणां, विचरतां सुदृशेक्षितानां;
संख्यां प्रति, प्रविदधाति स वादमन्ध: ॥125॥
ज्यों अन्ध होय पक्षी गिनने में, नेत्र सहित से करे विवाद ।
जिनवच में विपरीत कल्पना, कर करें मूढ़ त्यों विसंवाद ॥

अन्वयार्थ : जो मूढ़, सर्वज्ञ के वचन में भी सन्देह कर, अपनी बुद्धि से अपरमार्थभूत तत्त्वों की मनगढ़न्त कल्पना करता है, वह वैसा काम करता है कि जैसे कोई अन्धा मनुष्य, आकाश में जाते हुए पक्षियों की गिनती में अच्छे नेत्रवाले पुरुष के साथ विवाद करता है ।

दोनों प्रकार के श्रुत में कहा है - 'आत्मा ही ग्राह्य'

(इन्द्रवज्रा)
उक्तं जिनैर्द्वादशभेदमङ्गं; श्रुतं ततो बाह्यमनन्तभेदम् ।
तस्मिन्नुपादेयतया चिदात्मा; तत: परं हेयतयाऽभ्यधायि ॥126॥
द्वादश भेद अंगश्रुत के हैं, अंगबाह्य के भेद अनन्त ।
उनमें उपादेय चिद् आतम, अन्य हेय कहते भगवन्त ॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र भगवान ने श्रुत के दो भेद कहे हैं - एक अंगश्रुत, दूसरा बाह्यश्रुत; उनमें अंगश्रुत, बारह प्रकार का कहा है और बाह्यश्रुत के अनन्त भेद कहे हैं, परन्तु उन दोनों श्रुतों में ज्ञान-दर्शनशाली आत्मा ही ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहा है और उससे जुदे समस्त पदार्थ हेय (त्यागने योग्य) कहे हैं ।

आत्महितकारी श्रुत का अभ्यास करने में प्रयत्न आवश्यक

अल्पायुषामल्पधियामिदानीं; कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः ।
तदत्र मुक्तिं प्रतिबीजमात्र-मभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात् ॥127॥
अल्प-आयु-बुद्धि होने से शक्ति कहाँ सब श्रुत-अभ्यास ।
अत: मुक्ति के बीज आत्म-हितकारी श्रुत का हो अभ्यास ॥

अन्वयार्थ : इस पंचम काल में ज्ञान आयु आदि के निरन्तर क्षीण होने से मनुष्य, अल्पायु तथा अल्पज्ञान के धारी रह गये हैं, इसलिए वे समस्त श्रुत का अभ्यास नहीं कर सकते; अतः जो पुरुष, मोक्ष के अभिलाषी हैं, उनको मुक्ति के देने वाले तथा आत्मा के हितकारी श्रुत का तो अवश्य ही बड़े प्रयत्न के साथ अभ्यास करना चाहिए ।

जिनेन्द्र के वचनों में संशय करना व्यर्थ

(स्रग्धरा)

निश्चेतव्यो जिनेन्द्रः, तदतुलवचसां, गोचरेऽर्थे परोक्षे;
कार्यः सोऽपि प्रमाणं, वदत किमरेणाऽत्र कोलाहलेन ।
सत्यां छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा;
भो भो भव्या! यतध्वं, दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाजः ॥128॥
निर्णय करो जिनेश्वर का अरु, उनसे कथित परोक्ष पदार्थ ।
के निर्णय में वही प्रामाणिक, अन्य सभी कोलाहल व्यर्थ ॥
अल्पज्ञान में जिन-वचनों से, स्वानुभूति कर बोध लहो ।
दर्श-ज्ञाननिधिमय निजात्म में, अहो भव्य! तुम प्रीति करो ॥

अन्वयार्थ : सर्व प्रथम 'जिनेन्द्र हैं'- ऐसा विश्वास अवश्य करना चाहिए । जो पदार्थ, सूक्ष्म तथा दूर होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र ने उनका वर्णन अपनी दिव्यध्वनि में किया है तो वे भी अवश्य हैं - ऐसा मानना चाहिए । जिनेन्द्र अथवा जिनेन्द्र के वचन में व्यर्थ संशय करना ठीक नहीं क्योंकि इस काल में समस्त जीव अल्पज्ञान के धारी हैं; इसलिए जिन भगवान द्वारा कहे हुए सिद्धान्त मार्ग का अनुसरण करके स्वानुभव को प्राप्त कर, सदा प्रबुद्ध रहने वाले और अपनी आत्मा में प्रीति को भजने वाले हे भव्यजीवों! तुम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी निधि में अवश्य यत्न करो ।

ज्ञानस्वरूप आत्मा की आराधना का उपदेश

(आर्या)

तद्ध्यायत तात्पर्यात्, ज्योतिः सच्चिन्मयं विना यस्मात् ।
सदपि न सत्सति यस्मिन्, निश्चितमाभासते विश्वम् ॥129॥
जिस चैतन्य-ज्योति बिन सत् भी, हो जाता है असत् समान ।
जिसमें जग प्रतिभासित होता, करो उसी ज्योति का ध्यान ॥

अन्वयार्थ : जिस श्रेष्ठ तथा ज्ञानस्वरूप चैतन्य के बिना समस्त पदार्थ विद्यमान होने पर भी अविद्यमान के समान हैं और जिस चैतन्य के होने पर समस्त पदार्थों का प्रकट रीति से प्रतिभास होता है - ऐसे ज्ञानस्वरूपी आत्म-ज्योति की भव्य जीवों को अवश्य आराधना तथा उपासना करनी चाहिए ।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे...

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति, स्वं कर्म तस्माद्बहु;
स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना, ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात् ।
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोऽपि हि पदं, नेष्टं तपः स्यन्दनो;
नेयं तन्नयति प्रभुं स्फुटतर,-ज्ञानैकसूतोज्झित: ॥130॥
कोटि भवों में अज्ञानी, जितने कर्मों को नष्ट करे ।
संवर में स्थिर-चित् ज्ञानी, क्षण भर में ही सब नष्ट करे ॥
जिस तप-रथ में क्लेश-अश्व है, ज्ञान-सारथी किन्तु नहीं ।
वह तप-रथ चेतन राजा को, शिवपुर पहुँचा सकें नहीं ॥

अन्वयार्थ : अज्ञानी जीव, कठोर तप आदि के द्वारा जितने कर्मों को करोड़ों वर्षों में क्षय करता है, उससे अधिक कर्मों को संवर का धारी ज्ञानी जीव, क्षणमात्र में स्थिर मन होकर, क्षय कर देता है, सो ठीक ही है क्योंकि जिस तपरूपी रथ में तीक्ष्ण क्लेशरूपी घोड़े लगे हुए हैं,

किन्तु ज्ञानरूपी सारथी नहीं है तो वह तपरूपी रथ, कदापि आत्मारूपी प्रभु को मोक्ष-स्थान में नहीं ले जा सकता ।

कर्मरूपी समुद्र को पार करने के लिए ज्ञानरूपी जहाज ही समर्थ

(स्रग्धरा)

कर्माब्धौ तद्विचित्रोदयलहरिभर,-व्याकुले व्यापदुग्र-;

भ्राम्यन् नक्रादिकीर्णे, मृतिजननलसद्बाडवावर्तगर्ते ।

मुक्तः शक्त्या हताङ्गः, प्रतिगति स पुान्, मज्जनोन्मज्जनाभ्या;

मप्राप्य ज्ञानपोतं, तदनुगतजडः, पारगामी कथं स्यात् ॥131॥

उदय लहर से व्याकुल है यह, कर्मोदधि जिसमें विचरे ।

तीव्र दु:खों के मगरमच्छ हैं, जन्म-मरण बड़वानल है ॥

ऊपर नीचे उतराता है जिसका तन अति क्षीण अरे ।

जब तक ज्ञान जहाज मिले नहीं कैसे भवदधि पार करें ॥

अन्वयार्थ : यह कर्म, एक प्रकार का बड़ा भारी समुद्र है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र अनेक लहरों से व्याप्त है; उसी प्रकार यह कर्मरूपी समुद्र भी अनेक उदयरूप लहरों से व्याप्त है । जिस प्रकार समुद्र में नाना प्रकार के भयंकर मगरमच्छादि हुआ करते हैं; उसी प्रकार इस कर्मरूपी समुद्र में भी इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि नाना प्रकार की आपत्तिरूप मगरमच्छादि विद्यमान हैं । जिस प्रकार समुद्र में बड़वानल, भँवर के गड्ढे आदि हुआ करते हैं; उसी प्रकार इस कर्मरूपी समुद्र में भी नाना प्रकार के जन्म, मरण आदि बड़वानल, भँवर आदि रहते हैं; इसलिए ऐसे भयंकर समुद्र में शक्तिहीन तथा अनादिकाल से सर्वत्र गोता खाता हुआ मनुष्य, जब तक ज्ञानरूपी अनुकूल जहाज को प्राप्त नहीं करेगा, तब तक उसे कदापि पार नहीं कर सकता ।

जिनवाणीरूपी दीपक से ही इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार

(शार्दूलविक्रीडित)

शश्वन्मोहमहान्धकारकलिते, त्रैलोक्यसद्मन्यसौ;

जैनी वागमलप्रदीपकलिका, न स्याद्यदि द्योतिका ।

भावानामुपलब्धिरेव न भवेत्, सम्यक् तदिष्टेतर-;

प्राप्तित्यागकृते पुनस्तनुभृतां, दूरे मतिस्तादृशी ॥132॥

इस त्रैलोक्य भवन में शाश्वत, महा मोहतम व्याप्त अरे !

निर्मल दीप-शिखा जिनवाणी, का यदि नहीं प्रकाश मिले ॥

तो यह जीव समस्त वस्तु का, कैसे पाता सम्यग्ज्ञान? ।

कैसे होता इष्ट वस्तु का ग्रहण, अन्य का त्याग विधान ?

अन्वयार्थ : मोहरूपी गाढ़ अन्धकार से व्याप्त इस तीन लोकरूपी मकान में प्रकाश करनेवाला, यदि यह भगवान की वाणीरूपी दीपक न होता तो इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार तो दूर रहो, मनुष्यों को पदार्थों का ज्ञान भी नहीं होता ।

आत्मा ही परम धर्म

(मन्दाक्रान्ता)

शान्ते कर्मण्युचितसकल,-क्षेत्रकालादिहेतौ;

लब्ध्वा स्वास्थ्यं, कथमपि लसद्योगमुद्राविशेषम् ।

आत्मा धर्मो, यदयमसुख,-स्फीतसंसारगर्तात्;

उद्धृत्य स्वं, सुखमयपदे, धारयत्याऽऽत्मनैव ॥133॥

योग्य क्षेत्र-कालादि हेतु से, कर्मोदय जब हो उपशान्त ।
आत्मध्यान मुद्रा धारण कर, निजस्वरूप में ले विश्राम ॥
दु:खमय इस संसार गर्त से, उत्तम सुख में पहुँचाता ।
अपने को अपने से आत्मा, अत: आत्मा धर्म कहा ॥

अन्वयार्थ : समस्त कर्मों के उपशम होने पर तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप योग्य सामग्री के मिलने पर, जब यह आत्मा ध्यान में लीन होकर, अपने स्वरूप का चिन्तवन करता है; उस समय नाना दुःखों के देने वाले संसाररूपी गड्ढे से छूट कर, अपने से ही अपने को उत्तम सुख में पहुँचाता है; इसलिए आत्मा के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है ।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप का स्याद्वाद पद्धति से अनेकान्तात्मक वर्णन

(शार्दूलविक्रीडित)
नो शून्यो न जडो न भूतजनितो, नो कर्तृभावं गतो;
नैको न क्षणिको न विश्ववितत़ो, नित्यो न चैकान्ततः ।
आत्मा कायमितिश्चिदेकनिलयः, कर्ता च भोक्ता स्वयं;
संयुक्त: स्थिरताविनाशजननै:, प्रत्येकमेकक्षणे ॥134॥
शून्य नहीं जड़ नहीं न कर्ता, पञ्चभूत से हुआ नहीं ।
नहीं सर्वथा एक क्षणिक, नहिं विश्वव्यापि नहिं नित्य नहीं ॥
तन-प्रमाण चैतन्यरूप यह, कर्ता-भोक्ता स्वयं कहा ।
प्रतिक्षण है उत्पाद-ध्रौव्य-व्ययरूप सदा जिनदेव कहा ॥

अन्वयार्थ : एकान्त से न आत्मा शून्य है, न जड़ है, न पञ्चभूत से उत्पन्न हुआ है, न कर्ता है, न एक है, न क्षणिक है, न लोक-व्यापी है, न नित्य है; किन्तु अपने शरीर के परिमाण है, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का आधार है, अपने कर्मों का कर्ता है, अपने ही कर्मों का भोक्ता है तथा एक ही समय में सदाकाल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - इन तीन धर्मों से सहित है ।

आत्मा में ही उसके वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने की सामर्थ्य

क्वात्मा तिष्ठति कीदृशः स कलितः, केनाऽत्र यस्येदृशी;
भ्रान्तिस्तत्र विकल्पसम्भृतमना, य: कोऽपि स ज्ञायताम् ।
किञ्चाऽन्यस्य कुतो मतिः परमियं, भ्रान्ताऽशुभात्कर्मणो;
नीत्वा नाशमुपायतस्तदखिलं, जानाति ज्ञाता प्रभु: ॥135॥
कहाँ आत्मा कैसा है यह, किसने जाना भली प्रकार ?
हो उत्पन्न विकल्प जिसे वह, ही आत्मा नहिं कोई अन्य ॥
जड़ में उठे न ऐसी शंका, अशुभोदय से भ्रान्ति सहित ।
भ्रान्ति नाश का कर उपाय यह, आत्मा जाने विश्व समस्त ॥

अन्वयार्थ : आत्मा को नहीं जानने वाला यदि कोई मनुष्य, किसी को पूछे कि आत्मा कहाँ रहता है? कैसा है? कहाँ है? कौन आत्मा को भलीभाँति जानता है? तो उसको यही कहना चाहिए कि जिसमें, कैसा है? कहाँ है? इत्यादि विकल्प उठ रहे हैं, वही आत्मा है, उससे अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है क्योंकि जड़ शरीर आदि में, कैसा है? कहाँ है? इत्यादि बुद्धि कदापि नहीं हो सकती । अशुभ कर्मों के कारण जीवों की बुद्धि भ्रान्त हो रही है, इसलिए जब यह आत्मा, उन कर्मों को मूल से नाश कर देता है, उस समय अपने आप ही यह अपने स्वरूप को तथा दूसरे पदार्थों को जानने लग जाता है; अत: आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानने के अभिलाषियों को तप आदि के द्वारा कर्मों के नाश करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए ।

'मैं जानता हूँ', 'मैं करता हूँ'....इत्यादि प्रतीतियों से ज्ञात आत्मा

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि, स्थित्वापि दुर्लक्षतां;
प्राप्तोऽपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः सन्ततम् ।
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरो:,-भ्रान्तिः समुत्सृज्यता-;
मन्त: पश्यत निश्चलेन मनसा, तं तन्मुखाक्षव्रजा: ॥136॥
देहस्थित बिनमूर्ति आत्मा, अत: प्रत्यक्ष नहीं दिखता ।
लेकिन 'मैं' ऐसी प्रतीति से, स्पष्टतया जाना जाता॥
गुरु-वचनों से भ्रान्ति तजो, क्यों व्यर्थ बाह्य में मोह करो ।
मन-इन्द्रिय को निश्चल करके, अन्तर में आत्मा देखो ॥

अन्वयार्थ : इस आत्मा की कोई मूर्ति नहीं है तो भी यह शरीर के भीतर ही रहता है । इसको प्रत्यक्ष देखना अत्यन्त कठिन है तो भी 'अहं जानामि', 'अहं करोमि'...... अर्थात् 'मैं जानता हूँ', 'मैं करता हूँ'....., इत्यादि प्रतीतियों से यह स्पष्ट रीति से जाना जाता है, गुरु आदि के उपदेश से भी भलीभाँति इसका ज्ञान होता है; अतः हे भव्य जीवों! मन तथा इन्द्रियों को निश्चल कर, अपने अभ्यन्तर में इस आत्मा का अनुभव करो । क्यों व्यर्थ ही बाह्य पदार्थों में मोह करते हो?

आत्मा को अनेकान्तस्वरूप नहीं मानने पर अनेक आपत्तियाँ

व्यापी नैव शरीर एव यदसा,-वात्मा स्फुरत्यन्वहं;
भूतानन्वयतो न भूतजनितो, ज्ञानी प्रकृत्या यतः ।
नित्ये वा क्षणिकेऽथवा न कथमप्यर्थक्रिया युज्यते;
तत्रैकत्वमपि प्रमाणदृढया, भेदप्रतीत्याऽऽहतम् ॥137॥
क्योंकि आत्मा रहे देह में, अत: नहीं जगव्यापी है ।
पञ्चभूत से हुआ नहीं, यह तो स्वभाव से ज्ञानी है ॥
नहीं सर्वथा नित्य, क्षणिक भी, **अर्थ**क्रिया अन्यथा नहीं ।
दृढ़ प्रमाण से भेदप्रतीति, अत: सर्वथा एक नहीं ॥

अन्वयार्थ : यह आत्मा, निरन्तर शरीर में ही रहता हुआ मालूम पड़ता है, इसलिए वह व्यापक नहीं है । स्वभाव से ही यह ज्ञानी (ज्ञाता) है, इसलिए यह पृथ्वी-जल-अग्नि आदि पाँच भूतों (पदार्थों) से भी पैदा हुआ नहीं मालूम होता । यह सर्वथा नित्य भी नहीं क्योंकि नित्य में किसी प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता तथा आत्मा के तो क्रोधादि परिणाम भलीभाँति अनुभव में आते हैं । यह आत्मा, सर्वथा क्षणिक भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर यदि यह द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाएगा तो किसी प्रकार की क्रिया इसमें नहीं हो सकती । आत्मा एकस्वरूप भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि कभी क्रोधी, कभी लोभी इत्यादि अनेक पर्यायें आत्मा की मालूम होती हैं ।

आत्मा ही शुभाशुभकर्मों का कर्ता एवं उनके फल का भोक्ता

कुर्यात्कर्म शुभाशुभं स्वयमसौ, भुक्ते स्वयं तत्फलं;
सातासातगतानुभूतिकलना,-दात्मा न चाऽन्यादृश: ।
चिद्रूप: स्थितिजन्मभङ्गकलितः, कर्मावृतः संसृतौ;
मुक्तौ ज्ञानदृगेकमूर्तिरमल:,त्रैलोक्यचूडामणिः ॥138॥
कर्म शुभाशुभ स्वयं करे यह, स्वयं भोगता उनका फल ।
उदय असाता-साता में यह, किन्तु न कर्ता-भोक्ता अन्य ॥
ध्रौव्योत्पाद-विनाशमयी, चिद्रूप-कर्म-संग-संसृति में ।
किन्तु ज्ञान-दृग मूर्ति कर्म बिन, लोक-शिखर पर मुक्ति में ॥

अन्वयार्थ : यह आत्मा, शुभ-अशुभ कर्मों को निरन्तर करता रहता है । साता-असाता वेदनीयकर्म के उदय से स्वयं उनका फल भोगता है, किन्तु अन्य कोई कर्ता-भोक्ता नहीं । यह आत्मा, सदा चैतन्यस्वरूप है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों धर्मों से सहित है और संसारावस्था में यह कर्मों से आवृत्त है, परन्तु मोक्ष अवस्था में इसके साथ किसी कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । यह आत्मा, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का धारक है और तीनों लोक के शिखर पर विराजता है ।

नय-प्रमाण आदि के द्वारा आत्मा को भलिभाँति जानने की प्रेरणा

(वसन्ततिलका)

आत्मानमेवमधिगम्य नयप्रमाण-;
निक्षेपकादिभिरभिश्रयतैकचित्ताः ।
भव्या यदीच्छत भवार्णवमुत्तरीतु-;
मुत्तुङ्गमोहमकरोग्रतरं गभीरम् ॥139॥
मोह-मगरयुत गहन भवोदधि, से यदि तुम तिरना चाहो ।
नय-प्रमाण-निक्षेप आदि से, मात्र आत्मा को जानो ॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीवों! यदि तुम मोहरूपी मगर से सहित गम्भीर संसाररूपी समुद्र को तिरने की इच्छा करते हो तो एकचित्त होकर, नय-प्रमाण तथा नाम-स्थापना आदि के द्वारा आत्मा को भलीभाँति जानो और उसी का आश्रय करो ।

मोक्षसुख के अभिलाषी को राग-द्वेष का त्याग करना आवश्यक

(मालिनी)

भवरिपुरिह तावद् दुःखदो यावदात्मन्;
तव विनिहितधामा कर्मसंश्लेषदोषः ।
स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ;
झटिति शिवसुखार्थी यत्नतस्तौ जहीहि ॥140॥
ज्ञान-तेज नाशक कर्मों का, बन्धन जग में दु:ख देता ।
राग-द्वेष से कर्म-बन्ध है, सुख के लिए इन्हें तजना ॥

अन्वयार्थ : अरे आत्मा! जब तक तेरे साथ समस्त तेज (चैतन्य) को मूल से उड़ाने वाला कर्मों का बन्ध लगा हुआ है; तब तक तुझको यह संसाररूपी बैरी, नाना प्रकार के दुःखों को देने वाला है; वह संसाररूपी बैरी, राग-द्वेष से उत्पन्न होता है; इसलिए यदि तू मोक्ष-सुख का अभिलाषी है तो शीघ्र ही राग-द्वेष का त्याग कर, जिससे तेरी आत्मा के साथ कर्म का बन्ध नही रहे तथा तुझे संसार के दुःख न भोगना पड़ें ।

अपने स्वरूप से दूर नहीं रहने का उपदेश

(स्रग्धरा)

लोकस्य त्वं न कश्चित्, न स तव यदिह, स्वार्जितं भुज्यते कः;
सम्बन्धस्तेन सार्धं, तदसति सति वा, तत्र कौ रोषतोषौ ।
कायेऽप्येवं जडत्वात्, तदनुगतसुखा-दावपि ध्वंसभावा-;
देवं निश्चित्य हंस, स्वबलमनुसर, स्थायि मा पश्य पार्श्वं ॥141॥
तुम न किसी के कोई न तेरा, स्वयं शुभाशुभ कर्म करे ।
अत: वृथा सम्बन्ध अन्य से, रोष-तोष भी व्यर्थ अरे !
तन जड़, क्षणभङ्गुर इन्द्रिय-सुख, राग-द्वेष इनमें न करो ।

अत: स्व-बल का आराधन कर नहीं पड़ौसी को देखो ॥

अन्वयार्थ : भो आत्मन् ! न तो तू लोक का है और न तेरा ही लोक है, तू ही शुभ-अशुभ को उत्पन्न करता है और तू ही उसको भोगता है; अत: इस लोक के साथ सम्बन्ध करना वृथा है । लोक न होने पर दुःख तथा लोक के होने पर सन्तोष करना भी व्यर्थ है । शरीर तो जड़ है, इसलिए इसके साथ क्रोध या सन्तोष करना भी बिना प्रयोजन का है ।

इन्द्रिय आदि पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुख विनाशीक है, इसलिए इसके साथ रोष या सन्तोष मानना निष्प्रयोजन है - ऐसा भलीभाँति विचार कर, तुझे अपने बल जो अनन्त ज्ञानादिक हैं, उनकी आराधना करनी चाहिए और तुझे अपने स्वरूप से दूर नहीं रहना चाहिए (अपने अन्तरंग मे प्रवेश कर), तुझे समस्त परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए ।

नरक-तिर्यञ्चादि गति के समान देवगति भी अधोगमन की कारण

(शार्दूलविक्रीडित)

आस्तामन्यगतौ प्रतिक्षणलसद्, दुःखाश्रितायामहो;
देवत्वेऽपि न शान्तिरस्ति भवतो, रम्येऽणिमादिश्रिया ।
यत्तस्मादपि मृत्युकालकलया-ऽधस्ताद्धठात्पात्यसे;
तत्तन्नित्यपदं प्रति प्रतिदिनं, रे जीव! यत्नं कुरु ॥142॥
अन्य गति में प्रतिक्षण होने, वाले दु:ख तो दूर रहो ।
अणिमादिक लक्ष्मी से शोभित देवों को भी शान्ति नहीं ॥
मरण-समय में वे स्वर्गों से, भू पर पटके जाते हैं ।
अत: नित्य शिवपद-प्राप्ति के लिए भव्यजन यत्न करें ॥

अन्वयार्थ : जहाँ प्रतिक्षण दुःख ही दुःख है - ऐसी नरक, तिर्यंचादि गति तो दूर ही रहो, परन्तु जहाँ पर सदा अणिमा-महिमा आदि लक्ष्मी निवास करती हैं - ऐसी देवगति में भी तेरे लिए अंशमात्र भी सुख नहीं है क्योंकि मरण की बेला वहाँ से भी तुझे जबरदस्ती नीचे गिरा देती है अर्थात् मृत्यु के समय स्वर्ग से भी नीचे गिरना पड़ता है; इसलिए हे जीव! तुझे अविनाशी मोक्ष पद के लिए ही सदा प्रयत्न करना चाहिए ।

अरे मन! स्त्री आदि का राग छोड़ कर, अपने अन्तरंग में प्रवेश कर!

यद् दृष्टं बहिरंगनादिषु चिरं, तत्राऽनुरागोऽभवत्;
भ्रान्त्या भूरि तथापि ताम्यसि ततो, मुक्त्वा तदन्तर्विश ।
चेतस्तत्र गुरोः प्रबोधवसते:, किञ्चित्तदाकर्ण्यते;
प्राप्ते यत्र समस्तदुःखविरमात्, लभ्येत नित्यं सुखम्॥143॥
बाह्य वस्तुओं को ही देखा, अत: छोड़ उनसे अनुराग ।
उससे ही तू दु:खी हुआ है, छोड़ दे सबसे अब राग ॥
ज्ञानोदधि गुरु के वचनों को, सुन कर निज अन्तर में देख ।
जिससे सब दु:ख हों विनष्ट अरु, नित्य मोक्षसुख तुझे मिले ॥

अन्वयार्थ : अरे मन! चिर काल से तूने बाह्य स्त्री आदि पदार्थों को देखा है; इसलिए भ्रम से तुझे उनमें अनुराग होता है, उसी अनुराग से सदा तू दुःखित होता है; अत: स्त्री आदि से राग छोड़ कर, तू अपने अन्तरंग में प्रवेश कर । ज्ञान के सागर श्री परम गुरु से ऐसा कोई उपदेश सुन, जिससे तेरे समस्त दुःखों का नाश हो जाए तथा तुझे अविनाशी सुख की प्राप्ति हो ।

आत्मा का दर्शन करने की पात्रता

(पृथ्वी)

किमाल-कोलाहलै,-रमल-बोध-सम्पन्निधेः;
समस्ति यदि कौतुकं, किल तवात्मनो दर्शने ।
निरुद्धसकलेन्द्रियो, रहसि मुक्तसंगग्रह:;
कियन्त्यपि दिनान्यतः, स्थिरमना भवान् पश्यतु ॥144॥
निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्म के, दर्शन का यदि कौतुक हो ।
परिग्रह तज इन्द्रिय-निग्रह कर, थिर चित् हो एकान्त वसो ॥
अन्वयार्थ : यदि तू समस्त निर्मल ज्ञान के धारी आत्मा को देखने की इच्छा करता है तो तुझे समस्त स्पर्शनादि इन्द्रियों को रोक कर, समस्त प्रकार के परिग्रह से मुक्त होकर, कुछ दिन एकान्त में बैठ कर तथा स्थिर-मन होकर, उसको देखना चाहिए; व्यर्थ कोलाहल करने में क्या रखा है ?

जीव और मन का परस्पर आत्मकल्याणकारी संवाद

(शार्दूलविक्रीडित)
भो चेतः किमु जीव तिष्ठसि कथं, चिन्तास्थितं सा कुतो;
रागद्वेषवशात्तयोः परिचय:, कस्माच्च जातस्तव ।
इष्टाऽनिष्टसमागमादिति यदि, श्वभ्रं तदावां गतौ:;
नो चेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरा,-दिष्टादिसंकल्पनम् ॥145॥
जीव कहे 'रे मन! कैसे हो' 'चिन्ता से मैं दु:खी हुआ' ।
'चिन्ता कैसे?' 'राग-द्वेष से' 'कैसे परिचय उनसे हा' !
'इष्ट-अनिष्ट समागम से ही राग-द्वेष का परिचय हो' ।
नरक न जाना हो दोनों को, तो पर से सम्बन्ध तजो ॥
अन्वयार्थ : जीव - 'रे मन! तू कैसे रहता है?'
मन - 'मैं सदा चिन्ता में व्यग्र रहता हूँ ।'
जीव - 'तुझे चिन्ता क्यों है?'
मन - 'राग-द्वेष के कारण मुझे चिन्ता है ।'
जीव - 'तेरा इनके साथ परिचय कैसे हुआ?'
मन - 'भली-बुरी वस्तुओं के सम्बन्ध से राग-द्वेष का परिचय हुआ है ।'
जीव - 'हे मन! यदि ऐसी बात है तो शीघ्र ही भली-बुरी वस्तुओं के सम्बन्ध को छोड़ो । नहीं तो हम दोनों को नरक में जाना पड़ेगा ।'

आत्मा के स्मरण मात्र से नाना प्रकार का आनन्द

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो, भेदः समुत्पद्यते;
सानन्दा कृतकृत्यता च सहसा, स्वान्ते समुन्मीलति ।
यस्यैकस्मृतिमात्रतोऽपि भगवान् अत्रैव देहान्तरे;
देवस्तिष्ठति मृग्यतां सरभसात् अन्यत्र किं धावत ॥146॥
ज्ञान-ज्योति का उदय, मोहतम विघटे, जिसके सुमिरन से ।
अन्तर में आनन्द उछले, कृतकृत्यपना सहसा भासे ॥
ऐसा वह भगवान आत्मा, तन-मन्दिर में रहा विराज ।
व्यर्थ खोजते क्यों बाहर में, अन्तर में ही देखो आज ॥
अन्वयार्थ : जिस एक आत्मा के स्मरण मात्र से सम्यग्ज्ञानरूपी तेज का उदय होता है, मोहरूपी अन्धकार दूर हो जाता है, चित्त में नाना

प्रकार का आनन्द होता है तथा चित्त में कृतकृत्यता भी उदित हो जाती है; ऐसी अनन्त शक्ति का धारक भगवान् आत्मा, इसी शरीर में निवास करता है, उसको ढूँढो; व्यर्थ क्यों दूसरी जगह अज्ञानी होकर फिरते हो?

बाह्य पदार्थों में बुद्धि दौड़ाने से ही दु:खों की परम्परा

जीवाजीव-विचित्र-वस्तु-विविधाऽऽकारर्द्धि-रूपादयो;
रागद्वेषकृतोऽत्र मोहवशतो, दृष्टाः श्रुताः सेविताः ।
जातास्ते दृढबन्धनं चिरमतो, दुःखं तवाऽऽत्मन्निदं;
जानात्येव तथापि किं बहिरसा,-वद्यापि धीर्धावति ॥147॥
जीव-अजीव विचित्र वस्तुएँ, उनके रूपादिक आकार ।
मोहोदयवश राग-द्वेष, होते हैं उनसे बारम्बार ॥
देखा सुना और सेया है, उनसे तो चिर दु:खी हुआ ।
जान रहा पर बुद्धि आज भी, पर में दौड़े अचरज हा !

अन्वयार्थ : अरे जीव! इस संसार में चेतन-अचेतनस्वरूप नाना प्रकार के पदार्थ, नाना प्रकार के आकार, भाँति-भाँति की सम्पदा तथा रूप रस आदि सभी, मोह के कारण से रागद्वेष को करने वाले हैं, वे मोह के कारण ही देखे गये हैं, सुने गये हैं तथा सेवन किये गये हैं और इसी कारण मोह के कारण चिर काल तक वे सभी पदार्थ, तेरे लिए दृढ़ बन्धनरूप हुए हैं । दृढ़ बन्धन से ही तुझे नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़े हैं - ऐसा भलीभाँति जानते हुए भी तेरी बुद्धि बाह्य पदार्थों मे ही दौडती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है !

संसार से निर्भय करनेवाला विचार

भिन्नोऽहं वपुषो बहिर्मलकृता,-न्नानाविकल्पौघतः;
शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिरमलः, शान्तः सदानन्दभाक् ।
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं, साम्यादनारम्भिणः;
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः ॥148॥
मल से बनी देह से एवं, सब विकल्प वाणी से भिन्न ।
निर्मल चेतन मुक्ति शान्तमय, उछलें नित आनन्द तरंग ॥
जिसकी दृढ़ श्रद्धा दृढ़तर चित्, समता से आरम्भ-विहीन ।
फिर भी यदि भय रहे जगत् में, अन्य कहीं भयमुक्त नहीं ॥

अन्वयार्थ : नाना प्रकार के विष्टा-मूत्र आदि मल के घर इस शरीर से मैं भिन्न हूँ । मन में उठने वाले नाना प्रकार के विकल्पों से भी मैं भिन्न हूँ । शब्द-रस आदि से भी मैं भिन्न हूँ । मेरी एक चैतन्यमयी मूर्ति है । मैं समस्त प्रकार के मल से रहित हूँ । क्रोधादि के अभाव से मैं शान्त हूँ । सदाकाल आनन्द का भजने वाला हूँ । इस प्रकार का जिसके मन में मजबूत श्रद्धान है तथा समता का धारी होने से जिसका समस्त प्रकार का आरम्भ छूट गया है - ऐसे मनुष्य को किसी प्रकार संसार का भय नहीं हो सकता और जब उसको संसार ही भय का करने वाला नहीं, तब उसको कोई अन्य वस्तु, भय की करने वाली नहीं हो सकती ।

संसार में निर्बन्ध करने वाला विचार

किं लोकेन किमाश्रयेण किमथ, द्रव्येण कायेन किं;
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः, किं तैर्विकल्पै: परैः ।
सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे, त्वत्त: प्रमत्तो भवन्;
नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यतितरा,-मालेन किं बन्धनम् ॥149॥
तुझे लोक से तन से या, द्रव्यों से कहो प्रयोजन क्या ?

वाणी-इन्द्रिय-प्राणों अशुभ, विकल्पों से भी मतलब क्या ?
ये पुद्गल पर्यायें तुझसे, भिन्न प्रमादी क्यों इनमें ?
रे आत्मन्! क्यों इनके द्वारा व्यर्थ बँधे तू कर्मों से ॥
अन्वयार्थ : हे जीव! न तो तुझे लोक से प्रयोजन है, न लोक के आश्रय से प्रयोजन है, न तुझे द्रव्य से प्रयोजन है, न वाणी से प्रयोजन है, न तुझे स्पर्शनादि इन्द्रियों से प्रयोजन है तथा न तुझे खोटे विकल्पों से प्रयोजन है क्योंकि ये समस्त, पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं और तू चैतन्यस्वरूप है, इसलिए ये तेरे स्वरूप से सर्वथा जुदे ही हैं; अतः इन वस्तुओं में प्रमाद करता हुआ, तू क्यों वृथा दृढ़ बन्धन को बाँधता है? अर्थात् लोक आदि से ममता करने से तू बँधेगा ही, छूटेगा नहीं ।

केवल आत्मा से उत्पन्न हुआ सुख ही अपूर्व

(अनुष्टुभ्)
सतताभ्यस्तभोगाना,-मप्यसत् सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था, चित्ते यस्य स तत्त्ववित् ॥150॥
भोगे भोग निरन्तर अशुभ कल्पना है उनका सुख तो ।
आत्मज सुख ही है यथार्थ, जो जाने वह तत्त्वज्ञ अहो ॥
अन्वयार्थ : जिस मनुष्य के चित्त में ऐसा विचार उत्पन्न हो गया कि निरन्तर भोगे हुए भोगों से पैदा हुआ सुख अशुभ है तथा केवल आत्मा से उत्पन्न हुआ सुख अपूर्व तथा शुभ है; वही पुरुष, भले प्रकार तत्त्व का ज्ञाता है - ऐसा समझना चाहिए, किन्तु उससे भिन्न विपरीत श्रद्धानी, कदापि तत्त्व का ज्ञाता नहीं हो सकता ।

खुजली के रोगी के समान दु:ख में सुख का भ्रम

(पृथ्वी)
प्रतिक्षणमयं जनो, नियतमुग्रदुःखातुरः;
क्षुधादिभिरभिश्रयंस्तदुपशान्तयेऽन्नादिकम् ।
तदेव मनुते सुखं, भ्रम वशाद्यदेवासुखं;
समुल्लसति कच्छुकारुजि, यथा शिखिस्वेदनम् ॥151॥
क्षुधा आदि से दु:खी जीव, अन्नादिक का आश्रय लेते ।
जैसे खाज खुजा कर प्राणी, भ्रम से उसमें सुख मानें ॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार खाज का रोगी मनुष्य, अग्नि से खाज को सेकने में सुख मानता है, परन्तु अग्नि से सेकना केवल दुःख को ही देने वाला है; उसी प्रकार यह संसारी जीव, शान्ति के लिए अन्न-जल का आश्रय करता है, उस समय यद्यपि वे अन्न-जल आदि पदार्थ दुःखस्वरूप हैं तो भी भ्रम से उनमें सुख मानता है ।

अपने स्वरूप को देखना ही समस्त उपदेश का असली तात्पर्य

(शार्दूलविक्रीडित)
आत्मा स्वं परमीक्षते यदि समं, तेनैव संचेष्टते;
तस्मायेव हितस्ततोऽपि च सुखी, तस्यैव सम्बन्धभाक् ।
तस्मिन्नेव गतो भवत्यविरताऽऽनन्दाऽमृताम्भोनिधौ;
किं चाऽन्यत्सकलोपदेशनिवहस्यैतद्रहस्यं परम् ॥152॥
जब यह निज स्वरूप को देखे, तब निज में ही करे प्रयत्न ।
निज के लिए हितैषी होता, निज से ही करता सम्बन्ध ॥

आनन्दामृत सिन्धु-स्वरूप, स्वयं में ही तब होता लीन ।
इससे अधिक कहें क्या? सब उपदेशों का है सार यही ॥

अन्वयार्थ : जब यह आत्मा, अपने स्वरूप को देखता है, तब स्वयं अपने स्वरूप के साथ ही चेष्टा करता है, अपने स्वरूप के लिए ही हितस्वरूप बनता है, अपने से ही सुखी होता है, अपना ही सम्बन्धी होता है तथा निरन्तर आनन्दरूप अमृत के समुद्रस्वरूप अपने स्वरूप में ही लीन होता है । इस प्रकार समस्त प्रवृत्तियों की आत्मा में जो दृढ़ स्थिति है, यही समस्त उपदेश का असली तात्पर्य है, इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

पूजने योग्य योगीश्वर कौन?

(आर्या)

परमानन्दाऽब्जरसं, सकलविकल्पाऽन्यसु नसस्त्यक्त्वा ।
योगी स यस्य भजते, स्तिमिताऽन्तःकरणषट्चरणः ॥153॥
सकल विकल्पपुष्प को तज कर जिसका निश्चल चित्त-भ्रमर ।
परमानन्द कमल में रमता, वह योगीश्वर पूज्य प्रवर ॥

अन्वयार्थ : जिस योगी का निश्चल मनरूपी भ्रर, समस्त विकल्परूपी अन्य फूलों को छोड़ कर, उत्कृष्ट आनन्द के धारी शुद्धात्मारूपी कमल के रस का सेवन करता है, वही योगीश्वर पूजने योग्य है ।

जब निज आतम अनुभव आवै, और कछु न सुहावै.....

(शार्दूलविक्रीडित)

जायन्ते विरसा रसा विघटते, गोष्ठीकथाकौतुकं;
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति, प्रीतिः शरीरेऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरताऽऽनन्दाऽत्मशुद्धात्मन:;
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं, दोर्षैनः पञ्चताम् ॥154॥
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटे, रस नीरस हो जाता है ।
तन के प्रति भी प्रीति विरमती, विषय-वासना मिटती है ॥
वचन मौन धारण कर लेते, मन मृत्यु वरना चाहे ।
अनुभव की क्या बात करें? ये सब होता बस चिन्तन से ॥

अन्वयार्थ : परमानन्दस्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति तो दूर ही रहो, किन्तु केवल उसकी चिन्ता (विचार) करने पर ही शृंगारादि रस नीरस हो जाते हैं, स्त्री-पुत्र आदि की चर्चा नष्ट हो जाती है, उनकी कथा और कौतूहल दूर भाग जाते हैं तथा इन्द्रियों के विषय भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं; स्त्री-पुत्र आदि की प्रीति तो दूर ही रहो, शरीर में भी प्रीति नहीं रहती, वचन भी मौन को धारण कर लेता है और समस्त राग-द्वेषादि दोषों के साथ मन भी विनाश को प्राप्त हो जाता है; इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे शुद्धात्मा की चिन्ता में निमग्न बने रहें ।

निज आत्मा के अनुभव में लीन होना ही उत्कृष्ट आराधना

(स्रग्धरा)

आत्मैकः सोपयोगो, मम किमपि ततो, नाऽन्यदस्तीति चिन्ता;
भ्यासाऽस्ताऽशेषवस्तोः, स्थितपरममुदा, यद्गतिर्नो विकल्पे ।
ग्रामे वा कानने वा, जनजनितसुखे, निःसुखे वा प्रदेशे;
साक्षादाराधना सा, श्रुतविशदमतेर्बाह्यमन्यत्समस्तम् ॥155॥
मेरा है उपयोगरूप, कुछ अन्य नहीं, इस चिन्तन से ।

मोह तजा है पर से, हर्षित मन नहिं जाए विकल्पों में ॥
वन हो अथवा गाँव सुखद या, दु:खद जगह नहीं भटके मन ।
निर्मल मति की यही साधना, अन्य सभी हैं इससे भिन्न ॥

अन्वयार्थ : दर्शन-ज्ञानमयी आत्मा ही एक मेरा है, इससे भिन्न कोई भी वस्तु मेरी नहीं है; इस प्रकार की चिन्ता से जिस मनुष्य के मन की परिणति, बाह्य पदार्थों से सर्वथा छूट गई है, जिसकी बुद्धि, शास्त्र के अभ्यास से निर्मल हो गई है और जो परमानन्द का धारी है; उस मनुष्य के मन की प्रवृत्ति का विकल्पों से हट जाना, गाँव हो या वन, मनुष्यों को सुख अथवा दुःख उपजाने वाले प्रदेश में भी मन का न जाना, किन्तु निज आत्मा के अनुभव में लीन होना ही उत्कृष्ट आराधना है, इससे भिन्न सब बाह्य हैं, सर्व त्यागने योग्य है ।

बाह्य तप की व्यर्थता में अनेक युक्तियाँ

(शार्दूलविक्रीडित)
यद्यन्तर्निहितानि खानि तपसा, बाह्येन किं फल्गुना;
नैवाऽन्तर्निहितानि खानि तपसा, बाह्येन किं फल्गुना ।
यद्यन्तर्बहिरन्यवस्तु तपसा, बाह्येन किं फल्गुना;
नैवाऽन्तर्बहिरन्यवस्तु तपसा, बाह्येन किं फल्गुना ॥156॥
अन्तर्लीन इन्द्रियाँ हों तो, बाह्य तपस्या करना व्यर्थ ।
यदि इन्द्रियाँ बहिर्मुख हों तो, भी है बाह्य तपस्या व्यर्थ ॥
अन्तर्बाह्य अन्य द्रव्यों से, है ममत्व तो तप है व्यर्थ ।
अन्तर्बाह्य अन्य द्रव्यों से, नहिं ममत्व तो तप है व्यर्थ ॥

अन्वयार्थ : बाह्य वस्तु से भिन्न होकर यदि इन्द्रियों का शुद्धात्मा के साथ सम्बन्ध रहा तो भी बाह्य में तप करना व्यर्थ है तथा यदि इन्द्रियों का शुद्धात्मा के साथ सम्बन्ध न रहा तो भी तप करना व्यर्थ है; इसी प्रकार यदि अन्तरंग अथवा बाह्य में अन्य पदार्थों की ममता बनी रही तो भी तप करना व्यर्थ है तथा यदि अन्तरंग एवं बाह्य में किसी पदार्थ से ममता नहीं रही तो भी तप करना व्यर्थ ही है ।

शुद्धादेश, व्यवहारनय और अशुद्धनय की परस्पर सापेक्षता

शुद्धं वागतिवर्तितत्त्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं;
शुद्धादेशमिति प्रभेदजनकं, शुद्धेतरत्कल्पितम् ।
तत्राऽद्यं श्रयणीयमेव विदुषा, शेषद्वयोपायत:;
सापेक्षा नयसंहतिः फलवती, संजायते नाऽन्यथा ॥157॥
शुद्धतत्त्व है वचन अगोचर, अन्यतत्त्व वचनों से वाच्य ।
शुद्धादेश शुद्ध का वाचक, नय अशुद्ध है भेदजनक ॥
अत: विज्ञजन शुद्धादेश-अशुद्धनयों से शुद्ध गहें ।
नय-समूह सापेक्ष सफल हैं, अन्य नहीं फलदायक हैं ॥

अन्वयार्थ : शुद्धतत्त्व या शुद्धनय तो वचन के द्वारा कहा नहीं जा सकता, किन्तु उससे भिन्न तत्त्व या व्यवहारनय ही वचन के द्वारा कहा जाता है क्योंकि व्यवहारनय ही शुद्धनय को कहने वाला है, इसलिए उसको शुद्धादेश (शुद्धनय) को कहने वाला भी कहते हैं तथा जो भेद को उत्पन्न करानेवाला है, उसको अशुद्धनय कहते हैं । इस रीति से शुद्ध, शुद्धादेश तथा अशुद्ध के भेद से नय के तीन भेद हुए । उन तीनों में जो शुद्धनय है, वह शुद्धादेश तथा अशुद्धनय के उपाय से प्राप्त होता है; इसलिए विद्वानों को शुद्धनय का ही आश्रय करना चाहिए । यह नियम है कि आपस में एक-दूसरे की अपेक्षा करने वाला ही नयों का समूह, कार्यकारी हो सकता है, परन्तु एकान्त से भिन्न-भिन्न नय नहीं ।

शुद्धनय से ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप ही आत्मा

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं, जीवस्य नाऽर्थान्तरं;
शुद्धाऽदेशविवक्षया स हि तत:, चिद्रूप इत्युच्यते ।
पर्यायैश्च गुणैश्च साधु विदिते, तस्मिन् गिरा सद्गुरो-;
र्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ, प्राप्तं न किं योगिभि: ॥158॥
सकल वस्तु के ग्राहक दर्शन-ज्ञान जीव हैं अन्य नहीं ।
अत: शुद्धनय की कथनी में, कहें जीव चिद्रूप वही ॥
सद्गुरु वाणी से जिस योगी ने गुण अरु पर्यायों से ।
जान लिया चेतन को, क्या नहिं जाना प्राप्त किया उसने ?

अन्वयार्थ : यद्यपि व्यवहारनय से ज्ञान-दर्शन आत्मा से भिन्न हैं, तथापि शुद्धनय की विवक्षा करने पर समस्त पदार्थों को हाथ की रेखा के समान जानने वाला तथा देखने वाला ज्ञान तथा दर्शन आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, किन्तु दर्शन-ज्ञान-चेतनास्वरूप ही यह आत्मा है; इसलिए जिन योगियों ने श्रेष्ठ गुरुओं के उपदेश से गुण तथा पर्यायोंसहित आत्मा को जान लिया, उन्होंने समस्त को जान लिया, सबको देख लिया तथा जो कुछ प्राप्त करने योग्य वस्तु थी, उस सबको भी पा लिया ।

पर से भिन्न मेरी एक ज्ञान-दर्शनमयी मूर्ति

यन्नाऽन्तर्न बहिः स्थितं न च दिशि, स्थूलं न सूक्ष्मं पुान्;
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां, प्राप्तं न यल्लाघवम् ।
कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणना, - व्याहारवर्णोज्झितं;
स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्ति तदहं, ज्योति: परं नाऽपरम् ॥159॥
जो भीतर-बाहर चहुं दिशि में, सूक्ष्म और स्थूल नहीं ।
पुरुष-नपुंसक-स्त्री भी नहिं, गुरुता-लघुता प्राप्त नहीं ॥
कर्म-स्पर्श-शरीर-वर्ण-गणना अरु शब्द आदि से भिन्न ।
निर्मल दर्शन-ज्ञान-मूर्ति मैं, ज्योति वही नहिं उससे भिन्न ॥

अन्वयार्थ : न मैं अन्दर हूँ, न बाहर हूँ और न अन्यत्र किसी दिशा में हूँ; न मोटा हूँ, न पतला हूँ; न पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ; न भारी हूँ, न हल्का हूँ और मेरा न कर्म है, न स्पर्श है, न शरीर है, न गन्ध है, न संख्या है, न शब्द है, न वर्ण है तथा जो अत्यन्त स्वच्छ तथा ज्ञान-दर्शनमयी मूर्ति की धारक ज्योति है, वही मैं हूँ और उससे भिन्न कोई नहीं हूँ ।

'मैं' शब्द से अनुभवगोचर चैतन्यरूपी तेज स्वरूप आत्मा

जानन्ति स्वयमेव यद्विमनस:, चिद्रूपमानन्दवत्;
प्रोच्छिन्ने यदनाद्यमन्दमसकृत्, मोहान्धकारे हठात् ।
सूर्याचन्द्रमसावतीत्य यदहो, विश्वप्रकाशात्मकं;
तज्जीयात्सहजं सुनिष्कलमहं, शब्दाऽभिधेयं मह: ॥160॥
जो अनादि का मोह-महातम, निजबल से है नाश किया ।
मन-विहीन केवलज्ञानी ने, चिदानन्द-घन जान लिया ॥
सूर्य-चन्द्र को फीका करता, जिसका विश्व-प्रकाशक तेज ।
अशरीरी अरु 'मैं' से वाच्य, सदा जयवन्त रहे वह तेज ॥

अन्वयार्थ : अनादिकाल से विद्यमान तथा गाढ़ मोहरूपी अन्धकार को तप के द्वारा सर्वथा नाश कर, आनन्द के धारी जिस चैतन्यरूपी तेज को केवलज्ञान के धारी पुरुष, अपने आप जान लेते हैं । जो चैतन्यरूपी तेज, सूर्य-चन्द्रमा के तेज को फीका करने वाला है, समस्त

पदार्थों को भलीभाँति प्रकाशित करने वाला है, जिसका 'मैं' इस शब्द से अनुभव होता है तथा जो स्वाभाविक है - ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज सदाकाल जयवन्त रहो ।

साता-असाता से रहित मोक्षपद की कामना

(वसन्ततिलका)
यज्जायते किमपि कर्मवशादसातं;
सातं च यत्तदनुयायि विकल्पजालम् ।
जातं मनागपि न यत्र पदं तदेव;
देवेन्द्रवन्दितमहं शरणं गतोऽस्मि ॥161॥
जहाँ कर्म-वश साता और असाता आदि विकल्प नहीं ।
उस देवेन्द्र-वन्द्य शिवपद की, अब मैंने तो शरण गही ॥
अन्वयार्थ : जिस मोक्षपद में न तो कर्म के वश से साता होती है, न कर्म के वश से असाता होती है । न उन साता और असाता के अनुसार जहाँ पर किसी प्रकार के विकल्प ही उठते हैं । जिस पद की बड़े-बड़े इन्द्रादिक भी स्तुति करते हैं - ऐसे मोक्षपद की शरण को मैं प्राप्त होना चाहता हूँ ।

गुरुओं के सन्तापनाशक वचन ही आश्रयणीय

(शार्दूलविक्रीडित)
धिक् कान्तास्तनमण्डलं धिगमल,-प्रालेयरोचि: करान्;
धिक् कर्पूरविमिश्रचन्दनरसं, धिक् ताञ्जलादीनपि ।
यत्प्राप्तं न कदाचिदत्र तदिदं, संसारसन्तापहृत्;
लग्नं चेदतिशीतलं गुरुवचो, दिव्याऽमृतं मे हृदि ॥162॥
धिक् कान्ता के कुचमण्डल को, धिक् है निर्मल चन्द्र-किरण ।
धिक् कर्पूर मिश्र चन्दन रस, धिक् जल आदि वस्तु शीतल ॥
यदि मेरे उर में बसते हैं, अति शीतल गुरु-वचनामृत ।
जिन्हें प्राप्त नहिं किया आज तक, जो संसार-ताप-नाशक ॥
अन्वयार्थ : संसार में यह बात भलीभाँति प्रचलित है तथा अज्ञानी मनुष्य इस बात को मानते भी हैं कि यदि किसी प्रकार का सन्ताप हो जाए तो उस सन्तप्त प्राणी को स्त्री के स्तनों के स्पर्श से तथा चन्द्रमा की किरण आदि के सेवन से इस सन्ताप को दूर कर देना चाहिए, परन्तु ज्ञानी मनुष्य, इस बात को नहीं मानता तथा इससे विपरीत ही विचार करता है (वह कहता है कि जिसकी कभी भी प्राप्ति नहीं हुई है), जो संसार के सब दुःखों को दूर करने वाले हैं और जो अत्यन्त शीतल हैं - ऐसे श्री गुरुओं के वचन यदि मेरे मन में मौजूद हैं तो मनुष्य, जिनको शीतल करने वाले कहते है - ऐसे स्त्री के कुचों को धिक्कार है, चन्द्रमा की शीतल किरणों को धिक्कार है, कर्पूर मिले हुए चन्दन के रस को धिक्कार है तथा जल आदि को भी धिक्कार है ।

शुद्धात्मा की परिणतिस्वरूप धर्म में मग्न हुए योगियों को नमस्कार

जित्वा मोहमहाभटं भवपथे, दत्तोग्रदुःखश्रमे;
विश्रान्ता विजनेषु योगिपथिका, दीर्घे चरन्तः क्रमात् ।
प्राप्ता ज्ञानधनाश्चिरादभिमत,-स्वात्मोपलम्भालयं;
नित्यानन्दकलत्रसंगसुखिनो, ये तत्र तेभ्यो नम: ॥163॥
अति दु:खदायक भव-पथ में, जो महामोह भट को जीतें ।

जो योगी विचरें वन में, विश्रान्ति लहें एकान्त बसें ॥
हो सम्पन्न ज्ञान-धन से निज, आत्माश्रित शिवपद पाते ।
नित्यानन्द सादि-सुख भोगें, उन चरणों में हम नमते ॥
अन्वयार्थ : योगीश्वररूपी पथिक, अत्यन्त दुःख को देने वाले संसाररूपी विशाल मार्ग में विचरते हुए, समस्त ज्ञानादि धन को चुराने वाले मोहरूपी योद्धा को जीत कर, निर्जन स्थान में विश्राम करते हैं, ज्ञानरूपी धन के स्वामी हैं और जिसका कभी भी नाश नहीं होने वाला है - ऐसे आत्मिक सुखरूपी स्त्री के संग से सदा सुखी हैं तथा अपने आत्मस्वरूप की जहाँ पर प्राप्ति होती है, ऐसे स्थान में विराजमान हैं; अत: ऐसे योगियों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

धर्म की महिमा बताने में केवली-श्रुतकेवली ही समर्थ

(स्रग्धरा)
इत्यादिर्धर्म एषः, क्षितिपसुरसुखाऽनर्घ्यमाणिक्यकोषः;
प्रायो दुःखाऽनलानां, परमपदलसत्, सौधसोपानराजिः ।
एतन्माहात्म्यमीशः, कथयति जगतां, केवली साध्वधीता;
सर्वस्मिन् वाङ्मयेऽथ, स्मरति परमहो, मादृशस्तस्य नाम ॥164॥
है यह धर्म नरेन्द्र-इन्द्र के सुख, अमूल्य रत्नों की खान ।
यह दुखाग्नि के लिए नीर-सम, मोक्षमहल का शुभ सोपान ॥
अहो! धर्म की महिमा वर्णन, साक्षात् केवलि भगवान ।
सर्वागमधर गणधर करते हैं, हम तो ले सकते हैं नाम ॥
अन्वयार्थ : पूर्व में जो दया आदि पाँच प्रकार का धर्म कहा है, वह धर्म, बड़े-बड़े चक्रवर्ती आदि राजाओं तथा इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के सुखों को देने वाला है । वह धर्म, समस्त दुःखों को मूल से नाश करने वाला और निर्वाणरूपी महल में चढ़ने के लिए सीढ़ी के समान है अर्थात् जो मनुष्य, धर्म को धारण करता है, उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है - ऐसे उस धर्म के माहात्म्य का वर्णन, साक्षात् केवली अथवा समस्त द्वादशांग के पाठी गणधर ही कर सकते हैं, परन्तु मेरे समान मनुष्य तो केवल उसके नाम का ही स्मरण कर सकते हैं ।

धर्मरूपी रसायन का सेवन करने के लिए मिथ्यात्वादि का निषेध आवश्यक

(शार्दूलविक्रीडित)
शश्वज्जन्मजरान्तकालविलसद्, दुःखौघसारीभवत्;
संसारोग्र हारुजोऽपहृतये, ऽनन्तप्रमोदाय वै ।
एतद्धर्मरसायनं ननु बुधाः, कर्तुं मतिश्चेत्तदा;
मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादनिकरः, क्रोधादि सन्त्यज्यताम् ॥165॥
शाश्वत जन्म-जरा-मरणादिक, दुख:दायक रोगों में सार ।
इस संसार महारुज का यदि, करना चाहो पूर्ण विनाश ॥
हे बुध! धर्म-रसायन पीकर, यदि अनन्त सुख को चाहो ।
मिथ्या अविरति अरु प्रमाद, क्रोधादि कषाय-समूह तजो ॥
अन्वयार्थ : भो भव्य जीवों! यदि तुम निरन्तर जन्म, जरा, मरण आदि समस्त दुःखों को देने वाले संसाररूपी भयंकर रोग को दूर करने तथा अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए धर्मरूपी रसायन का आश्रय करना चाहते हो तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और क्रोधादि कषायों का सर्वथा त्याग करो ।

धर्म का उत्तरोत्तर दुर्लभपना

नष्टं रत्नमिवाऽम्बुधौ निधिरिव, प्रभ्रष्टदृष्टेर्यथा;
योगो यूपशलाकयोश्च गतयोः, पूर्वाऽपरौ तोयधी ।
संसारेऽत्र तथा नरत्वमसकृद्, दुःखप्रदे दुर्लभं;
लब्धे तत्र च जन्म निर्मलकुले, तत्रापि धर्मे मतिः ॥166॥
यथा उदधि में रत्न गिरे अरु, दृष्टिहीन नर निधि पायें ।
पूर्वापर दिशि दो काष्ठ खण्ड, बह कर फिर से वे मिल जायें ॥
तथा निरन्तर दु:खदायक, इस जग में नरभव दुर्लभ है ।
यदि मिल जाये तो उत्तम कुल, धर्मबुद्धि अति दुर्लभ है ॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार अथाह समुद्र में यदि रत्न गिर जाए तो उसका मिलना बहुत कठिन है, जिस प्रकार अन्धे को निधि मिलना अत्यन्त दुर्लभ है तथा समुद्र में किसी स्थान पर दो काष्ठ खण्डों में से एक को पूर्व दिशा की ओर तथा दूसरे को पश्चिम दिशा की ओर बहा देवें, फिर उनका उसी स्थान पर पुन: मिलना, जिस प्रकार दुःसाध्य है; उसी प्रकार निरन्तर नाना प्रकार के दुःखों के देने वाले इस संसार में मनुष्य जन्म का पाना बहुत कठिन है । यदि दैवयोग से मनुष्य जन्म भी मिल जाए तो फिर उत्तम कुल मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । यदि किसी कारण उत्तम कुल की प्राप्ति भी हो जाए तो फिर धर्म में श्रद्धा होना, अत्यन्त दुःसाध्य है; इसलिए भव्य जीवों को अत्यन्त दुर्लभ धर्म की उपासना अवश्य करनी चाहिए ।

खोटे उपदेश के प्रभाव से अत्यन्त दुर्लभ धर्म भी व्यर्थ

न्यायादन्धकवर्तकीयकजना, ऽऽख्यानस्य संसारिणां;
प्राप्तं वा बहुकल्पकोटिभिरिदं, कृच्छ्रान्नरत्वं यदि ।
मिथ्यादेवगुरूपदेशविषय, - व्यामोहनीचाऽन्वय;
प्रायै: प्राणभृतां तदेव सहसा, वैफल्यमागच्छति ॥167॥
अन्धे को बटेर मिल जाए, वैसे ही संसारी को ।
कोटि कल्पकालों में दुर्लभ, प्राप्त करे इस नर-तन को ।
मिथ्या देव-गुरु उपदेश, विषय-व्यामोह नीच-कुल में ।
अज्ञानी प्राणी का नरभव, जाता है निष्फलता में ॥
अन्वयार्थ : प्रथम तो मनुष्य जन्म पाना संसार में अत्यन्त कठिन काम है, दैवयोग से अन्धे के हाथ में बटेर के समान करोड़ों कल्पकाल के बाद यदि इस अत्यन्त दुःसाध्य मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जाए तो वह मनुष्य जन्म, खोटे देव तथा गुरुओं के उपदेश से निष्फल चला जाता है तथा विषयों में आसक्तता तथा व्यसनादि नीच कार्य करने में भी वह बात ही बात में व्यर्थ चला जाता है ।

तिर्यञ्च आदि गतियों से मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता

(वसन्ततिलका)
लब्धे कथं कथमपीह मनुष्यजन्म;
न्यङ्ग प्रसंगवशतो हि कुरु स्वकार्य् ।
प्राप्तं तु कामपि गतिं कुमते तिरश्चां;
कस्त्वां भविष्यति विबोधयितुं समर्थः ॥168॥
दैवयोग से किसी तरह, नर-भव पाया कर लो निज-कार्य ।
तिर्यञ्चादि कुगति में जाए, वहाँ कौन तुझको समझाय ॥
अन्वयार्थ : हे भव्य जीव! बड़े पुण्यकर्म के उदय से तुझे इस मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुई है, इसलिए शीघ्र ही कोई अपने हित का करने वाला काम कर । नहीं तो रे मूर्ख! जब तू तिर्यंच आदि खोटी गति को प्राप्त हो जाएगा तो वहाँ पर तुझे कोई समझा भी नहीं सकेगा ।

जिनधर्म को पाकर उसकी सेवा करने का उपदेश

(शार्दूलविक्रीडित)

जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले, क्लेशान्मतेः पाटवं;

भक्तिं जैनमते कथं कथमपि, प्रागर्जितश्रेयसः ।

संसाराऽर्णवतारकं सुखकरं, धर्मं न ये कुर्वते;

हस्तप्राप्तमनर्घ्यरत्नमपि ते, मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥169॥

नरभव पाकर उत्तम कुल अरु, कष्ट-साध्य बुद्धि को पा ।

पूर्वोपार्जित पुण्योदय से, जिन-शासन की भक्ति पा ॥

किन्तु भवोदधि-तारक, सुखदायक जो धर्म नहीं करते ।

हस्त प्राप्त बहुमूल्य रत्न को, ये दुर्बुद्धि खो देते ॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, अत्यन्त कठिन मनुष्य जन्म को पाकर, उत्तम कुल को पाकर तथा किसी प्रकार पूर्व काल में उपार्जित किये हुए पुण्य के उदय से जैनधर्म के भक्त होकर भी संसार-समुद्र से पार करने वाले तथा नाना प्रकार के सुख देने वाले धर्म की सेवा नहीं करते हैं, वे मूर्ख, हाथ में आये हुए अमूल्य रत्न को छोड़ देते हैं ।

युवावस्था में ही धर्म करने की प्रेरणा

तिष्ठत्याऽऽयुरतीव दीर्घखिलाऽन्यङ्गानि दूरं दृढा-;

न्येषा श्रीरपि मे वशं गतवती, किं व्याकुलत्वं मुधा ।

आयत्यां निरवग्रहो गतवया, धर्मं करिष्ये भरात्;

इत्येवं बत चिन्तयन्नपि जडो, यात्यन्तकग्रासताम् ॥170॥

अभी बहुत दिन जीना मुझको, सभी अंग मेरे मजबूत ।

लक्ष्मीजी की कृपा बहुत है, फिर मैं क्यों होऊँ व्याकुल ॥

जब वृद्धावस्था आएगी, तभी करूँगा धर्म-प्रयत्न ।

मूढ़ ग्रास बनता है यम का, इस प्रकार करके चिन्तन ॥

अन्वयार्थ : 'अभी मेरी आयु बहुत है, हाथ-पैर, नाक-कान आदि भी मजबूत हैं तथा लक्ष्मी मेरे पास विद्यमान है, इसलिए व्यर्थ धर्मादि के लिए क्यों व्याकुल होना चाहिए? किन्तु इस समय तो आनन्द से भोगों को भोगना चाहिए, भविष्य में जिस समय वृद्ध हो जाऊँगा, उस समय निश्चय कर अच्छी तरह धर्म का आराधन करूँगा', इस प्रकार विचार करता-करता ही मूर्ख मनुष्य मर जाता है; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि 'मृत्यु, सदा शिर पर छाई हुई है' - इस विचारपूर्वक निरन्तर धर्म की आराधना करें ।

सफेद केश : ज्ञानियों को वैराग्य और अज्ञानियों को तृष्णा का निमित्त

(आर्या)

पलितैकदर्शनादपि, सरति सतश्चित्तमाशु वैराग्यम् ।

प्रतिदिनमितरस्य पुनः, सह जरया वर्धते तृष्णा ॥171॥

श्वेत केश दर्शन करने से, सज्जन को होता वैराग्य ।

प्रतिदिन अज्ञानी देखे पर, बढ़े बुढ़ापा अरु तृष्णा ॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष ज्ञानी हैं, वे तो सफेद केश को देखते ही वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं; किन्तु जो ज्ञानरहित हैं, उनको तो जैसे-जैसे सफेद केशों का दर्शन होता जाता है, वैसे-वैसे उनकी तृष्णा और भी बढ़ती जाती है और उनको वैराग्य की बात भी बुरी लगती है ।

अज्ञानी पुरुष का तृष्णारूपी स्त्री के साथ अन्धा प्रेम

(मन्दाक्रान्ता)
आजातेर्नस्त्वमसि दयिता, नित्यमासन्नगासि;
प्रौढाऽस्याशे किमथ बहुना, स्त्रीत्वमालम्बिताऽसि ।
अस्मत्केशग्रहणमकरोत्, अग्रतस्ते जरेयं;
मर्षस्येतन्मम च हतके, स्नेहलाऽद्यापि चित्रम् ॥172॥
री तृष्णा! तू हमें जन्म से, प्यारी नित्य निकट रहती ।
वृद्धिंगता, अधिक क्या कहना? तुम्हीं हमारी प्रिय रमणी ॥
किन्तु जरा-नारी ने मेरे, केशों को है ग्रहण किया ।
यह अपमान सहन करके भी, बनी हमारी स्नेहमना ॥
अन्वयार्थ : हे तृष्णे! आजन्म से तू हमारी प्रिया है, तू सदा हमारे साथ रहने वाली है, तू प्रौढ़ा है और अधिक कहाँ तक कहा जाए, तू साक्षात् हमारी स्त्री ही है; परन्तु 'अरे दुष्टे! तेरे सामने भी इस जरा ने हमारे केश पकड़ लिये हैं तो भी तू सहन करती है, लेकिन फिर भी तू हमें प्यारी है' - यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

संसार की क्षणभंगुरता दिखा कर निर्मद होने का उपदेश

(वसन्ततिलका)
रंकायते परिवृढोऽपि दृढोऽपि मृत्यु-;
मभ्येति दैववशतः क्षणतोऽत्र लोके ।
तत्कः करोति मदमम्बुजपत्रवारि-;
बिन्दूपमैः धनकलेवरजीविताऽद्यैः ॥173॥
राजा रंक बने क्षण भर में, बलशाली मृत्यु को प्राप्त ।
नीर-बिन्दु सम तन-धन-जीवन, कौन सुधी करता अभिमान ?
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, संसार में धनी है, वह क्षण भर में रंक हो जाता है; जो रंक है, वह पल भर में धनी हो जाता है तथा जो बलवान् दिखता है, वह दैवयोग से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है; इसलिए ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो धन-शरीर-जीवन आदि को कमल के पत्ते पर स्थित जल की बूँद के समान विनाशीक जान कर भी मद करेगा ?

मोह के उदय की विचित्रता

(शार्दूलविक्रीडित)
प्रातर्दर्भ-दलाऽग्र-कोटि-घटिता,-ऽवश्यायबिन्दूत्कर-;
प्रायाः प्राण-धनाऽङ्गज-प्रणयिनी,-मित्रादयो देहिनाम् ।
अक्षाणां सुखमेतदुग्र-विषवत्, धर्मं विहाय स्फुटं;
सर्वं भङ्गुरमत्र दुःखदमहो, मोहः करोत्यन्यथा ॥174॥
प्रातकाल में डाभ पत्र के, अग्रभाग-जल-बिन्दु समान ।
प्राण-पुत्र-धन-नारी-मित्रादिक इन सबको अस्थिर जान ॥
इन्द्रिय-सुख हैं कालकूट विषसम दु:खदायक यह स्पष्ट ।
धर्म सिवा सब क्षणभंगुर है, किन्तु जीव करता अनुराग ॥
अन्वयार्थ : संसार में प्राणियों के प्राण-हाथी-स्त्री-मित्र-पुत्र आदि सभी प्रातःकाल में दर्भ (विशेष घास) के पत्ते के अग्र भाग पर लगी हुई ओस की बूँद के समान चंचल हैं । इन्द्रियों से उत्पन्न सुख भयंकर जहर के समान हैं । एक धर्म ही अविनाशी सुख को देने वाला है, किन्तु धर्म से भिन्न समस्त वस्तुएँ क्षण भर में विनाशीक तथा दुःख देने वाली हैं । लेकिन यह मोह, अन्यथा ही विकल्प करता है अर्थात् जो वस्तु,

नित्य तथा सुख की देने वाली है, वह मोह के उदय से अनित्य तथा दुःख की देने वाली मालू पड़ती है और जो वस्तुएँ, अनित्य तथा दुःख की देने वाली हैं, वे मोह के उदय से नित्य तथा सुख की देने वाली जान पड़ती हैं ।

काल-बली के सामने महासमर्थ राजा की सेना भी असहाय

तावद्वल्गति वैरिणां प्रति चमूः, तावत्परं पौरुषं;
तीक्ष्णस्तावदसिर्भुजौ दृढतरौ, तावच्च कोपोद्गमः ।
भूपस्याऽपि यमो न यावददयः, क्षुत्पीडितः सम्मुखं;
धावत्यन्तरिदं विचिन्त्य विदुषा, तद्रोधको मृग्यते ॥175॥
शत्रु समक्ष उछलती सेना, पौरुष भी होता उत्कृष्ट ।
क्रोधोद्धत तलवार चमकती, उभय भुजाएँ दृढ़ तब तक॥
जब तक निर्दय क्षुत्पीड़ित, यमराज नहीं सन्मुख आये ।
बुधजन मन में यह विचार कर, यम-निग्रह-कारक खोजें ॥

अन्वयार्थ : जब तक क्षुधा से पीड़ित यह निर्दयी काल सामने नहीं आता, तभी तक राजा की सेना भी जहाँ-तहाँ उछलती फिरती हैं, उसका उत्कृष्ट पौरुष भी मालूम पड़ता है, उसकी तलवारें भी शत्रुओं का नाश करने के लिए खूब पैनी बनी रहती हैं, उसकी भुजाएँ भी बलवान रहती है और उसके कोप का भी उदय रहता है; परन्तु जिस समय वह काल-बली, उसके सामने पड़ जाता है, तब ऊपर लिखी हुई बातों में से एक भी बात नहीं होती - ऐसा भलीभाँति विचार कर विद्वान् पुरुष, उस काल के रोकने वाले धर्म को ढूँढते हैं ।

यमराजरूपी मल्लाह

(मालिनी)
रति-जल-रममाणो, मृत्यु-कैवर्त-हस्त;
प्रसृत-घन-जरोरु-प्रोल्लसज्जाल-मध्ये ।
निकटमपि न पश्यत्याऽऽपदां चक्रमुग्रं;
भव-सरसि वराको लोक-मीनौघ एष: ॥176॥
यम-धीवर ने भव-सरवर में, जरा-जाल हैं फैलाये ।
मूढ़-मीन रति-जल में रमती, निकट आपदा नहिं देखे ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार मल्लाह द्वारा बिछाये हुए जाल में रह कर भी मछलियों का समूह जल में क्रीड़ा करता रहता है और मृत्युरूपी आई हुई आपत्ति पर कुछ भी ध्यान नहीं देता; उसी प्रकार यह लोकरूपी मीनों का समूह यमराजरूपी मल्लाह द्वारा बिछाये हुए प्रबल जरारूपी जाल में रह कर, इन्द्रियों के विषयों में प्रीतिरूपी जल में ही निरन्तर क्रीड़ा करता रहता है और आने वाली नरकादि आपत्तियों पर कुछ भी विचार नहीं करता ।

उत्तम धर्म से ही मृत्यु पर विजय

(शार्दूलविक्रीडित)
क्षुद्भुक्तेस्तृडपीह शीतलजलाद्, भूतादिका मन्त्रतः;
सामादेरहितो गदाद्गदगण:, शान्तिं नृभिर्नीयते ।
नो मृत्युस्तु सुरैरपीति हि मृते, मित्रेऽपि पुत्रेऽपि वा;
शोको न क्रियते बुधैः परमहो, धर्मस्ततस्तज्जयः ॥177॥
क्षुधा भुक्ति से, तृष्णा जल से, भूतादिक को मन्त्रों से ।
रोगों को औषधि से शान्त, करें शत्रु सामादिक से ॥

सुर भी जीत सकें नहिं यम को, अत: पुत्र-मित्रादि-वियोग ।
हो तो मृत्यु धर्म से जीतें, किन्तु न करते बुधजन शोक ॥

अन्वयार्थ : मनुष्य, क्षुधा को भोजन से, प्यास को शीतल जल से, भूतादिकों को मन्त्र से, वैरी को साम-दाम-दण्डादिक से और रोग को औषध आदि से शान्त कर लेते हैं, परन्तु मृत्यु को देवादिक भी शान्त नहीं कर सकते; इसलिए विद्वान पुरुष, मित्र या पुत्र के मर जाने पर भी शोक नहीं करते, अपितु वे उत्तम धर्म का ही आराधन करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उत्तम धर्म से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है ।

धर्म की उत्कृष्ट महिमा

(मन्दाक्रान्ता)
त्यक्त्वा दूरं, विधुरपयसो, दुर्गतिक्लिष्टकृच्छ्रान्;
लब्ध्वाऽनन्दं, सुचिरममर,-श्रीसरस्यां रमन्ते ।
एत्यैतस्या, नृप-पद-सरस्यक्षयं धर्म-पक्षा;
यान्त्येतस्मादपि शिवपदं, मानसं भव्यहंसाः ॥178॥
दुर्गति-क्लेश-नीरयुत सर को, अहो दूर से हंस तजे ।
स्वर्गश्री-जल भरे सरोवर, में आनन्द चिरकाल करें ॥
धर्म-पंख से वह सर तज कर, अन्य सरोवर में रमता ।
उसे छोड़ फिर भव्य-हंस, शिव-मान-सरोवर में जाता ॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार हंस नामक पक्षी, खराब जल से भरे हुए तालाब को छोड़ कर, निर्मल जल से भरे हुए सरोवर में अपने पंखों के बल से चला जाता है और वहाँ पर चिरकाल तक आनन्द से क्रीड़ा करता है । पश्चात् अपने पंखों के बल से ही उस सरोवर को छोड़ कर, दूसरे सरोवर में चला जाता है । इसी प्रकार क्रमशः नाना उत्तम सरोवरों के आनन्द को भोगता हुआ वह हंस, मान-सरोवर को प्राप्त हो जाता है और वहाँ वह चिरकाल तक नाना प्रकार के आनन्द का भोग करता है ।

उसी प्रकार भव्यरूपी हंस भी धर्मरूपी पंख के बल से दुःखरूपी जल से भरे हुए दुर्गतिरूपी तालाब को छोड़ कर, देवलोक सम्बन्धी लक्ष्मीरूपी सरोवर में आनन्द के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते हैं, फिर उसको भी छोड़ कर, धर्म के ही बल से वे नाना प्रकार के चक्रवर्ती आदि राजाओं के पदरूपी सरोवर में क्रीड़ा करते हैं **अर्थ**ात् चक्रवर्ती आदि पद का भोग करते हैं । पश्चात् उससे भी विमुख होकर, धर्म के बल से ही वे भव्यरूपी हंस मोक्षपदरूपी मान-सरोवर को प्राप्त हो जाते हैं । इसलिए भव्यों को चाहिए कि वे ऐसे माहात्म्यसहित धर्म का सदा आराधन करें ।

धर्म के प्रभाव से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति

(शार्दूलविक्रीडित)
जायन्ते जिन-चक्रवर्ति-बलभृत्, भोगीन्द्र-कृष्णादयो;
धर्मादेव दिगङ्गनाङ्ग-विलसत्, शश्वद्यशश्चन्दनाः ।
तद्धीना नरकादि-योनिषु नरा, दुःखं सहन्ते ध्रुवं;
पापेनेति विजानता किमिति नो, धर्मः सता सेव्यते ॥179॥
दश-दिश-रमणी-अंग-सुगन्धित हों, जिनके यश-चिन्तन से ।
चक्री-नारायण-बलभद्र, - जिनेश्वर होते हैं वृष से ॥
धर्म बिना, पापों से नरकों, में नर दु:ख सहते चिर काल ।
जानें फिर भी क्यों न करें बुध, अरे! धर्म का आराधन ॥

अन्वयार्थ : धर्मात्मा मनुष्य, धर्म के बल से ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, धरणेन्द्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि पद के धारी हो जाते हैं । उनकी कीर्ति, समस्त दिशाओं में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फैल जाती है अथवा 'दिगङ्गनाङ्गविलसच्छश्वद्यशश्चन्दना:' अर्थात्

उनके यशरूपी चन्दन से दिशारूपी स्त्री के अंगरूपी दशों दिशाएँ सुगन्धित और मनोज्ञ हो जाती हैं तथा जो धर्म से रहित हैं, वे तो निश्चय से नरकादि योनियों में नाना प्रकार के दुःखों को ही सहते हैं । आचार्य कहते हैं कि ऐसा जानते हुए भी विद्वान् मनुष्य, धर्म-आराधना क्यों नहीं करते हैं?

धर्म के प्रभाव से ही स्वर्ग, इन्द्रपना आदि पदों की प्राप्ति

स स्वर्गः सुख-रामणीयक-पदं, ते ते प्रदेशाः पराः;
सारा सा च विमान-राजिरतुल,-प्रेङ्खत्पताका-पटा: ।
ते देवाश्च पदातयः परिलसत्, तन्नन्दनं ताः स्त्रियः;
शक्रत्वं तदनिन्द्यमेतदखिलं, धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥180॥
सुख से जो रमणीय हुआ, वह स्वर्ग और उसके स्थान ।
जिन पर फहरे ध्वजा मनोहर, ऐसे सुन्दर देव-विमान ॥
देवों की पैदल सेना, सुर-नारी अरु नन्दन-कानन ।
महिमामय इन्द्रत्व आदि सब, अहो ! धर्म का ही वरदान ॥

अन्वयार्थ : सुख तथा सुन्दरता के अद्वितीय स्थान स्वर्ग और महा मनोहर स्वर्गों के प्रदेश, जिनके ऊपर अनुपम पताका उड़ रही है - ऐसे विमानों की पंक्तियाँ और प्यादे स्वरूप देवतागण, मनोहर नन्दन वन, मनोहर देवांगनाएँ तथा अत्यन्त निर्मल इन्द्रपना इत्यादि समस्त विभूतियाँ, धर्म के ही माहात्म्य से मिलती हैं; इसलिए ऐसे पवित्र धर्म का आराधन, भव्य जीवों को अवश्य करना चाहिए ।

धर्म के प्रभाव से ही चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति

यत् षट्खण्ड-मही नवोरु-निधयो, द्विःसप्त-रत्नानि यत्;
तुङ्गा यद्विरदा रथाश्च चतुरा,ऽशीतिश्च लक्षाणि यत् ।
यच्चाऽष्टादश-कोटयश्च तुरगा, योषित्सहस्राणि यत्;
षड्युक्ता नवतिर्यदेकविभुता, तद्धाम धर्मप्रभो: ॥181॥
जो षट्खण्ड मही, नव-निधियाँ, चौदह-रत्न प्राप्त होते ।
चौरासी लख रथ विशाल, हाथी चौरासी लख होते ॥
कोड़ि अठारह घोड़े सुन्दर, छियानवे हजार नारी ।
चक्री वैभव मिले धर्म से, अत: धर्म-महिमा भारी ॥

अन्वयार्थ : छह खण्ड की पृथ्वी, बड़ी-बड़ी नौ निधियाँ, समस्त सिद्धियों के करने वाले चौदह रत्न, चौरासी लाख बड़े-बड़े हाथी, विमान के समान चौरासी लाख बड़े-बड़े रथ, अठारह करोड़ पवन के समान चंचल घोड़े, देवांगना के समान छियानवे हजार स्त्रियाँ तथा इन समस्त विभूतियों का चक्रवर्तीपना इत्यादि समस्त विभूतियाँ धर्म के प्रताप से ही मिलती हैं । इसलिए भव्य जीवों को ऐसे धर्म की आराधना अवश्य करना चाहिए ।

धर्म ही समस्त प्राणियों का सहायक

धर्मो रक्षति रक्षतो ननु हतो, हन्ति ध्रुवं देहिनां;
हन्तव्यो न ततः स एव शरणं, संसारिणां सर्वथा ।
धर्मः प्रापयतीह तत्पदमपि, ध्यायन्ति यद्योगिनो;
नो धर्मात्सुहृदस्ति नैव च सुखी, नो पण्डितो धार्मिकात् ॥182॥
धर्म सुरक्षित हो तो रक्षा करे, अन्यथा होय विनाश ।
संसारी को शरण धर्म की, अत: न उसका करो विनाश ॥

शिवपद भी हो प्राप्त धर्म से, योगी करते जिसका ध्यान ।
इससे बढ़ कर मित्र न कोई, सुखी न पण्डित धर्म बिना ॥

अन्वयार्थ : धर्म की रक्षा होने पर धर्म प्राणियों की रक्षा करता है, परन्तु उसका नाश होने पर वह प्राणियों का नाश भी कर देता है; इसलिए भव्य जीवों को कदापि धर्म का नाश नहीं करना चाहिए क्योंकि समस्त प्राणियों का सहायक धर्म ही है तथा जिस मोक्षपद का योगीश्वर सदा ध्यान करते रहते हैं, उस पद को भी देने वाला है; इसलिए धर्म से बढ़ कर कोई भी सच्चा मित्र नहीं है और धर्मात्मा पुरुष से अधिक कोई सुखी नहीं है और न कोई पण्डित ही है ।

धर्म ही संसाररूपी समुद्र को पार करने में समर्थ

नाना-योनि-जलौघ-लङ्घित-दिशि, क्लेशोर्मि-जालाऽकुले;
प्रोद्भूताऽद्भुत-भूरि-कर्म-मकर,-ग्रासी-कृत-प्राणिनि ।
दुःपर्यन्त-गभीर-भीषण-तरे, जन्माऽम्बुधौ मज्जतां;
नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहा,ऽश्रान्तं यतध्वं बुधाः ॥183॥
नाना योनि-जलोदधि जग में, जहाँ उछलती दु:ख-तरंग ।
कर्म शुभाशुभ मगरमच्छ, करते हैं जीवों का भक्षण ॥
जो गम्भीर भयंकर जिसका, अन्त कठिन भव-सागर में ।
डूब रहे जीवों को पार, करे यह धर्म, सुधी धारें ॥

अन्वयार्थ : अनेक प्रकार की नरकादि योनियोंरूपी समुद्र ने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर लिया है, जिसमें नाना प्रकार की दुःखरूपी तरंगें मौजूद हैं, जिसमें उत्पन्न हुए नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मरूपी मगरों के द्वारा जीव खाये जा रहे हैं और जिसका अन्त नहीं है तथा जो गम्भीर और भयंकर है - ऐसे संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए जीवों को पार लगाने वाला एक धर्म ही है; इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे सदा धर्म करने में ही प्रयत्न करें ।

धर्मात्मा ही लक्ष्मी का सर्वश्रेष्ठ आश्रय प्रदाता

जन्मौच्चैः कुल एव सम्पदधिके, लावण्यवारां निधि-;
नीरोगं वपुरायुरा-दिसकलं, धर्माद्-ध्रुवं जायते ।
सा न श्रीरथवा जगत्सु न सुखं, तत्ते न शुभ्रा गुणा;
यैरुत्कण्ठित-मानसैरिव नरो, नाऽश्रीयते धार्मिक: ॥184॥
उत्तम कुल, लावण्यमयी-तन-रोगरहित सम्पदा विपुल ।
मात्र धर्म से मिलती दीर्घायु आदि वस्तुएँ सकल ॥
जग में ऐसी नहीं लक्ष्मी, उत्तम सुख या गुण निर्मल ।
जिसका धर्मात्मा से उत्कण्ठित मन से नहिं होय मिलन ॥

अन्वयार्थ : सम्पदा की अधिकता, उत्तम कुल में जन्म, लावण्यमयी व नीरोग शरीर तथा आयु आदि समस्त बातें, निश्चय से धर्म के प्रताप से ही मिलती हैं । संसार में ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं है, जो एकदम आकर धर्मात्मा पुरुष का आश्रय न लें । उत्तम सुख और निर्मल गुण भी संसार के भीतर ऐसे कोई नहीं है, जो धर्मात्मा पुरुष का स्वयमेव आकर आश्रय न करें ।

धर्म से ही समस्त वस्तुओं की सहज प्राप्ति

भृङ्गा: पुष्पितकेतकीमिव मृगा, वन्यामिव स्वस्थलीं;
नद्यः सिन्धुमिवाऽम्बुजाऽकरमिव, श्वेतच्छदाः पक्षिणः ।
शौर्य-त्याग-विवेक-विक्रम-यशः, सम्पत्सहायाऽऽदयः;

सर्वे धार्मिकमाश्रयन्ति न हितं, धर्मं विना किञ्चन ॥185॥
भ्रमर पुष्प का आश्रय लेते, वन में मृग खोजें विश्राम ।
नदी स्वयं मिलती सागर से, हंस लहें सर में आनन्द ॥
शौर्य विवेक त्याग विक्रम यश, सम्पति इत्यादिक गुणखान ॥
धर्मात्मा के आश्रित हैं सब, धर्म बिना कुछ मिलें न आन ॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार भौंरा, स्वयमेव आकर फूली हुई केतकी का आश्रय कर लेता है; जिस प्रकार मृग, वन में स्वयमेव जाकर अपने रहने के स्थान का आश्रय कर लेते हैं; जिस प्रकार नदी, स्वयमेव समुद्र को प्राप्त हो जाती है; जिस प्रकार हंस नामक पक्षी, मानस-सरोवर को स्वयमेव प्राप्त कर लेते हैं । उसी प्रकार वीरत्व, दान, विवेक, विक्रम, कीर्ति, सम्पत्ति, सहायक आदि वस्तुएँ स्वयमेव आकर धर्मात्मा का आश्रय कर लेती हैं, किन्तु धर्म के बिना कोई भी वस्तु नहीं मिलती; इसलिए जो मनुष्य, वीरत्वादि वस्तुओं को चाहते हैं, उनको चाहिए कि वे निरन्तर धर्म करें, जिससे उनको बिना परिश्रम के वे समस्त वस्तुएँ मिल जाएँ ।

धर्म ही मोक्षस्थान तक पहुँचाने में समर्थ

सौभागीयसि कामिनीयसि सुत-श्रेणीयसि श्रीयसि;
प्रासादीयसि चेत्सुखीयसि सदा, रूपीयसि प्रीयसि ।
यद्वाऽनन्तसुखाऽमृताऽम्बुधिपर,-स्थानीयसीह ध्रुवं;
निर्धूताऽखिलदुःखदापदि सुहृत्, धर्मे मतिर्धार्यताम् ॥186॥
यदि चाहो सौभाग्य-कामिनी, लक्ष्मी-पुत्रादिक चाहो ।
भवनरूप सुख चाहो अथवा, जग के प्रिय होना चाहो ॥
अथवा अविनाशी अनन्त सुख, अमृतमय शिवपद चाहो ।
तो हे मित्र! सकल दु:खनाशक, धर्मामृत में मति धारो ॥
अन्वयार्थ : यदि तुम सौभाग्य की इच्छा करते हो, कामिनी की अभिलाषा करते हो, बहुत से पुत्रों को प्राप्त करने की इच्छा करते हो, यदि तुम्हें उत्तम लक्ष्मी प्राप्त करने की इच्छा है, उत्तम मकान पाने की इच्छा है, यदि तुम सुख चाहते हो, उत्तम रूप के मिलने की इच्छा करते हो, समस्त जगत् के प्रिय बनना चाहते हो अथवा जहाँ पर सदा अविनाशी सुख की राशि मौजूद है - ऐसे उत्तम मोक्षरूपी स्थान को पाना चाहते हो तो तुम नाना प्रकार के दुःखों को देने वाली आपत्तियों को दूर करने वाले जिन भगवान द्वारा बताये हुए धर्म में ही अपनी बुद्धि को स्थिर करो ।

अरे भव्यों! धर्म से क्या-क्या प्राप्त नहीं किया जा सकता?

सञ्छन्नं कमलै र्रवति सरः, सौधं वनेऽप्युन्नतं;
कामिन्यो गिरिमस्तकेऽपि सरसाः,साराणि रत्नानि च ।
जायन्तेऽपि च लेपकाष्ठघटिता:, सिद्धिप्रदा देवताः;
धर्मश्चेदिह वाञ्छितं तनुभृतां, किं किं न सम्पद्यते ॥187॥
कमलयुक्त सर हो मरुथल में, वन में बनें विशाल भवन ।
गिरि-शिखरों पर रमणी एवं, मिल जाते बहुमूल्य रतन ॥
चित्रित अथवा काष्ठ सुनिर्मित, देव मनोवाञ्छित देते ।
मात्र धर्म से इस प्राणी को, वाञ्छित फल क्या नहीं मिलें ?
अन्वयार्थ : जिस प्रकार मरुदेश (मरुस्थल) को निर्जल कहा जाता है तो भी धर्म के प्रभाव से ऐसे मरुस्थल में भी मनोहर कमलों से सहित तालाब बन जाते हैं । यद्यपि वन में मकान आदि कुछ भी नहीं होते, परन्तु धर्म के प्रताप से वहाँ पर भी विशाल घर बन जाते हैं । उसी प्रकार निर्जन पहाड़ में किसी भी मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तो भी धर्मात्मा पुरुषों को धर्म की कृपा से वहाँ भी मन को हरण

करने वाली स्त्रियों तथा उत्तमोत्तम रत्नों की प्राप्ति हो जाती है । यद्यपि चित्राम तथा काठ के बनाए हुए देवता कुछ भी नहीं दे सकते तो भी धर्म के माहात्म्य से वे भी वांछित पदार्थों को देने वाले हो जाते हैं । विशेष कहाँ तक कहा जाए? यदि संसार में धर्म है तो जीवों को कठिन से कठिन वस्तु की प्राप्ति भी तत्काल हो जाती है ।

संसार में पुण्योदय का प्रभाव

(वसन्ततिलका)
दूरादभीष्टमभिगच्छति पुण्ययोगात्;
पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति ।
अन्यत् परं प्रभवतीह निमित्तमात्रं;
पात्रं बुधा भवत निर्मलपुण्यराशेः ॥188॥
पुण्योदय से दूर-स्थित, वस्तु भी मिले सहज जग में ।
पुण्योदय बिन वस्तु नष्ट, हो जाती यदि हो करतल में ॥
अन्य सभी जग के पदार्थ तो, निमित्त मात्र ही होते हैं ।
यह निश्चय कर भव्य जीव सब, विमल पुण्य के भाजन हों ॥
अन्वयार्थ : पुण्य के उदय से दूर रही हुई वस्तु भी अपने आप आकर प्राप्त हो जाती है; किन्तु जब पुण्य का उदय नहीं रहता, तब हाथ में रखी हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है । यदि पुण्य-पाप से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ सुख-दुःख का देने वाला है तो वह केवल निमित्त मात्र है; इसलिए हे भव्य जीवों! तुम निर्मल पुण्य के पात्र बनो ।

पुण्योदय के प्रभाव से दुर्लभ वस्तुएँ भी सुलभ

(शार्दूलविक्रीडित)
कोप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा, ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्;
निःप्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याऽऽघुष्यते मन्मथः ।
उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि नितरा,-मालिंग्यते च श्रिया;
पुण्यादन्यमपि प्रशस्तमखिलं, जायेत यद्दुर्घटम् ॥189॥
अन्धे को भी कहें सुलोचन, बूढ़ा भी कहलाए जवान ।
निर्बल को भी शेर कहे जग, कामदेव कहें रूप बिना ॥
पुण्योदय से महा आलसी, को भी लक्ष्मी वरण करे ।
उत्तम से उत्तम वस्तु भी, मिलती जग में दुर्लभ जो ॥
अन्वयार्थ : पुण्य के उदय से अन्धा होने पर भी सुलोचन, रोगी भी रूपवान, निर्बल भी सिंह के समान पराक्रमी तथा बदसूरत भी कामदेव के समान सुन्दर कहलाता है; इसी प्रकार आलसी को भी लक्ष्मी अपने आप आकर वर लेती है । विशेष कहाँ तक कहा जाए? जो उत्तम से उत्तम वस्तुएँ संसार में दुर्लभ कही जाती हैं, वे सभी पुण्य के ही उदय से सुलभ हो जाती हैं अर्थात् वे बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो जाती हैं ।

पापोदय के दुष्ट प्रभाव

बन्ध-स्कन्ध-समाश्रितां सृणिभृता,-मारोहकाणामलं;
पृष्ठे भार-समर्पणं कृतवतां, सञ्चालनं ताडनम् ।
दुर्वाचं वदतामपि प्रतिदिनं, सर्वं सहन्ते गजा;
निःस्थाम्नां बलिनोऽपि यत्तदखिलं, दुष्टो विधिश्चेष्टते ॥190॥

हाथी को सांकल से बाँधें, ऊपर चढ़ भार लादें ।
अंकुश मारें और महावत, भाँति-भाँति दुर्वचन कहें ॥
छेदन-भेदन-ताड़न सब कुछ, सहते बलशाली गजराज ।
निर्बल से भी प्रतिदिन यह, है एकमात्र दुर्दैव प्रभाव ॥

अन्वयार्थ : यद्यपि महावत की अपेक्षा हाथी बलवान होते हैं तो भी महावत उनको बाँधते हैं, उनके ऊपर चढ़ते हैं, उन्हें अंकुश भी मारते हैं, उनकी पीठ पर बोझा भी लादते हैं, उनको अपनी इच्छानुसार चलाते हैं, ताड़ना करते हैं, प्रतिदिन उनको गाली भी देते हैं और उन हाथियों को ये सब बातें सहनी पड़ती हैं; इसी प्रकार उत्तम पुरुषों पर नीच पुरुष भी अपना प्रभाव डालते हैं । उक्त समस्त चेष्टाएँ दुष्ट कर्म की हैं (पाप के द्वारा ही ये सब बातें होती हैं); इसलिए भव्यों को चाहिए कि वे सदा पुण्य का ही उपार्जन करें तथा पाप का नाश करें ।

धर्म के प्रभाव से देवता भी धर्मात्मा पुरुषों के आधीन

सर्पो हारलता भवत्यसिलता, सत्पुष्पदामायते;
सम्पद्येत रसायनं विषमपि, प्रीतिं विधत्ते रिपुः ।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः, किं वा बहु ब्रुमहे;
धर्मो यस्य नभोऽपि तस्य सततं, रत्नैः परैर्वर्षति ॥191॥
सर्प मनोहर हार बने फूलों की माला तलवार ।
घातक विष भी बने रसायन अरि, भी करे प्रेम व्यवहार ॥
सुर भी दास बनें खुश होकर और अधिक क्या कहें विशेष ।
जहाँ धर्म है वहाँ गगन से, उत्तम रत्न नित्य बरसें ॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य धर्मात्मा हैं; उनके प्रभाव से भयंकर सर्प भी मनोहर हार बन जाते हैं, पैनी तलवार भी उत्तम फूलों की माला बन जाती है, प्राणघातक विष भी उत्तम रसायन बन जाता है, वैरी भी प्रीति करने लग जाता है और प्रसन्नचित्त होकर देव भी धर्मात्मा पुरुष के आधीन हो जाते हैं । विशेष कहाँ तक कहा जाए? जिस मनुष्य के हृदय में धर्म है, उसके धर्म के प्रभाव से आकाश से भी उत्तम रत्नों की वर्षा होती है; इसलिए भव्य जीवों को धर्म से कदापि विमुख नहीं होना चाहिए ।

धर्म के प्रभाव से ही शान्ति का अनुभव

उग्र-ग्रीष्म-रवि-प्रताप-दहन,-ज्वालाऽभितप्तश्चलन्;
यः पित्त-प्रकृतिर्मरौ मृदुतरः, पान्थो यथा पीडितः ।
तद् द्राग्लब्धहिमाद्रिकुञ्जरचित,-प्रोद्दामयन्त्रोल्लसद्;
धारावेश्मसमो हि संसृति-पथे, धर्मो भवेद्देहिनाम् ॥192॥
भीषण गर्मी में सूरज की, ज्वाला में ज्यों गमन करे ।
पित्त प्रकृतिवाला कोमल तन-धारी मनुज मरुस्थल में ॥
हिमवत् शीतल फव्वारों से, युक्त मनोहर सदन मिले ।
दैवयोग से त्यों भव-वन में, प्राणी को सत्धर्म मिले ॥

अन्वयार्थ : ग्रीष्मकाल में जो बटोही (राहगीर) भयंकर सूर्य की सन्तापरूपी अग्नि की ज्वालाओं से अत्यन्त तप्तायमान है, पित्त प्रकृतिवाला है, कोमल शरीर का धारी है और मारवाड़ (मरुस्थल) की भूमि में गमन करने वाला है; इस प्रकार जो अत्यन्त दुःखित है, यदि वह दैवयोग से हिमालय पर्वत की गुफा में बने हुए फव्वारों सहित मनोहर धारागृह को पा लेवे तो वह परम सुखी होता है । उसी प्रकार जो जीव, अनादिकाल से इस संसार में जन्मह्मरण आदि दुःखों को सह रहा है तथा निरन्तर नरकादि योनियों में भ्रमण कर रहा है; यदि वह भी धारागृह (फव्वारों सहित घर) के समान इस धर्म को संसार में पा लेवे तो सुखी हो जाता है; इसलिए जो मनुष्य शान्ति को चाहते हैं, उनको धर्म का आराधन अवश्य ही करना चाहिए ।

धर्म के प्रभाव से समस्त विपत्तियाँ पल भर में दूर

संहारोग्र-समीर-संहतिहत,-प्रोद्धूत-नीरोल्लसत्;
तुङ्गोर्मि - भ्रमितोरु-नक्र -मकर -ग्राहादिभिर्भीषणे ।
आम्भोधौ विधुतोग्रवाडवशिखि,-ज्वालाकराले पतत्;
जन्तोः खेऽपि विमानमाशु कुरुते, धर्मः समालम्बनम्॥193॥
प्रलयकाल की तीव्र पवन से, जिसमें ऊँची लहर उठें ।
मगरमच्छ घड़ियाल आदि से, सागर हुआ भयंकर है ॥
बड़वानल से उग्र उदधि में, गिरते हुए जगत्जन को ।
नभ में रचे विमान धर्म, देता आलम्बन जीवों को ॥

अन्वयार्थ : प्रलयकाल में समुद्र में उठा हुआ जो भयंकर पवन समूह, उससे उछलता हुआ जो जल, उसकी जो ऊँची-ऊँची तरंगें, उनमें भ्रमण करते हुए जो मगरमच्छ आदि जल-जीव, उनसे जो भयंकर हो रहा है तथा जो तीक्ष्ण बड़वानल की ज्वाला से भी भयंकर है - ऐसे समुद्र में गिरते हुए प्राणियों को भी धर्म नहीं गिरने देता है तथा आकाश में भी विमान रच कर, शीघ्र ही अवलम्बन देता है ।

धर्मात्मा पुरुषों की कीर्ति का समस्त दिशाओं में विस्तार

(स्रग्धरा)
उह्यन्ते ते शिरोभिः, सुरपतिभिरपि, स्तूयमानाः सुरौघै;
गीयन्ते किन्नरीभि:, ललितपदलसद्, गीतिभिर्भक्तिरागात् ।
बंभ्रम्यंते च तेषां, दिशि दिशि विशदाः, कीर्तयः का न वा स्यात्;
लक्ष्मीस्तेषु प्रशस्ता, विदधति मनुजा, ये सदा धर्मकम् ॥194॥
सुरपति मस्तक पर धारें अरु, सुरगण करें मधुर गुणगान ।
ललित पदावलि से किन्नरियाँ, भक्तिराग से स्तुति-गान ॥
दिग्दिगन्त में कीर्ति व्याप्त हो, लक्ष्मी आकर वरण करे ।
अत: भव्यजन महामहिम यह, धर्म सदा उर में धारें ॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, सदा धर्म को धारण करते हैं, उनको इन्द्र भी मस्तक पर धारण करते हैं, उनकी बड़े-बड़े देव स्तुति करते हैं और उन धर्मात्मा पुरुषों के गुण, बड़ी शान्ति से किन्नरी जाति की देवियाँ गाती हैं, उन धर्मात्मा पुरुषों की कीर्ति समस्त दिशाओं में फैल जाती है, उन धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम से उत्तम लक्ष्मी की भी प्राप्ति होती है; इसलिए भव्य जीवों को ऐसा महिमायुक्त धर्म अवश्य धारण करने योग्य है ।

धर्म ही मन्त्र, कल्पवृक्ष और चिन्तामणी रत्न के समान फलदायी

(शार्दूलविक्रीडित)
धर्मः श्री-वश-मन्त्र एष परमो, धर्मश्च कल्पद्रुमो;
धर्मः कामगवीप्सित-प्रद-मणि,-धर्मः परं दैवतम् ।
धर्मः सौख्य, परम्पराऽमृत-नदी-सम्भूति-सत्पर्वतो;
धर्मो भ्रातरुपास्यतां किमपरैः, क्षुद्रैरसत्कल्पनैः॥195॥
लक्ष्मी को वश करे मन्त्र यह, धर्म कल्पतरु-फलदाता ।
कामधेनु है चिन्तामणि है, धर्म देव सबसे ऊँचा ॥
धर्म शिखर से सुखरूपी, अमृत की सरिता नित्य बहे ।
हे भाई, तुम धर्म करो, क्या लाभ व्यर्थ मिथ्या भ्रम से ?

अन्वयार्थ : समस्त प्रकार की लक्ष्मी को देने वाला होने के कारण यह धर्म, लक्ष्मी को वश करने के लिए मन्त्र के समान है । यह धर्म, वांछित चीजों को देने वाला कल्पवृक्ष है । धर्म ही कामधेनु है । धर्म ही समस्त चिन्ताओं को पूर्ण करने वाला चिन्तामणि रत्न है । धर्म ही उत्कृष्ट देवता है । धर्म ही उत्कृष्ट सुखों की राशिरूपी अमृत नदी को उत्पन्न करने में पर्वत के समान है (जिस प्रकार हिमालय आदि पहाड़ों से नदियाँ उत्पन्न होती हैं; उसी प्रकार धर्म से सुखों की परम्परारूप नदी की उत्पत्ति होती है, सुख मिलता है) । इसलिए अरे भाइयों! व्यर्थ नीच कल्पनाएँ करके क्या? केवल धर्म ही का सेवन करो, जिससे तुम्हारे सर्व कार्य सिद्ध हो जाएँ ।

धर्म को केवल सुन कर धारण करने वाले भी शान्ति के पात्र

आस्तामस्य विधानतः पथि गति,-र्धर्स्य वार्ताऽपि यैः;
श्रुत्वा चेतसि धार्यते त्रिभुवने, तेषां न काः सम्पदः ।
दूरे सज्जल-पान-मज्जन-सुखं, शीतैः सरो-मारुतैः;
प्राप्तं पद्मरजः सुगन्धिभिरपि, श्रान्तं जनं मोदयेत् ॥196॥
धर्म-मार्ग पर चलने की क्या बात? मात्र जो सुन कर ही ।
धारण करते उन्हें न मिलती, कौन सम्पदा त्रिभुवन की ?
दूर रहो शीतल जल पीने और नहाने को सुख-भोग ।
कमल-रजों से सुरभित शीतल, वायु मात्र करती मदहोश ॥
अन्वयार्थ : धर्म के मार्ग में विधिपूर्वक गमन करना तो दूर रहो, किन्तु जो धर्म की बातों के प्रेमी मनुष्य, केवल उसको सुन कर धारण करते हैं, उनको भी तीन लोक में समस्त सम्पदाओं की प्राप्ति होती है । जिस प्रकार शीतल जल के पीने तथा स्नान करने का सुख तो दूर ही रहो (उससे तो शान्ति मिलती ही है), किन्तु जो तालाब की वायु, कमलों की रज से सुगन्धित है, शीतल है, उससे उत्पन्न हुआ सुख भी थके हुए मनुष्य को शान्त कर देता है; इसलिए भव्य जीवों को सदा धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए ।

निर्मल ज्ञान-प्रदाता गुरुवर श्री वीरनन्दि को प्रणाम

(वसन्ततिलका)
यत्पाद-पंकज-रजोभिरपि प्रणामात्;
लग्नैः शिरस्यमल-बोध-कलाऽवतारः ।
भव्याऽत्मनां भवति तत्क्षणमेव मोक्षं;
स श्रीगुरुर्दिशतु मे मुनिवीरनन्दी ॥197॥
जिनकी पद-पंकज-रज मस्तक, पर लगने से भविजन को ।
तत्क्षण शिवफल मिलता है, वन्दन हो वीरनन्दि गुरु को ॥
अन्वयार्थ : जिन वीरनन्दि गुरु को प्रणाम करते हुए, मस्तक में लगाए हुए चरण-कमलों की रजों से ही भव्य जीवों को बात ही बात में निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है - ऐसे वे मेरे गुरु श्री वीरनन्दि मुनि, मुझे मोक्ष देवें ।

उपसंहार में धर्मोपदेशामृत पान करने की प्रेरणा

(शार्दूलविक्रीडित)
दत्ताऽऽनन्दमपार-संसृति-पथ-श्रान्त-श्रमच्छेदकृत्;
प्रायो दुर्लभमत्र कर्णपुटकैः, भव्यात्मभिः पीयताम् ।
निर्यातं मुनि-पद्मनन्दि-वदन,-प्रालेय-रश्मेः परं;
स्तोकं यद्यपि सारताऽधिकमिदं, धर्मोपदेशाऽमृतम् ॥198॥
संसृति-पथ के श्रम को हर कर, जो परमानन्द देता है ।

प्राय: जग में दुर्लभ है, पर कानों से भवि पीता है ॥
पद्मनन्दि मुनि चन्द्र-वदन से, यह उपदेशामृत झरता ।
थोड़े में यह कहा गया पर, अधिक सार है भरा हुआ ॥
अन्वयार्थ : जो धर्मोपदेशरूपी अमृत, उत्तम आनन्द को देने वाला है, जो संसाररूपी अपार मार्ग में थके हुए प्राणी की थकावट को दूर करने वाला है, पुण्यहीन पुरुषों को अत्यन्त दुर्लभ है, जो पद्मनन्दि मुनि के मुख-चन्द्र से निकला हुआ है (जिस प्रकार चन्द्रमा से अमृत निकलता है; उसी प्रकार पद्मनन्दि मुनि के मुख-चन्द्र से भी धर्मोपदेशरूपी अमृत निकलता है) । यद्यपि वह धर्मोपदेशामृत, शब्दों से थोड़ा वर्णन किया गया है तो भी सार में अधिक (सारभूत) है; इसलिए यह धर्मोपदेशामृत भव्यों को अवश्य पीना चाहिए ।

मङ्गलाचरण में व्रततीर्थ एवं दानतीर्थ प्रवर्तकों की महिमा

वसन्ततिलका
जीयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनुः,
श्रेयो नृपश्च कुरुगोत्रगृहप्रदीपः ।
याभ्यां बभूवतुरिह व्रतदानतीर्थे,
सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे॥1॥
जग में हों जयवन्त नाभि-सुत, कुरु गृह-दीप नृपति श्रेयांस ।
जिनसे धर्मचक्रमय व्रत अरु, दान तीर्थ जग में प्रारम्भ ॥
अन्वयार्थ : श्री नाभिराजा के पुत्र श्री वृषभ भगवान, सदा इस लोक में जयवन्त रहें; कुरु-गोत्ररूपी घर को प्रकाशित करने वाले श्री श्रेयांस राजा भी इस लोक में सदा जयवन्त रहें क्योंकि इन दोनों महात्माओं की कृपा से उत्कृष्ट धर्मरूपी रथ के चक्रस्वरूप अर्थात् परम धर्मरूपी रथ के चलाने वाले सार-क्रमसहित व्रत-तीर्थ तथा दान-तीर्थ की उत्पत्ति हुई है ।

दानतीर्थ प्रवर्तक राजा श्रेयांस की महिमा

श्रेयोऽभिधस्य नृपते: शरदभ्रशुभ्र-,
भ्राम्यद्यशोभृतजगत्त्रितयस्य तस्य ।
किं वर्णयामि ननु सद्मनि यस्य भुक्तं,
त्रैलोक्यवन्दितपदेन जिनेश्वरेण॥2॥
शरद मेघ-सम उज्ज्वल यश है, जिनका तीन लोक में व्याप्त ।
क्या महिमा उनकी जिनके घर, जिनवर ने आहार लिया॥
अन्वयार्थ : ग्रन्थकार कहते हैं कि शरद काल के मेघ के समान भ्रमण करते हुए उज्ज्वल यश ने तीनों जगत् को पूर्ण कर दिया है अर्थात् जिनका उज्ज्वल यश तीनों लोक में फैला हुआ है - ऐसे श्री श्रेयांस नामक राजा की हम क्या प्रशंसा करें, जिस श्रेयांस राजा के घर में तीन लोक के द्वारा पूजनीय श्री ऋषभदेव भगवान ने आहार लिया था ।

पृथ्वी के वसुमती नाम की सार्थकता

श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदाखा-,
देकाद्यवन्द्यमुनिपुङ्गवपारणायाम् ।
सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेकचित्र-,
हेतुर्यया वसुतीत्वमिता धरित्री॥3॥
जयवन्तो श्रेयांस नृपति, जिनके घर मुनिवर का आहार ।
हुई रत्नवृष्टि तब जिससे, भू का 'वसुमती' नाम प्रचार॥

अन्वयार्थ : वह श्रेयांस राजा सदा जयवन्त रहो, जिस श्रेयांस राजा के घर तीन लोक के द्वारा वन्दनीय श्री ॠषभदेव मुनिराज के पारणा के समय तीन लोक को आश्चर्य करने वाली रत्नों की ऐसी वर्षा हुई कि जिससे यह पृथ्वी साक्षात् वसुती नाम को धारण करने लगी ।

दानोपदेश में दयाभाव ही कारण

प्राप्तेऽपि दुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीवितादौ ।
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये,
कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किञ्चित्॥4॥
दुर्लभ नरभव पाकर जीवन, यौवन आदिक स्वप्न समान ।
लोभ-कूप में गिरे हुए को, कहूँ दया से सम्बोधन॥
अन्वयार्थ : अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर, स्वप्न और इन्द्रजाल के समान जीवन, यौवन आदि के होने पर भी जो मनुष्य, लोभरूपी कुए में गिरे हुए हैं, उनके उद्धार के लिए आचार्य कहते हैं कि मैं दयाभाव से कुछ कहूँगा ।

गृहस्थाश्रम से पार कराने वाला उत्कृष्ट दान ही जहाजस्वरूप

कान्ताऽत्मजद्रविणमुख्यपदार्थसार्थ-,
प्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वात्,
दानं परं परमसात्त्विकभावयुक्तम्॥5॥
स्त्री-पुत्र-धनादिक से, उत्पन्न मोहमय गृह आश्रम ।
तरने हेतु जहाज श्रेष्ठ है, सद्भावों से देना दान॥
अन्वयार्थ : स्त्री-पुत्र-धन आदि जो मुख्य पदार्थों का समूह, उससे उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त घोर तथा प्रचुर मोह, उसके विशाल समुद्रस्वरूप इस गृहस्थाश्रम से पार होने के लिए परम सात्त्विक भाव से दिया हुआ तथा सर्व गुणों में अधिक - ऐसा उत्कृष्ट दान ही जहाज के समान है ।

दान ही शुभगति प्रदायक

नानाजनाश्रितपरिग्रहसम्भृतायाः,
सत्पात्रदानविधिरेव गृहस्थतायाः ।
हेतुः परः शुभगतेर्विषमे भवेऽस्मिन्,
नावः समुद्र इव कर्मठकर्णधारः॥6॥
विविध परिग्रह युक्त गृहस्थों को सत्पात्र-दान-विधि मात्र ।
शुभगति दाता, यथा सिन्धु में नौका तारे खेवनहार॥
अन्वयार्थ : जिसका खेवटिया चतुर है - ऐसे अथाह समुद्र में पड़ी हुई नाव भी जिस प्रकार मनुष्य को तत्काल पार कर देती है; उसी प्रकार इस भयंकर संसार में स्त्री-पुत्र आदि नाना जनों के आधीन जो परिग्रह, उससे सहित इस गृहस्थपने में रहे हुए मनुष्य के लिए श्रेष्ठ पात्र के लक्ष्य से हुई दान-विधि ही शुभ गति को देने वाली होती है । इसलिए भव्य जीवों को गृहस्थाश्रम में रह कर अवश्य दान देना चाहिए ।

दान में ही धन की सफलता

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो,
यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।

वित्तस्य तस्य सुगतिः खलु दानमेकं,
अन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः॥7॥
किया उपार्जित विविध दु:खों से, अधिक इष्ट सुत, प्राणों से ।
दान-मात्र है सुगति वित्त की, अन्य विपत्ति सन्त कहें॥

अन्वयार्थ : जो धन, नाना प्रकार के दुःखों से पैदा किया गया है, जो मनुष्यों को अपने पुत्रों से तथा जीवन से भी अधिक प्यारा है, उस धन की यदि अच्छी गति है तो केवल दान ही है अर्थात् वह धन, दान से सफल होता है, किन्तु दान के अतिरिक्त दिया हुआ वह धन, विपत्ति का ही कारण है - ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं । इसलिए भव्य जीवों को अपना कमाया हुआ धन, दान में ही खर्च करना चाहिए ।

पात्रदान ही वटवृक्ष के बीज समान

भुक्त्यादिभिःप्रतिदिनं गृहिणो न सम्यक्-,
नष्टा रमापि पुनरेति कदाचिदत्र ।
सत्पात्रदानविधिना तु गताप्युदेति,
क्षेत्रस्थ बीजमिव कोटिगुणं वटस्य॥8॥
भोगादिक में नष्ट लक्ष्मी, कभी लौट कर नहिं आती ।
पात्रदान में खर्च हुई जो, वृक्ष् बीजवत् कोटि गुणी॥

अन्वयार्थ : गृहस्थ के द्वारा जिस लक्ष्मी का भोगादि से नाश होता है, वह लक्ष्मी कदापि लौट कर नहीं आती; परन्तु जो लक्ष्मी, मुनि आदि उत्तम पात्रों के दान देने में खर्च होती है, वह लक्ष्मी, भूमि में स्थित वटवृक्ष के बीज के समान कोटि गुनी होती है अर्थात् जो मनुष्य, लक्ष्मी पाकर निरभिमान होकर दान देते हैं, वे इन्द्रादि सम्पदाओं का भोग करते हैं । इसलिए यदि मनुष्य को लक्ष्मी की वृद्धि की भी आकांक्षा है तो उसको अवश्य मुनि आदि पात्रों को दान देना चाहिए ।

दानोपदेश में शिल्पी का उदाहरण

यो दत्तवानिह मुमुक्षुजनाय भुक्तिं,
भक्त्याश्रितः शिवपथे न धृतः स एव ।
आत्माऽपि तेन विदधत्सुरसद्म नूनं,
उच्चैः पदं व्रजति तत्सहितोऽपि शिल्पी॥9॥
जैसे भवन बनाता शिल्पी, खुद ऊँचा चढ़ता जाता ।
करे दान-आहार मुमुक्षु, को वह खुद मुक्ति जाता॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कारीगर जैसे-जैसे ऊँचा मकान बनाता जाता है, वैसे-वैसे आप भी ऊँचा होता चला जाता है; उसी प्रकार जो मनुष्य, मोक्ष की इच्छा करने वाले मनुष्य को भक्तिपूर्वक आहारदान देता है, वह उस मुनि को ही मुक्ति में नहीं पहुँचाता, किन्तु स्वयं भी जाता है । इसलिए ऐसा स्व-पर हितकारी दान मनुष्यों को अवश्य देना चाहिए ।

दानोपदेश में किसान का उदाहरण

यः शाकपिण्डमपि भक्तिरसानुविद्ध-,
बुद्धिः प्रयच्छति जनो मुनिपुङ्गवाय ।
सः स्यादनन्तफलभागथ बीजमुप्तं,
क्षेत्रे न किं भवति भूरि कृषीवलस्य॥10॥
भक्तिपूर्वक मुनिपुङ्गव को, शाकमात्र का दे आहार ।
वह अनन्त सुख पाता है ज्यों, कृषक बीज से पाता धान्य॥

अन्वयार्थ : जो श्रावक, भक्तिपूर्वक मुनि को शाक-पिण्ड का भी आहार देता है, वह अनन्त सुखों का भोक्ता होता है । जिस प्रकार लोक में किसान थोड़ा बीज बोता है तो उसके बीज की अपेक्षा अधिक धान्य पैदा होता है; उसी प्रकार धर्मक्षेत्र में थोड़े-से बहुत की इच्छा करने वाले श्रावकों को खूब दान देना चाहिए ।

पात्रदान करनेवाले मनुष्य की इन्द्र से भी अधिक महानता

साक्षान्मनोवचन-काय-विशुद्धि-शुद्धः,
पात्राय यच्छति जनो ननु भुक्तिमात्रम् ।
यस्तस्य संसृति-समुत्तरणैक-बीजे,
पुण्ये हरिर्भवति सोऽपि कृताऽभिलाष:॥11॥
मन-वच-तन की शुद्धिपूर्वक, जो मुनिवर को दें आहार ।
ऐसे भवदधि-तारक शुभ में, सुरपति भी करते अभिलाष॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, भलीभाँति मन-वचन-काय को शुद्ध कर, उत्तम पात्र के लिए आहारदान देता है - ऐसे मनुष्य के, संसार से पार करने में कारणभूत पुण्य की अभिलाषा, नाना प्रकार की संपत्ति का भोग करने वाला इन्द्र भी करता है । इसलिए गृहस्थाश्रम में सिवाय दान के दूसरा कोई कल्याण करने वाला नहीं, अतः श्रावकों को दान अवश्य चाहिए ।

गृहस्थ ही मानो मोक्षमार्ग का धारक

मोक्षस्य कारणमभीष्टुतमत्र लोके,
तद्धार्यते मुनिभिरङ्ग-बलात्तदन्नात् ।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्तिभाजा,
तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्गः॥12॥
मुनि तन-बल से रत्नत्रय धारें, जो हो भोजन से प्राप्त ।
श्रावक दें आहार अत: वे, भी हैं शिवपथ के धारक॥

अन्वयार्थ : इस संसार में मोक्ष का कारण रत्नत्रय है, उस रत्नत्रय को शरीर में शक्ति होने पर मुनिगण पालते हैं । मुनियों के शरीर में शक्ति अन्न से आती है तथा मुनियों के लिए उस अन्न को श्रावक भक्तिपूर्वक देते हैं । इसलिए वास्तविक रीति से गृहस्थ ने ही मोक्षमार्ग को धारण किया है - ऐसा समझना चाहिए ।

गृहस्थाश्रम में व्रत की अपेक्षा दान की महत्ता

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जै:,
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि ।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदाऽपि,
प्रीत्यातिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम्॥13॥
पापों से असमर्थ व्रतादिक, नहिं दे सकते हैं वह फल ।
निर्मल मन से एक बार, सत्पात्रदान से हो जो फल॥

अन्वयार्थ : गृह-सम्बन्धी नाना प्रकार के आरम्भों से उपार्जन किए हुए पाप के कारण असमर्थ हुए व्रत, गृहस्थों को कुछ भी ऊँचे फल को नहीं दे सकते; जैसा कि प्रीतिपूर्वक तथा शुद्ध मन से उत्तमादि पात्रों को एक समय भी दिया हुआ दान, उत्तम फल को देता है । इसलिए ऊँचे फल के अभिलाषियों को सदा उत्तमादि पात्रों का दान देना चाहिए ।

दानोपदेश में नदी का उदाहरण

मूले तनुस्तदनु धावति वर्धमाना,

यावच्छिवं सरिदिवानिशमासमुद्रम् ।
लक्ष्मीः सदृष्टिपुरुषस्य यतीन्द्रदान-,
पुण्यात्पुरः सह यशोभिरतीद्धफेनैः॥14॥
नदी मूल में कम चौड़ी हो, किन्तु बाद में होय विशाल ।
पहले हो थोड़ी लक्ष्मी पश्चात् यश सहित हो विस्तार॥
अन्वयार्थ : जिस पहाड़ से नदी निकलती है, वहाँ पर यद्यपि नदी का फैलाव थोड़ा होता है, परन्तु समुद्र पर्यन्त जिस प्रकार फेन सहित वह नदी, उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है; उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि के पहले लक्ष्मी थोड़ी होती है, परन्तु मुनीश्वरों को दिए हुए दान के प्रभाव से कीर्ति के साथ मोक्षपर्यन्त वह इन्द्र-अहमिन्द्र-चक्रवर्ती-तीर्थंकरादि के रूप में दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही चली जाती है । इसलिए सम्यग्दृष्टि को अवश्य दान देना चाहिए ।

गृहस्थाश्रम में ज्ञान की अपेक्षा भी दान की अधिक महिमा

प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः,
शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः ।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था,
सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषङ्गात्॥15॥
आत्मज्ञान पुरुषार्थ सिद्धि, प्राय: न गृही को हो सकती ।
किन्तु चतुर्विध पात्रदान से, पल भर में प्राप्त हो सिद्धि॥
अन्वयार्थ : जिस परमात्मा के ज्ञान से धर्म-अर्थ-काम और मोक्षरूप चार पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, उस परमात्मा का ज्ञान, सम्यग्दृष्टि को घर में रह कर प्रायः नहीं हो सकता; परन्तु उन पुरुषार्थों की सिद्धि उत्तम आदि पात्रों को आहार, औषध, अभय तथा शास्त्ररूप चार प्रकार के दान के देने से पल भर में हो जाती है । इसलिए धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थों के अभिलाषी सम्यग्दृष्टियों को उत्तम आदि पात्रों को अवश्य दान देना चाहिए ।

भोजन, औषधि आदि द्वारा मुनियों का उपकार करने की प्रेरणा

नामापि यः स्मरति मोक्षपथस्य साधो-,
राशु क्षयं व्रजति तद्दुरितं समस्तम् ।
यो भक्त-भेषज-मठादि-कृतोपकारः,
संसारमुत्तरति सोऽत्र नरो न चित्रम्॥16॥
नाममात्र ले जो मुनिवर का, तो क्षण में नशते सब पाप ।
क्या आश्चर्य किभोजनादि, देकर होवें भवसागर पार॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, मोक्षार्थी साधु का नाममात्र भी स्मरण करता है, उसके समस्त पाप, क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं; किन्तु जो भोजन, औषधि, मठ आदि बनवा कर, मुनियों का उपकार करता है, वह संसार से पार हो जाता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

मुनियों के आगमन बिना गृहस्थों के घर व उनके मन की असारता

किं ते गृहा: किमिह ते गृहिणो नु येषां,
अन्तर्मनस्सु मुनयो न हि संचरन्ति ।
साक्षादथ स्मृति-वशाच्चरणोदकेन,
नित्यं पवित्रितधराग्रशिरःप्रदेशाः॥17॥
जिनके चरणोदक से हो, नित गृह एवं मस्तक पावन ।

जिस मन में मुनि-वास नहीं, वह घर एवं श्रावक निष्फल॥

अन्वयार्थ : जिन मुनियों के चरण-कमल के जल-स्पर्श से जिन घरों की भूमि पवित्र हो जाती है, जिन गृहस्थों के मस्तक भी पवित्र हो जाते हैं; उन उत्तम मुनियों का जिन घरों में संचार नहीं है तथा जिन गृहस्थों के मन के भीतर भी जिन मुनियों का प्रवेश नहीं है, वे घर व गृहस्थ, दोनों ही बिना प्रयोजन के हैं । इसलिए गृहस्थों को उत्तमादि पात्रों को अवश्य दान देना चाहिए, जिससे मुनियों के आगमन से उनके घर पवित्र बने रहें तथा उनका गृहस्थपना भी कार्यकारी गिना जाए ।

पात्रदान के बिना सम्पदा किस काम की?

देव: स किं भवति यत्र विकारभावो,
धर्म: स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्या ।
तत्किं तपो गुरुरथास्ति न यत्र बोधः,
सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम्॥18॥
रागी कैसे देव हो सकें?दया नहीं तो धर्म कहाँ? ।
आत्मज्ञान बिन तप-गुरु कैसे? दान बिना वैभव का क्या?॥

अन्वयार्थ : वह देव कैसा? जिसके मन में स्त्री आदि को देख कर, विकार उत्पन्न होता है, वह धर्म किस काम का? जिसमें दया मुख्य नहीं मानी जाती है । वह तप तथा वह गुरु किस काम का? जिससे आत्मा आदि का ज्ञान नहीं होता तथा वह सम्पदा भी किस काम की? जिसके होने पर उत्तम आदि पात्रों को दान न दिया जाए ।

दान-व्रतादि के द्वारा उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति

किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्ति लोके,
सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति ।
दान-व्रतादि-जनितो यदि मानवस्य,
धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्र:॥19॥
दान और व्रतजन्य धर्म है, मन्त्र त्रिजग-वश होय जहाँ ।
उत्तम से उत्तम गुण सुख ऐश्वर्य आदि क्या नहीं वहाँ?॥

अन्वयार्थ : जिस मनुष्य के पास तीनों जगत् को वश करने में मन्त्रस्वरूप तथा दान-व्रत आदि से उत्पन्न हुआ धर्म मौजूद है; उस मनुष्य के पास उत्तमोत्तम गुण, उत्तमोत्तम सुख और उत्तमोत्तम ऐश्वर्य, सब अपने आप आकर वशीभूत हो जाते हैं । इसलिए उत्तमोत्तम गुण के अभिलाषियों को दान-व्रत आदि अवश्य करना चाहिए ।

राज्यलक्ष्मी के भोग से दान देनेवाला श्रेष्ठ

सत्पात्रदान-जनितोन्नत-पुण्यराशि:,
एकत्र वा परजने नरनाथलक्ष्मीः ।
आद्यात्परस्तदपि दुर्गत एव यस्मात्,
आगामिकालफलदायि न तस्य किंचित्॥20॥
कोई दान से पुण्य करे अरु, कोई करे वैभव का भोग ।
दाता फल पाए भविष्य में, भोगी को फल नहीं मनोग॥

अन्वयार्थ : एक मनुष्य तो उत्तम पात्रदान से पैदा हुए श्रेष्ठ पुण्य का संचय करता है और दूसरा राज्य-लक्ष्मी का अच्छी तरह भोग करता है, परन्तु उन दोनों में राज्य-लक्ष्मी का भोग करने वाला दूसरा पुरुष ही दरिद्री है क्योंकि आगामी काल में उसको किसी प्रकार की सम्पत्ति आदि का फल नहीं मिल सकता, किन्तु पात्रदान करने वाले को तो आगामी काल में उत्तम सम्पदारूपी फलों की प्राप्ति होती है । इसलिए

भव्य जीवों को खूब दान देकर पुण्य का संचय करना चाहिए ।

धन की दान देने में ही सार्थकता

दानाय यस्य न धनं न वपुर्व्रताय,
नैवं श्रुतं च परमोपशमाय नित्यम् ।
तज्जन्म केवलमलं मरणाय भूरि-,
संसारदुःखमृतिजातिनिबन्धनाय॥21॥
दान हेतु धन, विरति हेतु तन, श्रुत नहिं उपशम हेतु जहाँ ।
विविध क्लेश को भोग, मरण के लिए जन्म है हुआ वहाँ॥

अन्वयार्थ : जिस मनुष्य का धन, दान के लिए नही है; शरीर, व्रत के लिए नहीं है और शास्त्र, उत्तम शान्ति को प्राप्त करने के लिए नहीं हैं उस मनुष्य का जन्म, संसार के जन्म-मरण आदि अनेक दुःखों को भोगने के कारण मरण के लिए ही है ।

दान के बिना समस्त विभूति, कर्मबन्ध की कारण

प्राप्ते नृजन्मनि तपः परमस्तु जन्तोः,
संसार-सागर-समुत्तरणैक-सेतुः ।
मा भूद्विभूतिरिह बन्धन-हेतुरेव,
देवे गुरौ शमिनि पूजनदानहीना॥22॥
नर-भव में भव-सागर-पार, उतरने को तप-सेतु मिले ।
बन्ध हेतु अरु पूजन-दान-विहीन विभूति न हो मुझको॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्य भव के प्राप्त होने पर मनुष्य को संसार-समुद्र से पार होने के लिए पुल के समान श्रेष्ठ तप का मिलना श्रेष्ठ ही है; परन्तु इस लोक में अर्हन्त और गुरु के पूजन तथा दान के उपयोग में न आने वाली और केवल कर्मबन्ध की ही कारण ऐसी विभूति की कोई आवश्यकता नहीं है ।

दान के बिना विभूति, दुर्गति का कारण

भिक्षा वरं परिहृताऽखिलपापकारि-,
कार्यानुबन्धविधुराश्रितचित्तवृत्तिः ।
सत्पात्रदान-रहिता विततोग्र-दुःख-,
दुर्लंघ्य-दुर्गतिकरी न पुनर्विभूतिः॥23॥
पापजनक कर्मों के दु:ख से दूर रखे वह भिक्षा श्रेष्ठ ।
पात्र दान बिन विविध दु:खद दुर्गतिदायक वैभव नहीं श्रेष्ठ॥

अन्वयार्थ : जिस भिक्षा के होने पर चित्त की वृत्ति, समस्त प्रकार के पाप को पैदा करने वाले कार्यों के सम्बन्ध से दुःखित नहीं होती (अर्थात् पाप के करने वाले कार्यों की ओर झाँकती भी नहीं) - ऐसी भिक्षा तो उत्तम है, किन्तु विस्तीर्ण नाना प्रकार के दुःखों से पार करने में असमर्थ, दुर्गति को देने वाली तथा उत्तम आदि पात्रों के दान के उपयोग से रहित विभूति की कोई आवश्यकता नहीं है ।

दान के बिना गृहस्थाश्रम जलांजली देने योग्य

पूजा न चेज्जिनपतेः पद-पंकजेषु,
दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्व् ।
नो दीयते किमु ततः सदनस्थितायाः,
शीघ्रं जलांजलिरगाधजले प्रविश्य॥24॥

जहाँ नहीं जिनपूजा होती, भक्तिभाव से दान नहीं ।
तो गहरे जल में प्रवेश कर, उस घर को क्यों तजें नहीं?॥

अन्वयार्थ : जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र भगवान के चरण-कमलों की पूजा नहीं होती तथा भक्तिभाव से संयमीजनों के लिए दान भी नहीं दिया जाता; उस गृहस्थाश्रम को अत्यन्त गहरे जल में प्रवेश कराके जल की अंजलि देना चाहिए ।

तप के अभाव में दान की सार्थकता

कार्यं तपः परमिह भ्रमता भवाब्धौ,
मानुष्यजन्मनि चिरादतिदुःखलब्धे ।
सम्पद्यते न तदणुव्रतिनाऽपि भाव्यं,
जायेत चेदहरहः किल पात्रदानम्॥25॥
भव में भ्रमते प्राणी दुर्लभ, नरगति पाकर तप धारें ।
कर न सकें तप तो अणुव्रत ले, श्रेष्ठ पात्र को दान करें॥

अन्वयार्थ : चिरकाल से इस संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करते हुए प्राणियों को कष्ट से इस मनुष्य भव की प्राप्ति हुई है । इसलिए इस मनुष्य जन्म में अवश्य तप करना चाहिए । यदि तप न हो सके तो अणुव्रत ही धारण करना चाहिए, जिससे प्रतिदिन निश्चय से उत्तम आदि पात्रों को दान दिया जाए ।

दानोपदेश में पथिक के पाथेय (नाश्ते) का उदाहरण

ग्रामान्तरं व्रजति यः स्वगृहाद् गृहीत्वा,
पाथेयमुन्नततरं स सुखी मनुष्यः ।
जन्मान्तरं प्रविशतोऽस्य तथा व्रतेन,
दानेन चाऽर्जितशुभं सुखहेतुरेकम्॥26॥
घर से पाथेय मनुज ले, तो ग्रामान्तर सुख से जाये ।
दान-व्रतों से हुआ पुण्य जो, जन्मान्तर में सुख देवे॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार जो मनुष्य, अपने घर से अच्छी तरह पाथेय (नाश्ता आदि) लेकर दूसरे गाँव को जाता है तो वह सुखी रहता है; उसी प्रकार जो मनुष्य, परलोक को गमन करता है तो उसे व्रत तथा दान से पैदा किया हुआ, एक पुण्य ही सुख का कारण होता है । इसलिए जो मनुष्य, परलोक में सुख के अभिलाषी हैं, उनको व्रतों को धारण कर, और दान देकर, खूब पुण्य का संचय करना चाहिए ।

दान का संकल्प भी पुण्य का उत्पादक

यत्नः कृतोऽपि मदनार्थयशोनिमित्तं,
दैवादिह व्रजति निष्फलतां कदाचित् ।
संकल्पमात्रमपि दानविधौ तु पुण्यं,
कुर्यादसत्यपि हि पात्रजने प्रमोदात्॥27॥
काम-भोग-धन-यश के उद्यम, निष्फल हों पापोदय से ।
उत्तम पात्र न होवे फिर भी, दान भाव से पुण्य बँधे॥

अन्वयार्थ : यद्यपि संसार में काम-भोग के लिए, धन के लिए अथवा यश के लिए किया हुआ प्रयत्न भी दैवयोग से किसी समय निष्फल हो जाता है, परन्तु उत्तम आदि पात्रों के नही होने पर भी 'हर्षपूर्वक दान देंगे' - ऐसा दान का संकल्प भी पुण्य का करने वाला होता है । इसलिए ऐसे उत्तम दान का मनुष्यों को अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।

नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान का कारण

सद्मागते किल विपक्षजनेऽपि सन्त:,

कुर्वन्ति मानमतुलं वचनाशनाद्यै: ।

यत्तत्र चारु-गुण-रत्न-निधान-भूते,

पात्रे मुदा महति किं क्रियते न शिष्टैः॥28॥

मधुर वचन-भोजन से सज्जन, करते आगत अरि का मान ।

क्यों न करें उत्तम गुणधारी, का हर्षित होकर बहुमान॥

अन्वयार्थ : वैरी भी यदि अपने घर आए तो सज्जन मनुष्य, मधुर-मधुर वचनों तथा भोजन आदि से उसका बड़ा भारी सन्मान करते हैं । फिर जो उत्तम सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के धारी हैं तथा पूज्य हैं - ऐसे पात्रों में सज्जन हर्षपूर्वक क्या नहीं करेंगे?

दान के बिना समस्त विभूति कर्मबन्ध का कारण

सूर्नोृतेरपि दिनं न सतस्तथा स्याद्,

बाधाकरं बत यथा मुनिदानशून्यम् ।

दुर्वारदुष्टविधिना न कृते ह्यकार्ये,

पुंसा कृते तु मनुते मतिमाननिष्टम्॥29॥

पुत्र-मरण से भी दु:ख ज्यादा, दु:ख होता मुनिदान बिना ।

पापोदय का कार्य अनिष्ट न, है अनिष्ट निजकृत दुष्कार्य॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि सज्जन पुरुष को पुत्र के मरने का दिन भी उतना दुःख देने वाला नहीं होता, जितना कि मुनियों को दानरहित दिन, दुःख देने वाला होता है क्योंकि विद्वान् पुरुष, दुर्दैव से किए हुए बुरे कार्य को उतना अनिष्ट नहीं मानते, जितना अपने द्वारा किए हुए बुरे कार्यों को अनिष्ट मानते हैं । इसलिए विद्वानों को अपने द्वारा करने योग्य दानरूपी कार्य अवश्य करना चाहिए ।

पात्रदान के प्रभाव से ही धर्मकार्यों की सार्थकता

ये धर्मकारणसमुल्लसिता विकल्पा:,

त्यागेन ते धनयुतस्य भवन्ति सत्याः ।

स्पृष्टाः शशांककिरणैरमृतं क्षरन्त:,

चन्द्रोपलाः किल लभन्त इह प्रतिष्ठाम्॥30॥

चन्द्र-किरण-स्पर्श बिना नहिं, चन्द्रकान्त से नीर झरे ।

धर्म कार्य के कोई उद्यम, दान बिना नहिं फल देते॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार किसी मकान में चन्द्रकान्त मणि लगी हुई है, लेकिन जब तक उसके साथ चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श नहीं होता, तब तक उनसे पानी नहीं झर सकता; इसलिए उस समय उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं करता, किन्तु जिस समय चन्द्रमा के स्पर्शित होने से उनसे पानी निकलता है, उस समय उनकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है । उसी प्रकार धनी पुरुष के चित्त में जो जिन-मन्दिर बनवाना, तीर्थ-यात्रा करना आदि धर्म के कारण उत्पन्न होते हैं, वे बिना पात्र-दान के सत्यभूत नहीं समझे जाते, किन्तु पात्र-दान से ही वे सत्य समझे जाते हैं । इसलिए गृहस्थियों को पात्रदान अवश्य करना चाहिए क्योंकि यह सब में मुख्य है ।

धन होते हुए भी दान देने में आलस्य करने वाला मायाचारी

मन्दायते य इह दानविधौ धनेऽपि,

सत्यात्मनो वदति धार्मिकताञ्च यत्तत् ।

माया हृदि स्फुरति सा मनुजस्य तस्य,

या जायते तडिदमुत्र सुखाचलेषु॥31॥
धन है पर जो दान न देता, अपने को धर्मी माने ।
उसके उर में माया उछले, सर्व सुखों का नाश करे॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, धन के होते हुए भी दान देने में आलस्य करता है तथा अपने को धर्मात्मा कहता है, वह मनुष्य मायाचारी है अर्थात् उस मनुष्य के हृदय में कपट भरा हुआ है । उसका वह कपट, दूसरे भव में उसके समस्त सुखों का नाश करने वाला है, परलोक में उसके सुखरूपी पर्वतों के विनाश के लिए बिजली का काम करता है ।

अपने धन के अनुसार दान देने का उपदेश
ग्रासस्तदर्ध पि देयमथाऽर्धमेव,
तस्यापि सन्ततमणुव्रतिना यथर्द्धि ।
इच्छानुरूपमिह कस्य कदात्र लोके,
द्रव्यं भविष्यति सदुत्तमदानहेतुः॥32॥
एक ग्रास या आधा या, चौथाई देवें अणुव्रती ।
उत्तम दान हेतु इच्छा-अनुसार मिला धन किसे कभी?॥
अन्वयार्थ : श्रावक को अपने धन के अनुसार एक ग्रास अथवा आधा ग्रास अथवा चौथाई ग्रास अवश्य ही दान देना चाहिए क्योंकि इस संसार में उत्तम पात्रदान का कारण इच्छानुसार द्रव्य कब और किसके होगा?

उत्तम पात्रदान के प्रति मिथ्यादृष्टि पशुओं की प्रीति भी फलदायी
मिथ्यादृशोऽपि रुचिरेव मुनीन्द्रदाने,
दद्यात् पशोरपि हि जन्म सुभोगभूौ ।
कल्पाङ्घिपा ददति यत्र सदेप्सितानि,
सर्वाणि तत्र विदधाति न किं सुदृष्टेः॥33॥
पात्रदान-रुचि से अज्ञानी, पशु भी भोगभूमि जाए ।
तो साक्षात् दान दे ज्ञानी, कहो कौन सुख नहिं पाए?॥
अन्वयार्थ : मुनि आदि उत्तम पात्रदान में मिथ्यादृष्टि पशु के द्वारा की हुई केवल रुचि (प्रीति/अनुोदना) ही जब उनको उत्तम भोगभूमि आदि के सुखों को देने वाली होती है, तब साक्षात् दान को देने वाले सम्यग्दृष्टि को तो वह दान क्या-क्या इष्ट तथा उत्तम चीजों को नहीं देगा?

द्रव्यानुसार दान नहीं देने में मूर्ख पुरुष का उदाहरण
दानाय यस्य न समुत्सहते मनीषा,
तद्योग्यसम्पदि गृहाभिमुखे च पात्रे ।
प्राप्तं खनावपि महार्घ्यतरं विहाय,
रत्नं करोति विमतिस्तलभूमिभेदम्॥34॥
मुनि आवें घर तो भी जिसको, दान हेतु उत्साह नहीं ।
महारतन को छोड़ व्यर्थ, वह खोद रहा पाताल मही॥
अन्वयार्थ : योग्य सम्पदा के होने पर भी तथा मुनि के घर आने पर भी, जिस मनुष्य की बुद्धि, दान देने में उत्साहित नहीं होती अर्थात् जो दान देना नहीं चाहता; वह मूर्ख पुरुष, खानि में मिले हुए अमूल्य रत्न को छोड़ कर, व्यर्थ पाताल की भूमि को खोदता है ।

दानरहित मनुष्यत्व, टूटी-फूटी नाव के समान

नष्टा मणीरिव चिराज्जलधौ भवेऽस्मिन्,

आसाद्य चारुनरतार्थजिनेश्वराज्ञाः ।

दानं न यस्य स जडः प्रविशेत् समुद्रं,

सच्छिद्रनावमधिरुह्य गृहीतरत्नः॥35॥

उत्तम नरभव धन जिन-आज्ञा, मिली उदधि में मणी समान ।

दान न दे, वह तरे कैसे, चढ़ सछिद्र नौका-सम जान॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, चिरकाल से समुद्र में पड़ी हुई मणि के समान इस संसार में उत्तम मनुष्यत्व, धन और जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को प्राप्त कर भी, उत्तम आदि पात्रों को दान नहीं देता; वह मूर्ख मनुष्य, टूटी-फूटी नाव पर चढ़ कर, बहुत-से रत्नों को साथ में लेकर, दूसरे द्वीप में जाने के लिए समुद्र में प्रवेश करता है - ऐसा समझना चाहिए ।

धनी होकर भी दान नहीं देनेवाला दास है, मालिक नहीं

यस्यास्ति नो धनवतः किल पात्रदानं-

अस्मिन्परत्र च भवे यशसे सुखाय ।

अन्येन केनचिदनून-सुपुण्य-भाजा,

क्षिप्तः स सेवकनरो धनरक्षणाय॥36॥

कीर्ति और परभव-सुखदायक,धनी! यदि नहीं देवे दान ।

वह मालिक नहिं उसे किसी ने, रक्षा हेतु रखा है दास॥

अन्वयार्थ : जो धनी मनुष्य, इस भव में कीर्ति के लिए तथा परभव में सुख के लिए उत्तमादि पात्रों में दान नहीं देता तो समझना चाहिए कि वह उस धन का मालिक नहीं है, बल्कि किसी अन्य अति पुण्यवान् पुरुष ने उस मनुष्य को उस धन की रक्षा के लिए नियुक्त किया है ।

सत्कार्यों में लगाया धन ही अपना

चैत्यालये च जिनसूरिबुधार्चने च,

दाने च संयतजनस्य सुदुःखिते च ।

यच्चात्मनि स्वमुपयोगि तदेव नूनं,

आत्मीयमन्यदिह कस्यचिदन्यपुंसः॥37॥

चैत्यालय-बुध-सूरि-अर्चना, अरु संयत-दुखियों को दान ।

दिया वही धन अपना है, अन्यथा उसे पर का ही मान॥

अन्वयार्थ : जो धन, जिन-मन्दिर के काम में लगाया जाता है; जिसका उपयोग, जिनेन्द्र भगवान की पूजा में, आचार्यों की पूजा में, अन्य विद्वानों की पूजा में होता है; जो संयमीजनों के दान में खर्च किया जाता है; जो धन, दुःखितों को दिया जाता है और जो धन, अपने उपयोग में आता है; उस धन को तो अपना समझना चाहिए, किन्तु जिस धन का उक्त कामों में उपयोग न होवे तो उस धन को किसी और मनुष्य का धन समझना चाहिए ।

संयमी पात्रों के दान से लक्ष्मी बढ़ती है, घटती नहीं

पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना,

लक्ष्मीरतः कुरुत सन्ततपात्रदानम् ।

कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्तात्-

आकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम्॥38॥

यथा कूप से जल निकले, पर वह तो बढ़ता जाता है ।
पुण्य-क्षीण हो तो धन घटता, देने से नहिं घटता है॥
अन्वयार्थ : हे गृहस्थों! कुएँ में सदा चारों तरफ से जल निकलता रहता है, फिर भी वह निरन्तर बढता ही रहता है, घटता नहीं है; उसी प्रकार संयमी पात्रों के दान में व्यय की हुई लक्ष्मी, सदा बढ़ती ही जाती है, घटती नहीं, अपितु पुण्य के क्षय होने पर ही घटती है । इसलिए मनुष्य को सदा संयमी पात्रों को दान अवश्य देना चाहिए ।

दान-पूजन आदि कार्यों में लोभ करना उचित नहीं

सर्वान् गुणानिह परत्र च हन्ति लोभः,
सर्वस्य पूज्यजन-पूजन-हानिहेतुः ।
अन्यत्र तत्र विहितेऽपि हि दोषमात्र-
मेकत्र जन्मनि परं प्रथयन्ति लोकाः॥39॥
पूज्यजनों की पूजा में, यह लोभ सर्व गुण घात करे ।
लौकिक कार्यों में लालच तो, इसी जन्म का दोष कहें॥
अन्वयार्थ : जो लोभ, अर्हन्त आदि पूज्यजनों की पूजा में हानि पहुँचाने वाला है; वह लोभ, इस भव तथा परभव में समस्त मनुष्यों के सम्यग्दर्शनादि गुणों को घातता है । लेकिन जो लोभ, लौकिक विवाह आदि कार्यों में किया जाता है, उस लोभ को तो इस जन्म में मनुष्य केवल दोष ही कहते हैं । अत: मनुष्य को दान-पूजनादि कार्यों में लोभ नहीं करना चाहिए ।

पात्रदान से उत्पन्न यश के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति

जातोऽप्यजात इव स श्रियमाश्रितोऽपि,
रंक: कलंकरहितोऽप्यगृहीतनामा ।
कम्बोरिवाऽऽश्रित-मृतेरपि यस्य पुंसः,
शब्दः समुच्चलति नो जगति प्रकामम्॥40॥
मृत्यु बाद यदि दानजन्य यश, शंखनाद बन नहिं फैले ।
व्यर्थ जन्म वह धनी रंक है, निष्कलंक पर नाम न हो॥
अन्वयार्थ : जिस मनुष्य का दान से उत्पन्न हुए यश का शब्द, शंख की तरह मृत्यु के बाद भलीभाँति संसार में नहीं फैलता; वह मनुष्य, पैदा हुआ भी नहीं पैदा हुआ-सा है, लक्ष्मीवान् होकर भी दरिद्री ही है तथा कलंकरहित है तो भी कोई उसका नाम नहीं लेता । इसलिए मनुष्य को अवश्य दान देना चाहिए ।

पात्रदान के द्वारा ही मनुष्य-तिर्यंच का भेद सम्भव

श्वापि क्षितेरपि विभुर्जठरं स्वकीयं,
कर्मोपनीतविधिना विदधाति पूर्ण् ।
किन्तु प्रशस्य-नृ-भवार्थ-विवेकितानां,
एतत्फलं यदिह सन्ततपात्रदानम्॥41॥
कर्मोदय अनुसार श्वान अरु, भूप स्वयं का पेट भरें ।
पात्रदान ही नरभव लक्ष्मी, ज्ञानी होने का फल है॥
अन्वयार्थ : संसार में कर्मानुसार कुत्ता भी अपने पेट को भरता है तथा अपने कर्मानुकूल राजा भी अपने पेट को भरते हैं, इसलिए पेट भरने में तो कुत्ता तथा राजा समान ही हैं, परन्तु उत्तम नरभव पाने का, श्रीमान् होने का तथा उत्तम विवेकी होने का केवल एक ही फल है कि निरन्तर उत्तमादि पात्रों को दान देना; इसलिए जो मनुष्य, उत्तम मनुष्यपने का, श्रीमान् होने का और विवेकी होने का अभिमान रखता

है, उसको पात्रदान अवश्य देना चाहिए ।

दान ही धन की सफलता की एकमात्र गति

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो,

यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।

वित्तस्य तस्य नियतं प्रविहाय दानं,

अन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्त:॥42॥

किया उपार्जित विविध दु:खों से, अधिक इष्ट सुत प्राणों से ।

दान मात्र से सफल कहें धन, अन्य विपत्ति सन्त कहें॥

अन्वयार्थ : जो धन, परदेश जाकर, सेवा करके इत्यादि नाना प्रकार से पैदा किया गया है, जो मनुष्यों को अपने पुत्रों तथा जीवन से भी अधिक प्यारा है; उस धन की सफलता की एकमात्र गति दान ही है, उसकी दान को छोड़ कर और दूसरी कोई गति नहीं है, अन्य तो सब विपत्ति ही विपत्ति है - ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं; इसलिए समस्त प्रकार के सुख को देने वाला दान, मनुष्य को अवश्य करना चाहिए ।

धनोपार्जन की अपेक्षा पुण्योपार्जन की श्रेष्ठता

नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो,

व्यावर्तते पितृवनान्ननु बन्धुवर्गः ।

दीर्घे पथि प्रवसतो भवतः सखैकं,

पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव॥43॥

एक कदम भी साथ न दे धन, बन्धु मात्र जाते श्मशान ।

भव-वन में है मित्र पुण्य ही, अत: कमाओ करके दान॥

अन्वयार्थ : मरते समय यह तेरा धन, एक कदम से दूसरे कदम तक भी नहीं जाता है तथा बन्धुओं का समूह, श्मशान भूमि से ही लौट आता है; परन्तु इस दीर्घ संसार में भ्रमण करते हुए तुझको तेरा पुण्य ही एकमात्र मित्र होगा अर्थात् वही तेरे साथ जाएगा । इसलिए तुझे पुण्य का ही उपार्जन करना चाहिए ।

पात्रदान के प्रभाव से सर्व अनुकूलताओं की प्राप्ति

सौभाग्यशौर्यसुखरूप-विवेकिताद्या,

विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म ।

सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्;

तस्मात्किमत्रसततंक्रियतेनयत्नः॥44॥

भाग्य-शौर्य सुख-रूप-ज्ञान-तन-विद्या-धन-कुल हो उत्तम ।

पात्र-दान से ही मिलते हैं, अत: दान का करो प्रयत्न॥

अन्वयार्थ : सौभाग्य, शूरता, सुख, विवेक आदि तथा विद्या, शरीर, धन, घर और उत्तम कुल में जन्म - ये सब बातें उत्तमादि पात्रदान से ही होती हैं; इसलिए भव्य जीवों को सदा पात्रदान में ही प्रयत्न करना चाहिए ।

बाद में दान करूँगा - ऐसे विचार वालों की मूर्खता

न्यासश्च सद्म च करग्रहणञ्च सूनोः, **अर्थे**न तावदिह कारयितव्यमास्ते ।

धर्माय दानमधिकाग्रतया करिष्ये,

सञ्चिन्तयन्नपि गृही मृतिमेति मूढः॥45॥

भवन बनाना, सुत-विवाह अरु, कुछ धन करना है विनियोग ।

फिर मैं दान करूँगा - ऐसा, सोच अचानक मृत्यु हो॥

अन्वयार्थ : मुझे जमीन में धन गाड़ना है, धन से मुझे मकान बनवाना है और पुत्र का विवाह करना है, इतने काम करने पर यदि अधिक धन होगा तो धर्म के लिए दान करूँगा - ऐसे विचार करते-करते मूर्ख प्राणी, अचानक मर जाता है और वह कुछ भी नहीं कर पाता; इसलिए मनुष्य को धन मिलने पर सबसे पहले दान करना चाहिए, दान के अतिरिक्त विचार कदापि नहीं करना चाहिए ।

दान रहित मनुष्य से श्रेष्ठ कौआ

किं जीवितेनं कृपणस्य नरस्य लोके,
निर्भोग-दान-धन-बन्धन-बद्ध-मूर्तेः ।
तस्माद्वरं बलिभुगुन्नतभूरिवाग्भि:,
व्याहूतकाककुल एव बलिं स भुंक्ते॥46॥
दान-भोग बिन धन से बँधे, कृपण के जीने से क्या लाभ? ।
ऊँचे स्वर में बुला अन्य को, फिर खाये वह काग भला॥

अन्वयार्थ : जिस लोभी पुरुष का शरीर, भोग तथा दान रहित धनरूपी बन्धन से बँधा हुआ है, उस कृपण पुरुष का इस लोक में जीना सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि उस पुरुष की अपेक्षा वह काक ही अच्छा है, जो कि ऊँचे शब्द बोल कर और बहुत-से काकों को बुला कर, उनके साथ मिल कर भोजन करता है ।

उदार मनुष्य की निन्दा के बहाने प्रशंसा

औदार्ययुक्त-जन-हस्त-परम्पराप्त-,
व्यावर्तनप्रसृतखेदभरातिखिन्नाः । **अर्थ**ा गताः कृपणगेहमनन्तसौख्य-,
पूर्णा इवानिशमबाधमतिस्वपन्ति॥47॥
दानी के घर रहने वाला; वित्त, दान से दु:खी हुआ ।
अत: कृपण के घर जाकर वह, निर्बाधित सुख से सोता॥

अन्वयार्थ : आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि उदारता सहित मनुष्य के हाथों से पैदा हुए श्रम से अत्यन्त खेद उत्पन्न होता है; उससे खिन्न होकर, समस्त धन, कृपण के घर चला गया है तथा वहीं पर वह बाधा रहित आनन्द के साथ सोता है - ऐसा मालूम होता है ।

उत्तम-मध्यम-जघन्य आदि पात्र-कुपात्र-अपात्र के भेद

उत्कृष्ट-पात्रमनगारमणुव्रताऽढ्यं,
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शनं व्रत-निकाय-युतं कुपात्रं,
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदञ्च विद्धि॥48॥
उत्तम पात्र महामुनि, मध्यम अणुव्रती, अव्रती जघन ।
व्रती कुदृष्टि है कुपात्र, अव्रती मूढ़जन पात्र नहीं ॥

अन्वयार्थ : उत्तम पात्र तो महाव्रती (मुनि) हैं, अणुव्रती (श्रावक) मध्यम पात्र हैं, व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं, व्रतसहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र हैं तथा अव्रती मिथ्यादृष्टि अपात्र है - ऐसा जानना चाहिए ।

सभी प्रकार के दान फलदायी, परन्तु पात्रदान ही सर्वश्रेष्ठ

तेभ्यः प्रदत्तमिह दानफलं जनानां,
एतद्विशेषणविशिष्टमदुष्टभावात् ।
अन्यादृशेऽथ हृदये तदपि स्वभावात्,

उच्चावचं भवति किं बहुभिर्वचोभिः ॥49॥
निर्मल भावों से पात्रों को, दिया दान फल देता है ।
माया से दे तो भी जैसे, भाव करे फल वैसा है॥
अन्वयार्थ : अत्यन्त निर्मल भाव से उत्तम आदि पात्रों के लिए दिया हुआ दान, मनुष्यों को उत्तम आदि फल का देने वाला होता है; लेकिन जो दान, मायाचार अथवा दुष्ट परिणामों से दिया जाता है, वह भी स्वभाव से नीचे-ऊँचे फल को देने वाला होता है । इसलिए इस विषय में हम विशेष क्या कहें? - दान, अवश्य फल देने वाला होता है ।

चार प्रकार के दान की महिमा

चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्र-,
दानानि तानि कथितानि महाफलानि ।
नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादि-,
दानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥50॥
औषधि-शास्त्र-अभय-आहार, चतुर्विध दान महाफल दें ।
गौ-सुवर्ण-रथ आदि दान तो, पापोत्पादक निन्द्य कहें ॥
अन्वयार्थ : आहार, औषध, अभय और शास्त्र - ऐसे दान चार प्रकार का है । वह चार प्रकार का दान तो महा फल को देने वाला कहा है, परन्तु इससे भिन्न गौ, सुवर्ण, जमीन, रथ, स्त्री आदि का दान, महा-फल को देने वाला नहीं है, वह तो निन्दा का कराने वाला ही है । इसलिए महा फल के अभिलाषियों को उक्त चार प्रकार का ही दान देना चाहिए ।

जिन-मन्दिर अथवा जीर्णोद्धार हेतु दान का महत्त्व

यद्दीयते जिनगृहाय धरादि किंचित्,
तत्तत्र संस्कृतिनिमित्तमिह प्ररूढम् ।
आस्ते ततस्तदतिदीर्घतरं हि कालं,
जैनञ्च शासनमत: कृतमस्ति दातु: ॥51॥
जिन-मन्दिर के लिए भूमि का दान करे संस्कृति रक्षा ।
जिन-शासन चिरजीवी दाता ने जिनमत उद्धार किया ॥
अन्वयार्थ : जो जिन-मन्दिर बनाने के लिए अथवा सुधारने के लिए जमीन, धन आदि दिए जाते हैं, उनसे जिन-मन्दिर अच्छा बनता है, उस जिन-मन्दिर के प्रभाव से बहुत काल तक जिनेन्द्र का मत, इस पृथ्वी-मण्डल पर विराजमान रहता है । इसलिए दाता ने जिन-मन्दिर के लिए जमीन, धन आदि देकर जैनमत का उद्धार किया - ऐसा समझना चाहिए ।

मिथ्यात्व का फल कृपणता

दान-प्रकाशनमशोभन-कर्म-कार्य-
कार्पण्य-पूर्ण-हृदयाय न रोचतेऽदः ।
दोषोज्झितं सकललोकसुखप्रदायि-
तेजो रवेरिव सदा हतकौशिकाय॥52॥
मोह-तिमिर से कृपण अन्ध को, दान-प्रकाश न रुचता है ।
उल्लू को ज्यों रात्रि-विहीन, सुखद रवि-तेज न रुचता है॥
अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि खोटे मिथ्यात्वरूपी कर्म का कार्य कृपणता है, उससे जिसका हदय भरा हुआ है - ऐसे कृपण पुरुष को, समस्त दोष से रहित तथा सर्व लोक को सुख देने वाला दान का प्रकाशरूप कार्य उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता, जिस प्रकार सूर्य का

प्रकाश उल्लू को अच्छा नहीं लगता है ।

भव्यों को ही दानोपदेश हर्ष का कारण

दानोपदेशनमिदं कुरुते प्रमोदं,
आसन्नभव्यपुरुषस्य न चेतरस्य ।
जातिः समुल्लसति दारु न भृङ्गसंगात्,
इन्दीवरं हसति चन्द्रकरैर्न चाश्मा॥53॥
अहो! दान-उपदेश निकट, भव्यों को ही आनन्द करे ।
सुमन भ्रमर से, कुमुदचन्द्र से, खिले, न काष्ठ-पाषाण खिले॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार भ्ररों के संग से चमेली ही विकसित होती है, लकड़ी विकसित नहीं होती । चन्द्रमा की किरणों से कमल ही प्रफुल्लित होता है, पाषाण नहीं । उसी प्रकार जिसको थोड़े ही काल में मोक्ष होने वाला है - ऐसे भव्य मनुष्य को ही यह दान का उपदेश, हर्ष उत्पन्न करने वाला होता है, अभव्य को यह दान का उपदेश, कुछ भी हर्ष का करने वाला नहीं है ।

'दानोपदेश' अधिकार का उपसंहार

रत्नत्रयाऽभरण-वीर-मुनीन्द्र-पाद-,
पद्म-द्वय-स्मरण-संजनित-प्रभावः ।
श्रीपद्मनन्दि-मुनिराश्रित-युग्म-दान-,
पञ्चाशतं ललितवर्णचयं चकार॥54॥
रत्नत्रय-भूषित श्री वीरनन्दि के चरण-युगल का तेज ।
रचा दान-पञ्चाशत ललित पदों से पद्मनन्दि मुनि ने॥

अन्वयार्थ : आचार्यवर दानोपदेशरूप प्रकरण को पूर्ण करते हुए कहते हैं कि रत्नत्रयरूपी भूषण से भूषित ऐसे श्री वीरनन्दि नामक मुनीन्द्र के दोनों चरण-कमलों के स्मरण से जिसको उत्तम प्रभाव उत्पन्न हुआ है - ऐसे श्री पद्मनन्दि नामक मुनि द्वारा उत्तमोत्तम वर्णों की रचना से 54 श्लोकों में दान का प्रकरण पूर्ण हुआ ।

मङ्गलाचरण में जिनवाणी का गुणानुवाद

(आर्या)
जयति जिनो धृतिधनुषा,-मिषुाला भवति योगियोधानाम् ।
यद्वाक्करुणामय्यपि, मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा॥1॥
जिससे धैर्य-धनुषधारी योगी-भट करें मोह का नाश ।
जयवन्तो जिन, जिनकी वाणी, तीक्ष्ण बाण की पंक्ति समान॥
जिस जिनेन्द्र की दयामयी वाणी, धैर्यरूपी धनुष को धारण करने वाले

अन्वयार्थ : योगीरूपी योद्धाओं के मोहरूपी बैरी का नाश करने के लिए पैनी बाणों की पंक्ति के समान है - ऐसे वे जिनेन्द्र! इस संसार में सदा जयवन्त हैं ।

मनुष्य शरीर की अनित्यता

(शार्दूलविक्रीडित)
यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा, निद्रा न रात्रौ भवेत्;
विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोऽभ्यासस्थिताद्यद् धुरवम् ।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपि सहसा, यच्च क्षयं गच्छति;

भ्रात: कात्र शरीरके स्थितिमति:, नाशेऽस्य को विस्मय:॥2॥
भोजन नहीं एक दिन हो, या निद्रा नहीं रात्रि में हो॥
तो यह तन मुरझा जाता है, अग्नि संग ज्यों कमल अहो!
अस्त्र व्याधि जल अग्नि आदि से, पल भर में जो होता नष्ट ।
हे भाई! क्यों स्थिर मानो, क्या विस्मय जो होय विनष्ट?

अन्वयार्थ : यदि एक दिन खाया न जाए अथवा रात्रि में सोया न जाए तो यह शरीर, उसी प्रकार मुरझा जाता है, जिस प्रकार पास में जलने वाली अग्नि से कमल का पत्र मुरझा जाता है । इसी प्रकार यह शरीर, हथियार-रोग-जल-अग्नि आदि से भी पल भर में नष्ट हो जाता है । इसलिए 'हे भाई! ऐसा शरीर कब तक रहेगा? - ऐसा कुछ निश्चित नहीं है । अथवा यह जल्दी नष्ट होगा तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं ।' अतः इस शरीर में किसी प्रकार की ममता न रख कर, अपना आत्मकल्याण करो ।

शरीररूपी झोपड़े की अपवित्रता एवं विनाशीकता

दुर्गन्धाऽशुचिधातुभित्तिकलितं, संछादितं चर्मणा;
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्, दुःखाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि, प्राप्तं जरावह्निना;
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं, मूढो जनो मन्यते॥3॥
दुर्गन्धित अपवित्र धातुमय ढकी चर्म से है दीवार ।
क्षुधा-तृषा-दु:ख चूहों के बिल, मल-मूत्रादिक की भरमार॥
स्वयं दु:खमय काय कुटी यह, जरा अग्नि से घिरी हुई ।
तो भी इसे पवित्र और थिर, मान रहे हैं मूढ़मति॥

अन्वयार्थ : जिस देहरूपी झोपड़े की दीवारें, दुर्गन्धित और अपवित्र - ऐसी मल-मूत्र आदि तथा वीर्य-मज्जा-चर्बी आदि धातुओं की बनी हुई हैं । जो ऊपर से चाम से ढका हुआ है, लेकिन अन्दर विष्टा-मूत्र आदि से भरा हुआ है । भूख-प्यास आदि दुःखरूपी चूहों ने जिसमें बिल बना रखे हैं अर्थात् जो दुःखों का भण्डार है । वृद्धावस्थारूपी अग्नि, जिसके चारों ओर मौजूद है । ऐसे शरीररूपी झोपड़े को भी मूढ़ प्राणी अविनाशी तथा पवित्र मानते हैं - यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

लक्ष्मी-स्त्री-पुत्रादि के उत्पत्ति-नाश में हर्ष-विषाद का निषेध

अम्भोबुद्बुदसन्निभा तनुरियं, श्रीरिन्द्रजालोपमा;
दुर्वाताहत-वारिवाह-सदृशाः, कान्तार्थपुत्रादयः ।
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं, मत्ताङ्गनाऽपाङ्गवत्;
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये, शोकेन किं किं मुदा॥4॥
यह तन जल के बुदबुद-सम है, इन्द्रजाल-सम लक्ष्मी जान ।
धन-सुत-मित्रादिक सब नश्वर, पवन-प्रताड़ित मेघ समान॥
विषयों का सुख भी चंचल है, नारी नेत्र-कटाक्ष समान ।
अत: प्राप्ति में हर्ष, बिछुड़ने पर क्यों शोक करें विद्वान्?॥

अन्वयार्थ : शरीर तो जल के बुलबुलों के समान है । लक्ष्मी इन्द्रजाल के समान है तथा स्त्री-धन-पुत्र-मित्र आदि, खोटे पवन से नष्ट हुए मेघों के समान पल भर में विनाशीक हैं । ये विषय सम्बन्धी सुख, युवती स्त्री के कटाक्ष के समान चंचल हैं । इसलिए आचार्य कहते हैं कि इनके नाश होने पर विद्वानों को न तो शोक करना चाहिए और न मिलने पर हर्ष मनाना चाहिए ।

शरीर के सम्बन्ध से दु:ख एवं आत्मस्वरूप के चिन्तवन से सुख

दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे, शोको न कार्यो बुधैः;
सम्बन्धो यदि विग्रहेण यदयं, सम्भूतिधात्र्येतयोः ।
तस्मात्तत्परिचिन्तनीयमनिशं, संसार-दुःख-प्रदो;
येनास्य प्रभवः पुरः पुनरपि, प्रायो न सम्भाव्यते॥5॥
देह-संग से दु:ख या मृत्यु, हो तो बुध नहिं शोक करें ।
क्योंकि देह तो दु:ख-शोक की, उत्पादक है भूमि अरे!॥
अत: सुधीजन वस्तु-स्वरूप-विचार निरन्तर किया करें ।
जिससे नाना दु:खदायक यह, देह पुन: फिर नहीं मिले॥

अन्वयार्थ : यद्यपि देह के सम्बन्ध से संसार में दुःख तथा शोक आकर उपस्थित होते हैं तो भी विद्वानों को किसी पदार्थ के लिए दुःख तथा शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि यह देह, दुःख तथा शोक को पैदा करने वाली भूमि है । इसलिए विद्वानों को निरन्तर उस आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए, जिससे नाना प्रकार के संसार-दुःखों को देने वाले इस शरीर की उत्पत्ति भविष्य में फिर से न हो ।

स्त्री आदि के वियोग में शोक करना, मूढ़ता का लक्षण

दुर्वाराऽर्जितकर्मकारणवशा,-दिष्टे प्रणष्टे नरे;
यत् शोकं कुरुते तदत्र नितरा,-मुन्मत्तलीलायितम् ।
यस्मात्तत्र कृते न सिध्यति किमप्येतत्परं जायते;
नश्यन्त्येव नरस्य मूढ़मनसो, धर्मार्थकामादयः॥6॥
दुर्वारार्जित कर्मोदय से, जब मनुष्य को इष्ट-वियोग ।
होवे तो उन्मत्त हुआ वह, करता बिना प्रयोजन शोक॥
अरे! मूढ़ को व्यर्थ शोक से, कुछ भी प्राप्त नहीं होता ।
किन्तु धर्म अरु **अर्थ**-काम का, वह प्रयत्न भी खो देता॥

अन्वयार्थ : जिसका निवारण नहीं हो सकता तथा पूर्वभव में संचित कर्मरूपी कारण के वश से जो मनुष्य, अपने प्रिय स्त्री-पुत्र-मित्र आदि के नष्ट होने पर उन्मादी मनुष्य की लीला के समान इस संसार में निष्प्रयोजन अत्यन्त शोक करता है, उस मूर्ख मनुष्य को उस प्रकार के व्यर्थ शोक करने से कुछ भी नहीं मिलता, उस मूढ़ मनुष्य के धर्म-अर्थ-काम आदि का नाश हो जाता है । इसलिए विद्वानों को इस प्रकार का शोक कदापि नहीं करना चाहिए ।

मृत्यु होने पर भी आत्मा का नाश असम्भव

(उपेन्द्रवज्रा)
उदेति पाताय रविर्यथा तथा,
शरीरमेतन्ननु सर्वदेहिनाम् ।
स्वकालमासाद्य निजेऽपि संस्थिते,
करोति कः शोकमतः प्रबुद्धधी:॥7॥
सूर्य उदित हो अस्त हेतु, यह देह बिछुड़ने हेतु मिले ।
अत: कालवश प्रिय-वियोग हो, तो प्रबुद्ध नहिं शोक करें॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सूर्य अस्त होने के लिए उदित होता है, उसी प्रकार यह शरीर भी निश्चय से नाश होने के लिए ही उत्पन्न होता है । इसलिए स्वकाल के अनुसार अपने प्रिय स्त्री, पुरुष आदि के मरने पर भी हिताहित के जानने वाले मनुष्य कदापि शोक नहीं करते ।

स्वकाल के अनुसार जीवन-मरण होने में वृक्ष का उदाहरण

भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं,
पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत् ।
कुलेषु तद्वत्पुरुषाः किमत्र,
हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम्॥8॥
वृक्षों पर ज्यों विविध पत्र-फल-पुष्प उपजते नशते हैं ।
त्यों प्रिय के आते-जाते, क्यों सुबुध हर्ष या शोक करें?॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार वृक्षों पर अपने-अपने काल के अनुसार नाना जाति के पत्ते, फूल, फल आदि उत्पन्न होते हैं तथा अपने-अपने काल के अनुसार ही वे नष्ट भी होते हैं; उसी प्रकार अपने-अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य, उच्च-नीच आदि कुलों में जन्म लेते हैं तथा नष्ट भी होते हैं । इसलिए ऐसा भलीभाँति समझ कर, बुद्धिमानों को उनकी उत्पत्ति में हर्ष तथा नाश में शोक कदापि नहीं करना चाहिए ।

'मृत्यु के पश्चात् शोक' - अन्धकार में नृत्य करने के समान

(शार्दूलविक्रीडित)
दुर्लङ्घयाद्भवितव्यताव्यतिकरात् नष्टे प्रिये मानुषे;
यच्छोक: क्रियते तदत्र तमसि, प्रारभ्यते नर्तनम् ।
सर्वं नेशरमेव वस्तु भुवने, मत्वा महत्या धिया;
निर्धूताऽखिलदु:खसन्ततिरहो, धर्म: सदा सेव्यताम्॥9॥
होनहार व्यापार प्रबल है, अत: इष्ट-जन होते नष्ट ।
जो नर शोक करे वह मानो, अन्धकार में करता नृत्य॥
जग में सभी वस्तुएँ नश्वर, प्रबल बुद्धि से करो विचार ।
दु:ख-सन्तति का नाश करे, जो धर्म उसी का लो आधार॥

अन्वयार्थ : जिसका कष्ट से भी उल्लंघन नहीं हो सकता - ऐसी भवितव्यता (दैव) के व्यापार से अपने प्रिय स्त्री-पुत्र आदि के नष्ट होने पर भी जो मनुष्य शोक करता है, वह अन्धकार में नृत्य को आरम्भ करता है - ऐसा जान पड़ता है । अर्थात् अन्धकार में किये हुए नृत्य को कोई देख नहीं सकता । इसलिए जिस प्रकार अन्धकार में नृत्य करना व्यर्थ होता है; उसी प्रकार स्त्री-पुत्र आदि के लिए मनुष्य का शोक करना भी व्यर्थ है । अत: हे भव्य जीवों! अपने ज्ञान से संसार में सब चीजों को विनाशीक समझ कर, समस्त दु:खों की सन्तान को जड़ से उड़ाने वाले धर्म का ही तुम सदा सेवन करो ।

'मृत्यु के पश्चात् शोक' सर्प के चले जाने पर उसकी रेखा पीटने के समान

पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं, यस्याऽवसानं यदा;
तज्जायेत तदैव तस्य भविनो, ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम् ।
शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं, धर्मं कुरुष्वादरात्;
सर्पे दूरमुपागते किमिति, भोस्तद्धृष्टिराहन्यते॥10॥
पूर्वोपार्जित कर्मों द्वारा, लिखा गया जब जिसका अन्त ।
तभी मरण होता है उसका, यह निश्चित मानो हे भव्य!॥
प्रिय-वियोग हो किन्तु शोक तज, सुखद धर्म को आराधो ।
साँप निकल जाने पर, रेखा पर प्रहार है व्यर्थ अहो!॥

अन्वयार्थ : पूर्वभव में संचित कर्म के द्वारा जिस प्राणी का अन्त, जिस काल में लिख दिया गया है; उस प्राणी का अन्त, उसी काल में होता है - ऐसा भलीभाँति निश्चय करके हे भव्य जीवों! तुम अपने प्रिय स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर भी शोक छोड़ दो तथा बड़े आदर से धर्म का आराधन करो क्योंकि सर्प के दूर चले जाने पर उसकी रेखा को पीटना व्यर्थ है ।

जगत् में मूर्ख कौन? और मूर्ख-शिरोमणि कौन?

ये मूर्खा भुवि तेऽपि दुःखहतये, व्यापारमातन्वते;
सा माभूदथवा स्वकर्मवशत:, तस्मान्न ते तादृशाः ।
मुर्खान्मूर्खशिरो णीन् ननु वयं, तानेव मन्यामहे;
ये कुर्वन्ति शुचं मृते सति निजे, पापाय दुःखाय च॥11॥
कर्मोदय वश हुए दु:खों से, बच सकते या नहीं बचें ।
किन्तु दु:खों से बचने हेतु, मूर्ख लोग ही यत्न करें॥
महामूर्ख हम उन्हें न मानें, मूर्ख-शिरोमणि तो वे हैं ।
प्रिय-वियोग में पाप और, दु:ख का कारण जो शोक करें॥

अन्वयार्थ : अपने कर्म के वश से चाहे दुःखों की निवृत्ति हो अथवा न हो तो भी दुःख की निवृत्ति के लिए जो व्यापार आदि करते हैं, वे भी संसार में मूर्ख हैं, लेकिन हम उनको अतिमूर्ख नहीं मानते; किन्तु जो अपने प्रिय स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर पाप के लिए अथवा दुःखों की उत्पत्ति के लिए शोक करते हैं, उन्हीं को निश्चय से हम मूर्ख-शिरोणि अर्थात् वज्र मूर्ख मानते हैं । इसलिए विद्वानों को स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर कदापि शोक नहीं करना चाहिए ।

जगत् की अनित्यता और उसकी नि:सारता में उदाहरण

किं जानासि न किं श्रृणोषि न न किं, प्रत्यक्षमेवेक्षसे;
निःशेषं जगदिन्द्रजालसदृशं, रम्भेव सारोज्झितम् ।
किं शोकं कुरुषेऽत्र मानुषपशो, लोकान्तरस्थे निजे;
तत्किञ्चित् कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पदं गच्छसि॥12॥
जग है इन्द्रजाल-सम नश्वर, केलि-स्तम्भ समान असार ।
तूने क्या प्रत्यक्ष न देखा, जाना अथवा नहीं सुना॥
अन्य लोक में बैठे प्रियजन, फिर क्यों उनका शोक करें?
कुछ ऐसा कर अरे! कि जिससे, शाश्वत परमानन्द मिले॥

अन्वयार्थ : हे मूढ़ मनुष्य! यह समस्त जगत् इन्द्रजाल के समान अनित्य है तथा केले के स्तम्भ के समान निस्सार है । इस बात को क्या तू नहीं जानता है? अथवा सुनता नहीं है? या प्रत्यक्ष देखता नहीं है? अत: स्त्री-पुत्र आदि के दूसरे लोक में रहने पर भी तू उनके लिए इस संसार में व्यर्थ शोक करता है । अरे! कोई ऐसा काम कर, जिससे तुझे अविनाशी तथा उत्तम सुख के देने वाले स्थान की प्राप्ति हो ।

जिसका जन्म, उसका मरण अवश्यम्भावी

(वसन्ततिलका)
जातो जनो म्रियत एव दिने च मृत्योः;
प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति ।
तद्यो मृते सति निजेऽपि शुचं करोति;
पूत्कृत्य रोदिति वने विजने स मूढ:॥13॥
जो जन्मे वह निश्चित मरता, कोई नहीं रक्षक जग में ।
स्वजन मृत्यु पर शोक करे जो, रोता वह निर्जन वन में॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य पैदा हुआ है, वह मृत्यु के दिन अवश्य ही मरता है । मरते समय तीनों लोक में उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है । इसलिए आचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य, अपने प्रिय स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर शोक करता है; वह मनुष्य, जहाँ पर कोई नहीं - ऐसे वन में जाकर फुक्का मारह्नमार कर रोता है - ऐसा जान पड़ता है ।

इष्ट-वियोग एवं अनिष्ट-संयोग के नाश का उपदेश

इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्टयोगः;
पापेन तद्भवति जीव पुराकृतेन ।
शोकं करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाशं;
पापस्य तौ न भवतः पुरतोऽपि येन॥14॥
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग हो, तुझे पूर्वकृत पापों से ।
शोक करे क्यों? पाप नाश कर, योग-वियोग न हो फिर से॥

अन्वयार्थ : हे जीव! यह जो तुझे इष्ट स्त्री-पुत्र आदि के नाश का तथा अनिष्ट सर्प आदि का सम्बन्ध होता है; वह तेरे पूर्वकाल में संचय किये हुए पाप के उदय से ही होता है । इसलिए तू शोक क्यों करता है? उस पाप का सर्वथा नाश कर, जिससे फिर तुझे भविष्य में इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग का उदय न होवे ।

हे जीव! शोकरूपी महाराक्षस के वश होना उचित नहीं

(शार्दूलविक्रीडित)
नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तदा, शोकः समारभ्यते;
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा, धर्मोऽथवा स्याद्यदि ।
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि, स्फारैः प्रयत्नैरपि;
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः, शोकोग्रराक्षसवशः॥15॥
इष्ट वस्तुओं के विनाश में, तभी उचित करना है शोक ।
वस्तु मिले या यश हो अथवा, धर्म और हो सुख का भोग॥
किन्तु एक भी नहिं हो इनमें, चाहे जितना करें प्रयत्न ।
तो फिर कौन सुधी हो सकता, व्यर्थ शोक-राक्षस के वश॥

अन्वयार्थ : प्रिय वस्तु के नाश होने पर भी शोक करना तब उचित है, जबकि उसकी प्राप्ति हो जाए अथवा शोक करने से कीर्ति फैले अथवा सुख या धर्म हो; किन्तु बड़े से बड़े अनेक प्रयत्नों के करने पर भी उपर्युक्त वस्तुओं में से किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं दिख पड़ती । इसीलिए विद्वान् पुरुष, इष्ट वस्तु के नाश होने पर भी प्रायः कुछ भी व्यर्थ शोक नहीं करते । (अर्थात् शोकरूपी महाराक्षस के वश नहीं होते ।)

संसार की स्थिति पक्षियों के रैन-बसेरा के समान

(वसन्ततिलका)
एकद्रुमेनिशि वसन्ति यथा शकुन्ताः;
प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु ।
स्थित्वा कुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा;
लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः॥16॥
एक वृक्ष पर पक्षी आते, प्रात: चहुँ दिशि गमन करें ।
त्यों कुटुम्ब के प्राणी परभव, जाते बुध नहिं शोक करें॥

अन्वयार्थ : रात्रि के समय जिस प्रकार एक ही वृक्ष पर नाना देशों से आकर पक्षी निवास करते हैं तथा सबेरा होने पर शीघ्र ही वे अलग-अलग दिशाओं में अलग-अलग उड़ जाते हैं; उसी प्रकार बहुत-से मनुष्य एक कुल में जन्म लेकर, पुनः अपने कर्म के अनुसार मर कर, नाना कुलों में जन्म लेते हैं - ऐसी संसार की स्थिति को जान कर, विद्वान् लोग कदापि शोक नहीं करते ।

गुरुओं के वचनरूपी दीपक से मोक्षपद की प्राप्ति

(शार्दूलविक्रीडित)

दुःखव्यालसमाकुलं भववनं, जाड्यान्धकाराश्रितं;
तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपातिकुपथैः, भ्राम्यन्ति सर्वेऽङ्गिनः ।
तन्मध्ये गुरुवाक्प्रदीपममलं, ज्ञानप्रभाभासुरं;
प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखपदं, याति प्रबुद्धो ध्रुवम्॥17॥

यह भव-वन है दु:ख सर्प, एवं अज्ञान-तिमिर से व्याप्त ।
भटक रहे हैं जीव जगत् के, दुर्गति भीलों के उन्मार्ग॥
निर्मल ज्ञान-प्रभा से जगमग, गुरु-वचनों के दीपक से ।
मार्ग देख कर कोई चतुर नर, शिवपद निश्चित प्राप्त करे॥

नाना प्रकार के दुःखरूपी सर्प और हस्तियों से व्याप्त तथा अज्ञानरूपी

अन्वयार्थ : अन्धकार से युक्त और नरकादि गतिरूपी भीलों के भयंकर मार्गों से सहित इस संसाररूपी भव-वन में समस्त प्राणी भटकते फिरते हैं, किन्तु उन प्राणियों में चतुर मनुष्य, निर्मल ज्ञानरूपी प्रभा से दैदीप्यमान - ऐसे गुरुओं के वचनरूपी दीपक को पाकर तथा उस वचनरूपी दीपक के द्वारा उत्तम मार्ग को देख कर, मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है ।

पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार मरण समय निश्चित

(वसन्ततिलका)

यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तु:;
तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात् ।
मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय;
शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति॥18॥

किया कर्म ने मरण सुनिश्चित, पहले-पीछे कभी न हो ।
किन्तु मूढ़-जन प्रिय-वियोग में, शोक करें अरु दु:ख भोगें॥

अन्वयार्थ : पूर्वोपार्जित अपने कर्मों के द्वारा जो मरण का समय निश्चित हो गया है, उसी के अनुसार प्राणी मरता है, आगे-पीछे नहीं मरता - ऐसा जान कर भी आत्मीय मनुष्य के मरने पर, अज्ञानीजन शोक करते हैं तथा नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं ।

एक गति से दूसरी गति में जाने के उदाहरण

(शार्दूलविक्रीडित)

वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा मधुलिहः, पुष्पाच्च पुष्पं यथा;
जीवा यान्ति भवाद्भवान्तरमिहा,ऽश्रान्तं तथा संसृतौ ।
तज्जातेऽथ मृतेऽथ वा न हि मुदं, शोकं न कस्मिन्नपि;
प्राय: प्रारभतेऽधिगम्य मतिमान्नस्थैर्यमित्यङ्गिनाम्॥19॥

वृक्ष-वृक्ष पर पक्षी उड़ते, पुष्प-पुष्प पर भ्रमर उड़ें ।
त्यों संसारी एक गति को, छोड़ भवान्तर में जायें॥
इस प्रकार जग के सब प्राणी, हैं अनियत जानें मतिमान् ।
जन्म-मरण में हर्ष-शोक, इसलिए करें न कभी विद्वान्॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार पक्षी, एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर तथा भौंरे, एक फूल से दूसरे फूल पर उड़ कर जाते हैं; उसी प्रकार इस संसार में अपने-अपने कर्म के वश से जीव, निरन्तर एक गति से दूसरी गति में जाते हैं । इस प्रकार प्राणियों की अनित्यता को समझ कर, विद्वान्

प्रायः प्राणियों की उत्पत्ति में न तो हर्ष ही मानता है और न उनके मरने पर शोक ही करता है ।

धर्म-प्राप्ति के अवसर मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ

भ्राम्यन् कालमनन्तमत्र जनने, प्राप्नोति जीवो न वा;
मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः, प्राप्तं पुनर्नश्यति ।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं, गर्भेऽपि जन्मन्यपि;
द्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति, प्राप्ते प्रयत्नो वरः॥20॥
काल अनन्त भ्रमे यह जीव, मनुज गति प्राप्त करे न करे ।
यदि खोटे कुल में जन्मे तो, जन्म गवाँये पापों में॥
उत्तम कुल यदि मिले, गर्भ या जन्म समय में मरण करे ।
अथवा बचपन में मृत्यु हो, दीर्घायु में धर्म करे॥
अन्वयार्थ : अनन्त कालपर्यन्त इस संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव को मनुष्यपने की प्राप्ति होवे ही होवे - ऐसा कोई निश्चय नहीं । (क्योंकि ऐसे भी अनन्त जीव हैं, जिन्होंने आज तक त्रस पर्याय ही प्राप्त नहीं की) दैवयोग से यदि मनुष्य हो भी जाए तो खोटे कुल में जन्म लेने पर वह पाया हुआ मनुष्यपना भी उस खोटे कुल में किये पापों से नष्ट हो जाता है । यदि श्रेष्ठ जाति में भी जन्म हो जाए तो प्रथम तो गर्भ में ही मर जाता है । यदि जैसे-तैसे गर्भ से बच जाए तो जन्मते ही मर जाता है । यदि जन्मते समय भी न मरे तो बाल्यावस्था में मर जाता है । धर्म के लिए ही प्रयत्न करना उत्तम है क्योंकि धर्म में ही यह शक्ति है कि वह प्राणियों को जन्म-जरा आदि से छुड़ाता है तथा जहाँ पर किसी प्रकार का दुःख नहीं - ऐसे मोक्षपद में ले जाकर जीवों को धरता है ।

मृत्यु होने पर नयों की अपेक्षा भी शोक करना व्यर्थ

(पृथ्वी)
स्थिरं सदपि सर्वदा, भृशमदेत्यवस्थान्तरैः;
प्रतिक्षणमिदं जगज्जलद-कूटवन्नश्यति ।
तदत्र भवमाश्रिते, मृतिमुपागते वा जने;
प्रियेऽपि किमहो मुदा, किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः॥21॥
द्रव्यदृष्टि से जगत् नित्य है, पर अनित्य पर्यायों से ।
मेघपटलवत् प्रतिक्षण यह जग, उपजे अरु निश्चित विनशे॥
तो अपने प्रियजन के आने पर अथवा जाने पर रे! ।
क्यों प्रबुद्ध-जन हर्षित होवें, अथवा क्यों वे शोक करें॥
अन्वयार्थ : यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा यह लोक सदा विद्यमान है तो भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा मेघों के समूह के समान यह क्षण-क्षण में विनाशीक है । इसलिए हे बुद्धिमान् पुरुषों! इस संसार में अपने प्रिय मनुष्य के उत्पन्न होने पर हर्ष तथा मर जाने पर शोक करनें में क्या रखा है? अर्थात् तुम्हारा हर्ष तथा शोक करना बिना प्रयोजन का है ।

मरण के समय को देव भी निमिषमात्र टाल नहीं सकते

(शार्दूलविक्रीडित)
लङ्घ्यन्ते जलराशयः शिखरिणो, देशास्तटिन्यो जनैः;
सा वेला तु मृतेर्नृ-पक्ष्म-चलन,-स्तोकाऽपि देवैरपि ।
तत्कस्मिन्नपि संस्थिते सुखकरं, श्रेयो विहाय ध्रुवं;
कः सर्वत्र दुरन्तदुःखजनकं, शोकं विदध्यात्सुधीः॥22॥

महासिन्धु-गिरि पार करें नर, दूर देश में भी जायें ।
किन्तु मृत्यु के एक समय को, सुर-गण भी नहिं टाल सकें॥
तो प्रिय-जन वियोग होने पर, ऐसा कौन पुरुष मतिमान?
शोक करे नाना दु:खदायक, तजे सुखद कल्याण-निधान॥
मनुष्य, बड़े-बड़े समुद्रों को पार कर जाते हैं, बड़े-बड़े पर्वतों तथा देशों का उल्लंघन कर जाते हैं, विस्तृत नदियों को भी तिर जाते हैं; परन्तु मरण के समय तो मनुष्यों की तो क्या बात? देव भी निमिषमात्र के लिए नहीं टाल सकते हैं । इसलिए ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा? जो अपने किसी प्रिय मनुष्य के मर जाने पर समस्त प्रकार के कल्याण को देने वाले उत्तम धर्म को न करके, नाना प्रकार के नरकादि दुःखों को

अन्वयार्थ : देने वाले शोक को करेगा?

इस जीव का बावलापन (पागलपन) क्या है?

आक्रन्दं कुरुते यदत्र जनता, नष्टे निजे मानुषे;
जाते यच्च मुदं तदुन्नतधियो, जल्पन्ति वातूलताम् ।
यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्, कर्मप्रबन्धोदयात्;
मृत्यूत्पत्ति-परम्परा-मयमिदं, सर्वं जगत्सर्वदा॥23॥
अपने प्रिय की मृत्यु समय पर, जो जन चीख-चीख रोते ।
तथा जन्म में हर्षित होते, उन्हें सुधी 'पागल' कहते॥
क्योंकि जगत् अज्ञान-जन्य, कार्यों से कर्म-बन्ध करता ।
कर्मोदय से जग में जन्म-मरण परिपाटी चले सदा॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, अपने प्रिय मनुष्य के मरने पर तो चीख मार-मार कर रोते हैं तथा उत्पन्न होने पर हर्ष मनाते हैं; उनकी उस प्रकार की चेष्टा को बुद्धिमान् पुरुष, बावलापन कहते हैं क्योंकि यह समस्त जगत् तो अज्ञान से की हुई खोटी-खोटी क्रिया से उत्पन्न कर्मों के बन्धन के उदय से सदा मरण तथा जन्मों की परम्परा-स्वरूप ही हैं ।

संसार में आपत्ति के आने पर शोक करना व्यर्थ

गुर्वी भ्रान्तिरियं जडत्वमथवा, लोकस्य यस्माद्वसन्;
संसारे बहुदुःखजालजटिले, शोकीभवत्यापदि ।
भूतप्रेतपिशाचफेरवचिता,-पूर्णे श्मशाने गृहं;
कः कृत्वा भयदादमंगलकृते भावाद् भवेच्छंकितः॥24॥
विविध दु:खों से व्याप्त जगत् में, रहने पर भी शोक करें ।
यह तो जग की मूढ़बुद्धि है, अथवा बहुत बड़ा भ्रम है॥
भूत-पिशाचादिक की लीला-मय मसान में वास करें ।
फिर क्यों भयप्रद और अमंगल-मय घटना से कोई डरें ?

अन्वयार्थ : लोक का यह एक बड़ा भारी भ्र है अथवा उसकी मूर्खता कहनी चाहिए कि अनेक दुःखों से व्याप्त इस संसार में रहता हुआ भी आपत्ति के आने पर शोक करता है क्योंकि जो भूत-प्रेत-पिशाच, फेंकार शब्द और चिता आदि से व्याप्त श्मशान में घर बना कर तथा वहाँ रह कर भी ऐसा कौन पुरुष होगा, जो ऐसे अमंगल स्वरूप तथा नाना प्रकार के भय को करने वाले पदार्थों से भय करेगा?

संसार की स्थिति समझने में चन्द्रमा का उदाहरण

(मालिनी)

भ्रमति नभसि चन्द्रः संसृतौ शश्वदंगी;
लभत उदयमस्तं पूर्णतां हीनतां च ।
कलुषितहृदयः सन् याति राशिं च राशे:;
तनुमिह तनुतस्तत्कोऽत्र मोदश्च शोकः॥25॥
नभ में ज्यों शशि भ्रमण करे, त्यों प्राणी नित्य भ्रमे संसार ।
चन्द्र-समान मनुज भी होता, उदित-अस्त अरु बाल-युवा॥
एक राशि से अन्य राशिवत्, गति से गत्यन्तर जाए ।
कलुषित भी है फिर क्यों नर तू, जग में हर्ष-विषाद करे॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार चन्द्रमा, सदा आकाश में भ्रमण करता रहता है; उसी प्रकार यह प्राणी भी निरन्तर संसार में एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता रहता है । जिस प्रकार चन्द्रमा उदित होता है तथा अस्त होता है; उसी प्रकार यह प्राणी भी जन्मता तथा मरता है । जिस प्रकार चन्द्रमा बढ़ता और घटता है; उसी प्रकार यह प्राणी भी बालपने को, युवापने को और वृद्धपने को प्राप्त होता है । जिस प्रकार चन्द्रमा कलंकित होकर, मीन आदि राशि से कर्क आदि राशि को प्राप्त होता है; उसी प्रकार यह प्राणी भी कलुषित चित्त होकर, एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है । इसलिए भव्य जीवों को संसार की ऐसी वास्तविक स्थिति को भलीभाँति जान कर, जन्म-मरण में कदापि हर्ष तथा शोक नहीं मानना चाहिए ।

उत्पन्न होना और नष्ट होना, संसार का धर्म

तडिदिव चलमेतत्पुत्र-दारादि-सर्वं;
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य;
व्यभिचरति कदाचित्सर्वभावेषु नूनम्॥26॥
स्त्री-पुत्रादिक सब ही हैं, विद्युत्-सम चंचल नश्वर ।
तो उनका विनाश होने पर, क्यों करते हैं खेद सुनर॥
यथा उष्णता अविनाभावी, सदा अग्नि के संग रहे ।
वैसे ही उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय, सब पदार्थ में सदा रहे॥

अन्वयार्थ : संसार में स्त्री-पुत्र आदि समस्त पदार्थ बिजली के समान चंचल तथा विनाशीक हैं; इसलिए उनके नाश होने पर, बुद्धिमानों को कदापि शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार अग्नि में उष्णपना सर्वदा रहता है; उसी प्रकार समस्त पदार्थों में उत्पादव्यय-ध्रौव्य - ये तीनों धर्म सदा रहते हैं ।

शोक से उत्पन्न असाताकर्म वट-बीज के समान

प्रियजनमृतिशोकः सेव्यमानाऽतिमात्रं;
जनयति तदसातं कर्म यच्चाग्रतोऽपि ।
प्रसरति शतशाखं देहिनि क्षेत्र उप्तं;
वट इव तनुबीजं त्यज्यतां स प्रयत्नात्॥27॥
बोया हुआ बीज ज्यों फैले, शाखा और प्रशाखा में ।
प्रिय-वियोग में शोक करें तो, फलता कर्म असाता में॥

अन्वयार्थ : क्षेत्र में बोया हुआ वटवृक्ष का छोटा-सा बीज, जिस प्रकार शाखा-प्रशाखा स्वरूप परिणत होकर फैल जाता है; उसी प्रकार अपने प्रिय स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर जो अत्यन्त शोक किया जाता है, वह शोक उस असाताकर्म को पैदा करता है, जो उत्तरोत्तर शाखा-प्रशाखारूप में परिणत होकर फैलता चला जाता है अर्थात् उस असाताकर्म के उदय से नरक-तिर्यंच आदि अनेक योनियों में भ्रमण करने

से नाना प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं। इसलिए विद्वानों को ऐसा शोक, जैसे शीघ्र छूटे, वैसे छोड़ देना चाहिए।

आयु का नाश ही यमराज का मुख

(आर्या)

आयुः क्षतिः प्रतिक्षण-मेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गताः।
सर्वे जनाः किमेकः, शोचयत्यन्यं मृतं मूढः॥28॥
आयु-क्षीण होने पर प्रतिक्षण, आते सब यम के मुख में।
एक यही अज्ञानी क्यों, प्रिय के वियोग में शोक करे॥

अन्वयार्थ : प्रतिसमय आयु का नाश होता है और वह आयु का नाश ही यमराज का मुख है और उसमें अनेक जीव प्रविष्ट हो चुके हैं। फिर भी यह अज्ञानी जीव, अपने प्रिय के मरने पर न मालूम क्यों शोक करता है?

मृत्यु होने पर किसका शोक करना उचित?

(अनुष्टुभ्)

यो नात्र गोचरं मृत्यो:, गतो याति न यास्यति।
स हि शोकं मृते कुर्वन्, शोभते नेतरः पुान्॥29॥
जो न कभी भी मरा, मर रहा, और मरेगा कभी नहीं।
शोक उसी को शोभा देता, अन्य पुरुष को कभी नहीं॥

अन्वयार्थ : जो प्राणी, कभी भी स्वयं न तो मरा है, न मर रहा है और न मरेगा; यदि वह अपने प्रिय के मरने पर शोक करे तो उसका शोक उचित है, किन्तु जो स्वयं अनन्त बार तो मर चुका है, मर रहा है और अनन्त ही बार मरेगा; यदि वह शोक करे तो उसका शोक करना व्यर्थ है। अत: विद्वानों को अपने प्रिय स्त्री-पुत्रादि के मरने पर कदापि शोक नहीं करना चाहिए।

सूर्यदेवता भी विधि के विधान से अलग नहीं

(मालिनी)

प्रथममुदयमुच्चै:, दूरमारोहलक्ष्मी-;
मनुभवति च पातं सोऽपि देवो दिनेशः।
यदि किल दिनमध्ये तत्र केषां नराणां;
वसति हृदि विषादः सत्स्ववस्थान्तरेषु॥30॥
प्रात: जो रवि शोभित होता, वही शाम को होवे अस्त।
तो पदार्थ के परिवर्तन में, करें विषाद सुधी क्यों व्यर्थ॥

अन्वयार्थ : सूर्यदेवता भी एक ही दिन में, प्रथम तो प्रातःकाल में उदित होकर ऊँचा चढ़ता हुआ अत्यन्त शोभा को धारण करता है, पश्चात् सायंकाल में अस्त हो जाता है; उसी प्रकार समस्त पदार्थों की एक अवस्था से दूसरी अवस्था होती है, उन अवस्थाओं को देख कर, ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा, जो अपने मन में विषाद करेगा? अर्थात् ऐसी स्वाभाविक स्थिति पर बुद्धिमान कदापि खेद नहीं कर सकते।

काल की सर्वत्र गति

(वसन्ततिलका)

आकाश एव शशिसूर्यरुत्खगाद्या:;
भूपृष्ट एव शकटप्रमुखाश्चरन्ति।
मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति;
सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः॥31॥

रवि-शशि-वायु-पक्षी नभ में, वाहनादि भू पर चलते ।
जल में जलचर, यम सर्वत्र, कहाँ बचने का यत्न करें॥

अन्वयार्थ : चन्द्र, सूर्य, पवन, पक्षी आदि तो आकाश में ही चलते हैं; गाड़ी, सिंह, व्याघ्र आदि जमीन पर ही चलते हैं और मछली-मगर आदि जल में ही चलते है; परन्तु यह काल (यम) सब जगहों पर चलता है अर्थात् यह काल, प्राणियों को पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि आदि किसी स्थान पर नहीं छोड़ता, फिर इससे बचने का प्रयत्न किया जाए तो कहाँ किया जाए?

शुभ-अशुभ कर्मोदय को रोकने में कोई समर्थ नहीं

(शार्दूलविक्रीडित)
किं देवः किमु देवता किमगदो, विद्यास्ति किं किं मणिः;
किं मन्त्रं किमुताश्रयः किमु सुहृत्किंवा सगन्धोऽस्ति सः ।
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः, सन्त्यत्र लोकत्रये;
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये, कर्मोदितं वार्यते॥32॥
क्या देवी क्या देव वैद्य क्या? विद्या हो या मणि कहो ।
मन्त्र-तन्त्र या कोई सहारा, कैसा भी हो मित्र अहो!
अथवा तीन लोक में कोई, हो बलवान महानृप भी ।
सब मिल कर भी उदयकाल में, रोक सकें नहिं कर्म कभी॥

अन्वयार्थ : तीनों लोक में भी देव, देवी, वैद्य, मणि, विद्या, मन्त्र, भृत्य, मित्र, सगन्ध तथा राजा आदि एक-एक की तो क्या बात? सब मिल कर भी प्राणियों के अपने समय में उदय आए हुए कर्म को नहीं रोक सकते ।

कौन, किससे अधिक बलवान?

गीर्वाणा अणिमादिस्वस्थमनसः, शक्ता: किमत्रोच्यते;
ध्वस्तास्तेऽपि परम्परेण स पर:, तेभ्यः कियान् राक्षस: ।
रामाख्येन च मानुषेण निहत:, प्रोल्लंघ्य सोप्यम्बुधिं;
रामोऽप्यन्तकगोचर: समभवत्, कोऽन्यो बलीयान्विधे:॥33॥
अणिमादिक ऋद्धि से भूषित, सब प्रकार बलयुक्त प्रवर ।
उनसे भी अति तुच्छ शत्रु रावण से पीड़ित हुए अमर॥
वह रावण भी सिन्धु पार कर आए मनुज राम से मृत ।
यम गोचर फिर हुए राम भी, विधि से अधिक कौन बलयुत?॥

अन्वयार्थ : विशेष कहाँ तक कहा जाए? जैसे, लोक में कहा जाता है कि जो देव, अणिमा-महिमा आदि ऋद्धि के धारी थे तथा सब प्रकार से समर्थ थे; उनको भी उस रावण नामक राक्षस ने विध्वंस कर दिया, जबकि वह रावण, उन देवों के सामने कुछ चीज न था । उस रावण को भी समुद्र पार कर, राम नामक मनुष्य ने मार दिया तथा पश्चात् वह राम भी कालबली का ग्रास बन गया; इसलिए आचार्य कहते हैं कि कर्म से बलवान् संसार में कोई भी नहीं ।

संसाररूपी वन में शोकरूपी दावानल

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहन,-व्याप्तं जगत्काननं;
मुग्धास्तत्र वधूमृगीगतधिय:, तिष्ठन्ति लोकैणकाः ।
कालव्याध इमान्निहन्ति पुरतः, प्राप्तान् सदा निर्दय:;
तस्माज्जीवति नोशिशुर्न च युवा, वृद्धोऽपि नो कश्चन॥34॥

इस संसार महावन में है, शोकरूप दावानल व्याप्त ।
लोकरूप मृग मृगीवधू में, मूढ़मति होकर आसक्त॥
निर्दय काल व्याध नित मारे, सन्मुख आए जन-मृग को ।
उससे कोई बचे नहीं शिशु, हो या युवा वृद्ध भी हो॥
अन्वयार्थ : यह संसाररूपी वन, सब जगह से उठे हुए शोकरूपी दावानल से व्याप्त हो रहा है । इस संसाररूपी वन में लोकरूपी मृग हैं, वे स्त्रीरूपी मृगी के वश होकर पड़े हुए हैं । यह कालरूपी व्याघ्र, आगे आए हुए उन लोकरूपी दीन मृगों को सदाकाल मारता है, जिससे इस संसार में न तो कोई बालक सदा जीता है, न कोई युवा सदा जीता है और न कोई वृद्ध ही सदा जीता है ।

संसाररूपी वन में मनुष्यरूपी वृक्ष

(शार्दूलविक्रीडित)
सम्पच्चारुलतः प्रियापरिलसत्, वल्लीभिरालिङ्गितः;
पुत्रादिप्रियपल्लवो रतिसुख,-प्रायैः फलैराश्रितः ।
जातः संसृतिकानने जनतरुः, कालोग्रदावानल-;
व्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा बत बुधै,-रन्यत्किमालोक्यते॥35॥
सम्पति-चारु-लता-युत सुन्दर, रमणीरूपी बेल सहित ।
पुत्रादिक पल्लवधारी रति-जन्य सुख अरे! फल शोभित॥
भववन में उत्पन्न मनुज-तरु, कालरूप दावानल से ।
निश्चित होता भस्म अरे! क्यों, बुधजन नहिं निजहित करते?
अन्वयार्थ : सम्पदारूपी मनोहर लताओं से युक्त, स्त्रीरूपी मनोहर बेल से आलिंगन किया हुआ, पुत्र आदि उत्तम पल्लवों का धारी तथा रति से उत्पन्न सुखरूपी फल से सहित - ऐसा यह मनुष्यरूपी वृक्ष, संसाररूपी वन में पैदा हुआ है । यह मनुष्यरूपी वृक्ष, कालरूपी भयंकर दावाग्नि से भस्म न हो जाए, इसके लिए बुद्धिमानों को अवश्य उसे सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

दु:खरूपी तरंगों से व्याप्त संसाररूपी समुद्र

वाञ्छन्त्येव सुखं तदत्र विधिना, दत्तं परं प्राप्यते;
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजा:, तत्राप्यतो बिभ्यति ।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदयाः, मोहान्मुधैव ध्रुवं;
दुःखोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधिय:, संसारघोराऽर्णवे॥36॥
सुख चाहे नर किन्तु जगत् में, सुख मिलता कर्मोदय से ।
सब जीवों का मरण सुनिश्चित, फिर भी मरने से डरते॥
इस प्रकार कामातुर और, भयातुर हुए मोह से मूढ़ ।
दु:ख-तरंग से व्याप्त भवोदधि, में गिरते हैं बुद्धि-विमूढ़॥
अन्वयार्थ : संसार में समस्त प्राणी, इन्द्रियों से पैदा हुए सुख की अभिलाषा सदा करते रहते हैं; किन्तु वह सुख, कर्मानुसार ही मिलता है, इच्छानुसार नहीं मिलता । सर्व जीव, निश्चय से मरते हैं तो भी उस मृत्यु से डरते रहते हैं । इस प्रकार मोह से कामातुर तथा भयातुर होकर, ये मूढ़-बुद्धि प्राणी, व्यर्थ ही नाना प्रकार के दुःखरूपी तरंगों से व्याप्त इस संसाररूपी समुद्र में डूबते हैं ।

कालरूपी मल्लाह के हाथ से फैलाया हुआ जाल

(मालिनी)
स्वसुखपयसि दीव्यन् मृत्युकैवर्तहस्त-;

प्रसृतघनजरोरु,-प्रोल्लसज्जालमध्ये ।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं;
भवसरसि वराको, लोकमीनौघ एषः॥37॥
मनुज-मीन सुख-सर में रमता, किन्तु काल ने डाला जाल ।
जरारूप आपत्ति निकट है, किन्तु देखता नहिं दुष्काल॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार मल्लाह से बिछाये हुए जाल में मछलियों का समूह खेलता रहता है, किन्तु समीप में स्थित उस मरणरूपी भयंकर आपत्ति के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं देता; उसी प्रकार यह लोकरूपी दीन मछलियों का समूह, अपने सुखरूपी जल में कालरूपी मल्लाह के हाथ से फैलाये हुए जरारूपी विस्तीर्ण जाल में क्रीड़ा करता रहता है, किन्तु 'व्यर्थ में हमारा जीवन चला जाएगा' - इस प्रकार पास में स्थित आपत्ति के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं देता ।

सभी को मरते हुए देख कर भी अपने को अमर मानना मोह की निशानी

(शार्दूलविक्रीडित)
श्रृण्वन्नन्तकगोचरं गतवतः, पश्यन् बहून् गच्छतो;
मोहादेव जनस्तथापि मनुते, स्थैर्यं परं ह्यात्मनः ।
सम्प्राप्तेऽपि च वार्धके स्पृहयति, प्रायो न धर्माय यत्;
तद्बध्नात्यधिकाधिकं स्वमसकृत्, पुत्रादिभिर्बन्धनैः॥38॥
गये काल के गाल बहुत नर, देखे-सुने सदा यह जीव ।
किन्तु मोह-वश अपने को यह, प्राणी माने अमर सदैव॥
वृद्धावस्था आए फिर भी, धर्म नहीं करना चाहे ।
नारी-पुत्रादिक-बन्धन से नित प्रति दृढ़ बँधना चाहे॥
अन्वयार्थ : यह लोक, 'बहुत-से जीव मर गये' - इस बात को सुनता हुआ भी तथा बहुतों को स्वयं मरते हुए देखता हुआ भी मोह से अपनी आत्मा को इस शरीर में निश्चल ही मानता है, वृद्धावस्था के आने पर भी धर्म की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देता; किन्तु उस अवस्था में भी स्त्री-पुत्र आदि के बन्धन से निरन्तर अपने को और भी ज्यादा बाँधता है ।

विद्वानों की भी देह के प्रति आसक्ति आश्चर्यजनक

दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचितं, दुःसन्धि-दुर्बन्धनं;
सापायस्थिति दोषधातु लवत्, सर्वत्र यन्नश्वरम् ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयो, यच्चात्र चित्रं न तत्;
तच्चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापि यन्मृग्यते॥39॥
दुष्चेष्टा कृत कर्म-शिल्पि ने, दु:सन्धि-दुर्बन्धन से ।
व्यय-उत्पाद सहित अरु नाना, दोष कुधातु भरी जिसमें॥
आधि-व्याधि अरु जरा मरण हैं, इस तन में तो अचरज क्या?
किन्तु सुबुध भी इसे मानते, नित्य यही आश्चर्य महा॥
अन्वयार्थ : देह-सम्बन्धी जो बुरी-बुरी क्रियाएँ, उनसे किया गया जो कर्म, वही हुआ एक प्रकार का कारीगर, उससे बनाया हुआ यह शरीर है; खोटी सन्धि और खोटे बन्धन से सहित है, स्थिति-नाश से सहित है, नाना प्रकार के दोष, मल-मूत्र-वीर्य आदि सात कुधातुओं से संयुक्त है - ऐसी देह में यदि आधि-व्याधि, जरा-मरण आदि होते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि विद्वान् मनुष्य भी ऐसे शरीर को सर्वथा स्थिर मानते हैं ।

जहाँ किसी प्रकार का दु:ख नहीं - ऐसी मुक्ति ही श्रेयस्कर

लब्धा श्रीरिह वाञ्छिता वसुती, भुक्ता समुद्राऽवधिः;
प्राप्तास्ते विषया मनोहरतराः, स्वर्गेऽपि ये दुर्लभाः ।
पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततः, तत्सर्वमेतद्विषा-;
श्लिष्टं भोज्यमिवातिरम्यमपि धिक्, मुक्ति: परं मृग्यताम्॥40॥
वाञ्छित लक्ष्मी मिली और, पृथ्वी भोगी सागर-पर्यन्त ।
प्राप्त किये सब विषय मनोहर, जो देवों को भी दुर्लभ॥
फिर भी पीछे खड़ी मृत्यु का, कर विचार तो ये सब भोग ।
विष-मिश्रित भोजन-सम लगते, अत: मुक्ति ही आश्रय योग्य॥

अन्वयार्थ : इस संसार में वांछित लक्ष्मी भी प्राप्त कर ली, सागरान्त पृथ्वी का राज्य भी भोग लिया और जो विषय, स्वर्ग में भी प्राप्त नहीं हो सकते - ऐसे अत्यन्त मनोहर विषयों को भी पा लिया; किन्तु जिस समय मृत्यु पास में आएगी, उस समय अत्यन्त मनोहर ये सब बातें विष-संयुक्त भोजन के समान दुःख को देनेवाली ही होंगी । इसलिए उनके लिए धिक्कार हो - ऐसा विचार कर, हे भव्य जीवों! जहाँ पर किसी प्रकार का दुःख नहीं - ऐसी मुक्ति का ही आश्रय करो ।

काल (मृत्यु) से अपनी रक्षा के लिए प्रयत्न अनिवार्य

युद्धे तावदलं रथेभतुरगा, वीराश्च दृप्ता भृशं;
मन्त्रः शौर्यसिश्च तावदतुलाः, कार्यस्य संसाधकाः ।
राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दयमना, यावज्जिघत्सुर्य:;
क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो, यत्नो विधेयो बुधैः॥41॥
रण में हाथी घोड़े गर्वित, योद्धा शौर्य तथा हथियार ।
मन्त्र रथादिक सभी तभी तक, हो सकते हैं नृप के यार॥
जबतक भूखा निर्दय क्रोधी जीवों का भक्षण-कामी ।
यम नहिं सन्मुख दौड़ा आवे, अत: प्रयत्न करें ज्ञानी॥

अन्वयार्थ : जब तक भूखा, निर्दयी, समस्त जीवों का विध्वंस करने वाला व क्रोधी यमराज सामने नहीं आता; तभी तक युद्ध में राजा के रथ, हाथी, घोड़ा, अत्यन्त गर्व करने वाले सुभट, मन्त्र, वीरता और अनुपम तलवार आदि काम में आते हैं; किन्तु जब यमराज सामने आ जाता है अर्थात् जब मरण समय आता है, उस समय उपर्युक्त कोई भी चीज काम में नहीं आती । इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को जिस प्रकार बने, उस प्रकार इस काल (मृत्यु/यम) को सर्वथा नष्ट के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ।

जीवन और धन की क्षणभंगुरता

राजाऽपि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चितं;
सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणो,ऽप्याशु क्षयं गच्छति ।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते, श्रीजीविते द्वे तयोः;
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा, क्वान्यत्र कार्यो मद:॥42॥
कर्मोदयवश महानृपति भी, क्षण में निर्धन हो जाता ।
सर्व रोग परिमुक्त युवा भी, अरे! मृत्यु-मुख में जाता॥
सारभूत धन जीवन नश्वर, अन्य पदार्थों की क्या बात? ।
अरे! विचित्र दशा है जग की, अत: सुधी न करे ममकार॥

अन्वयार्थ : अपने पूर्वोपार्जित कर्म के वश से राजा भी क्षण भर में निश्चय से निर्धन हो जाता है, समस्त रोगों से रहित जवान मनुष्य भी

देखते-देखते नष्ट हो जाता है; इसलिए समस्त पदार्थों में सारभूत जीवन तथा धन की भी जब संसार में ऐसी स्थिति है, तब और पदार्थों की क्या बात? अर्थात् वे तो अवश्य ही विनाशीक हैं । अतः विद्वानों को किसी पदार्थ में अहंकार नहीं करना चाहिए ।

सम्पदा-स्त्री-पुत्र आदि की तीव्र चंचलता

हन्ति व्यो स मुष्टिनाथ सरितं, शुष्कां तरत्याकुलः;
तृष्णार्तामेऽथ मरीचिकाः पिबति च, प्रायः प्रमत्तो भवन् ।
प्रोत्तुङ्गाचलचूलिकागतमरुत्, प्रेङ्खत्प्रदीपोपमैः;
य: सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभि:, कुर्यान्मद: मानव:॥43॥
गिरि-शिखरों पर तीव्र पवन से, कम्पित दीपक-शिखा समान ।
चञ्चल लक्ष्मी-पुत्र-कामिनी, में जो नर करता अभिमान॥
उन्मादी होकर वह नभ में, मानो करता मुष्टि-प्रहार ।
तैर रहा सूखी सरिता में, करता मृग-मरीचिका पान॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, अत्यन्त ऊँची पहाड़ की चोटी, उस पर चलती हुई जो पवन, उससे झकोरे खाते हुए दीपक के समान चञ्चल - ऐसी सम्पदा, पुत्र, स्त्री आदि में अभिमान करता है; मानो वह मनुष्य, उन्मादी होकर आकाश को मुट्ठी से मारता है, अत्यन्त आकुल होकर शुष्क नदी को तिरता है अथवा प्यास से अत्यन्त आकुल होकर मरीचिका को पीता है - ऐसा मालूम होता है ।

चञ्चला लक्ष्मी के चक्कर में नहीं फँसने का उपदेश

लक्ष्मीं व्याधमृगीमतीव चपला,-माश्रित्य भूपा मृगा:;
पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुषा, निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल ।
सज्जीभूत-घनापदुन्नत-धनुः, संलग्न-संहच्छरं;
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि, क्रुद्धं यमं लुब्धकम्॥44॥
चंचल हिरणी-सम सम्पति पा, नृप-मृग को ईर्ष्यादिक हो ।
भ्रात-सुतादिक अन्य मृगों को, मारे अतिशय क्रोधित हो॥
किन्तु आपदा धनुष बाण ले, क्रोधित जो हिंसक यमराज ।
है समीप में उसे न देखे, यह है अति अचरज की बात॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार राजारूपी शिकारी मृग अत्यन्त चञ्चल हिरणी के समान इस सम्पदा को पाकर, पुत्र-भाई आदि जो दूसरे मृग हैं, उनको अत्यन्त क्रोध तथा ईर्ष्या से मारते हैं; किन्तु बड़ी भारी आपत्तिरूप धनुष का धारी तथा संहाररूपी बाण को हाथ में लिये हुए और पास में आये हुए क्रोधी यमराजरूपी हिंसक की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते - यह आश्चर्य की बात है ।

प्रिय का वियोग होने पर भी शोक करने से संसार-भ्रमण

मृत्योर्मागेमेचरमागते निजजने, मोहेन यः शोककृत्;
नो गन्धोऽपि गुणस्य तस्य बहवो, दोषा पुनर्निश्चितम् ।
दुःखं वर्धत एव नश्यति चतु:, वर्गामे मतेर्विभ्रमः;
पापं रुक् च मृतिश्च दुर्गतिरथ, स्याद्दीर्घसंसारिता॥45॥
प्रियजन की मृत्यु होने पर, मोहित हो जो करते शोक ।
उन्हें गुणों की गन्ध न मिलती, निश्चित बढ़ते जाते दोष॥
पागल होकर तीव्र दु:खी हो चारों पौरुष नष्ट करें ।
पाप, रोग हो मर कर दुर्गति-रथ पर जग में भ्रमण करे॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, अपने प्रियजन के मर जाने पर, मोह के वश होकर शोक करता है, उसको किसी प्रकार गुण की प्राप्ति तो नहीं होती, किन्तु निश्चय से दोष ही उत्पन्न होते हैं, दुःख बढ़ता है, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष - ये चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं, बावला हो जाता है, उसको पाप तथा रोगों की उत्पत्ति भी हो जाती है और अन्त में मर भी जाता है; पश्चात् दुर्गतिरूपी रथ में बैठ कर, चिर काल तक संसार में भ्रमण करता रहता है । इसलिए विद्वानों को कदापि शोक नहीं करना चाहिए ।

जिसे दु:ख न भोगना हो, वह संसार में न रहे

(आर्या)

आपन्मयसंसारे, क्रियते विदुषा किमापदि विषादः ।
कस्त्रस्यति लंघनत:, प्रविधाय चतुष्पथे सदनम्॥46॥
दु:खस्वरूप है जगत् अरे! फिर बुध क्यों दु:ख में खेद करें ।
चौराहे पर भवन बनाया, क्यों दु:ख हो उल्लंघन से॥

अन्वयार्थ : यह संसार तो आपत्ति स्वरूप है । फिर भी नहीं मालूम बुद्धिमान पुरुष, आपत्ति के आने पर खेद क्यों करते हैं? क्योंकि जो चौराहे पर मकान बनाता है, वह क्या उसके उल्लंघन होने पर दुःखित होता है ?

मनुष्य का पागलपन

(वसन्ततिलका)

वातूल एष किमु किं ग्रहसंगृहीतो;
भ्रान्तोथ वा किमु जनः किमथ प्रमत्तः ।
जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि;
विद्युच्चलं तदपि नो कुरुते स्वकार्य्॥47॥
वाय हुई या भूत लगे हैं, या फिर क्या यह पागल है? ।
देखे, जाने, सुने, अथिर सब किन्तु न अपना कार्य करे॥

अन्वयार्थ : क्या इस मनुष्य को वात रोग हो गया है? अथवा इसे किसी भूत-पिशाच ने पकड़ लिया है? अथवा यह बावला हो गया है? अथवा उन्मादी हो गया है? जो कि समस्त जीवन-धन-स्त्री-पुत्र आदि को बिजली के समान चञ्चल तथा विनाशीक जानता है, देखता है, सुनता है तो भी अपने हितरूप कार्य को अंशमात्र भी नहीं करता ।

मृत्यु समीप आने पर किये हुए प्रयत्न भी मिथ्या

(शार्दूलविक्रीडित)

दत्तं नौषधमस्य नैव कथितः, कस्याप्ययं मन्त्रिणो;
नो कुर्याच्छुचमेवमुन्नतमति:,-लोकान्तरस्थे निजे ।
यत्ना यान्ति यतोङ्गिनः शिथिलतां, सर्वे मृतेः सन्निधौ;
बन्धाश्चर्मविनिर्मिताः परिलसत्, वर्षाम्बुसिक्ता इव॥48॥
अरे! दवा भी दे नहिं पाये, वैद्यादिक नहिं बुला सके ।
प्रिय-वियोग होने पर ऐसा, शोक कदापि न सुधी करे॥
जब प्राणी की मृत्यु निकट हो, तो सारे प्रयत्न निष्फल ।
चर्म-विनिर्मित सभी वस्तुएँ, जल गिरने से होंय शिथिल॥

अन्वयार्थ : अपने प्रिय मनुष्य के मर जाने पर बुद्धिमानों को ऐसा शोक कदापि नहीं करना चाहिए कि मैंने इसको दवा नहीं दी अथवा किसी वैद्य अथवा मन्त्रवादी को बुला कर नहीं दिखाया, क्योंकि जिस प्रकार चाम के बन्धन, वर्षा काल में पानी पड़ने से स्वयमेव ढीले हो

जाते हैं; उसी प्रकार मनुष्य की मृत्यु समीप आने पर किये हुए प्रयत्न भी मिथ्या हो जाते हैं ।

मैं-मैं करने वालों के जीवन की व्यर्थता

शिखरिणी

स्वकर्मव्याघ्रेण, स्फुरितनिजकालादिमहसा;
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने ।
प्रिया मे पुत्रा मे, द्रविणमपि मे मे गृहमिदं;
वदन्नेवं मे मे, पशुरिव जनो याति मरणम्॥49॥
वन में बली व्याघ्र से निर्बल, पशु मैं-मैं कर प्राण तजे ।
इस अशरण संसार-विपिन में, कर्म-व्याघ्र सबको पकड़े॥
यह सुत मेरा नारी मेरी, धन मेरा गृह मेरा है ।
पशुओं जैसा मैं-मैं करता, मनुज मरण को प्राप्त करे॥

अन्वयार्थ : जहाँ कोई शरण नहीं है - ऐसे वन में बलवान् व्याघ्र से पकड़ा हुआ दीन पशु, जिस प्रकार मैं...मैं करते हुए मर जाता है; उसी प्रकार शरण रहित इस संसाररूपी वन में अपने काल (मृत्यु) आदि बल-संयुक्त कर्मरूपी व्याघ्र से पकड़ा हुआ यह जन, 'स्त्री मेरी है, पुत्र मेरे हैं, धन मेरा है, यह घर मेरा है' - इस प्रकार मैं...मैं करता हुआ व्यर्थ मर जाता है । इसलिए विद्वानों को कदापि किसी पदार्थ में ममत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिए ।

आयु की दिन-प्रतिदिन क्षीणता

(वसन्ततिलका)

दिनानि खण्डानि गुरूणि मृत्युना;
विहन्यमानस्य निजायुषो भृशम् ।
पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः;
स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जडः॥50॥
आयु मृत्यु से नष्ट हुई, ये दिन हैं उसके ही टुकड़े ।
इन्हें बीतता देखे पर निज, को थिर माने मूढ़ अरे॥

अन्वयार्थ : मृत्यु से नष्ट किये हुए अपनी आयु के बड़े-बड़े टुकड़े स्वरूप ये दिन, सदा आगे आकर पड़ते हैं अर्थात् आयु के दिन, प्रतिदिन क्षीण होते चले जाते हैं । इस बात को देखता हुआ भी यह अज्ञानी जीव, अपने को निश्चल-अविनाशी मानता है - यह आश्चर्य है ।

अमरता का सन्देश

(शार्दूलविक्रीडित)

कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं, तेऽपीन्द्रचन्द्रादयः;
का वार्ताऽन्यजनस्य कीटसदृशो,ऽशक्तेरदीर्घायुषः ।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे, मोहं मुधा मा कृथाः;
कालः क्रीडति नात्र येन सहसा, तत्किञ्चिदन्विष्यताम्॥51॥
चन्द्र-सूर्य-इन्द्रादिक भी तो, हों विनष्ट जब आये काल ।
निबल कीट-सम अल्प आयु जो, अन्य जनों की है क्या बात?
अत: मृत्यु को प्राप्त हुए, प्रिय जन का व्यर्थ न शोक करो ।
ऐसा काम करो जिससे अब, पुन: काल का खेल न हो॥

अन्वयार्थ : जब बड़ी-बड़ी ऋद्धि के धारी इन्द्र-चन्द्र-सूर्य आदि भी अपने काल के आने पर मर जाते हैं, तब कीट के समान निर्बल तथा थोड़ी आयु वाले अन्य जन की क्या बात? अर्थात् वह तो अवश्य ही मरेगा । इसलिए अपने प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के मरने पर शोक न करके कोई ऐसा काम करो, जिससे तुमको फिर न मरना पड़े ।

नाना गतियों में जीव के वेश नट के समान

संयोगो यदि विप्रयोगविधिना, चेज्जन्म तन्मृत्युना;
सम्पच्चेद्विपदा सुखं यदि तदा, दुःखेन भाव्यं ध्रुवम् ।
संसारेऽत्र मुहुमुर्हुर्बहुविधा,ऽवस्थान्तरप्रोल्लसद्;
वेषान्यत्वनटीकृताङ्गिनि सतः, शोको न हर्षः क्वचित्॥52॥
संयोगों के संग वियोग है, और जन्म के संग मरण ।
सम्पत्ति के साथ विपत्ति, दु:ख भी रहता सुख के संग॥
इस जग में यह जीव बहुत से, वेश बनाए बारम्बार ।
नट समान इसलिए सुधी नहिं, करें हर्ष या शोक अपार॥
अन्वयार्थ : जिस संसार में यह जीव, बारम्बार नाना प्रकार की जो दूसरी-दूसरी अवस्थाओं में नारकी-पशु-देव आदि नाना वेषों को धारण कर, नट के समान स्थित है; उस संसार में यदि संयोग, वियोग के साथ; जन्म, मरण के साथ; सम्पत्ति, विपत्ति के साथ और सुख, दुःख के साथ लगा हुआ है; तब विद्वानों को न तो किसी पदार्थ में शोक करना चाहिए, न हर्ष ही करना चाहिए ।

भवितव्यता : जो होना होता है, वैसा ही होता है

लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं, कल्याणमेवात्मनः;
कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती, तत्तत्र यद्रोचते ।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो, हित्वा विकल्पान् बहून्;
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा, सद्भिः सुखं स्थीयताम्॥53॥
मेरा हो कल्याण सदा यह नर चित् में नित करे विचार ।
किन्तु कार्य होता है जग में होनहार की रुचि अनुसार॥
अत: मोह से हुए अनेक विकल्पों का तुम करो शमन ।
राग-द्वेष विष छोड़ सदा बुध सुख-शैय्या में करें शयन॥
अन्वयार्थ : लोक में मनुष्य, सदा इस प्रकार का विचार करते रहते हैं कि सदा हमको कल्याण की प्राप्ति हो; किन्तु दैवयोग से भवितव्य के अनुसार जैसा होना होता है, वैसा ही होता है; अपना किया हुआ कुछ भी नहीं होता । इसलिए सज्जनों को चाहिए कि वे मोह के वश से फैले हुए जो 'सुख आदि की वांछारूप' नाना प्रकार के खोटे विकल्प, उनको नाश करके, राग-द्वेषरूपी विष से रहित होकर, अपने साम्यभावरूपी सुख में स्थित रहें, तभी उनको कल्याण की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा प्रकार से उनको कल्याण की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ।

हे भव्य जीवों! धर्म में ही अपनी बुद्धि को लगाओ!

(वसन्ततिलका)
लोका गृहप्रियतमासुतजीवितादि;
वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तम् ।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे;
धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः॥54॥

नारी-सुत-गृह-जीवनादि सब, पवन प्रताड़ित ध्वजा समान ।
अधिक कहें क्या मोह त्याग कर, धर्म करें सम्यक् मतिमान॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीवों! ये घर-स्त्री-पुत्र-जीवन आदि समस्त पदार्थ, पवन से ताड़ित ध्वजा के कपड़े के अग्र भाग के समान चंचल हैं । इसलिए अधिक कहाँ तक कहा जाए? धन-स्त्री-मित्र आदि में फैले हुए मोह को सर्वथा नाश कर, धर्म में ही अपनी बुद्धि को लगाओ ।

तृतीय अधिकार 'अनित्य पञ्चाशत्' का उपसंहार

पुत्रादिशोक-शिखि-शान्तिकरी यतीन्द्र!;
श्रीपद्मनन्दि-वदनाम्बुधरप्रसूतिः ।
सद्बोध-सस्य-जननी जयतादनित्य-;
पंचाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः॥55॥
(हरिगीतिका)
पद्मनन्दि यतीन्द्र श्रीमुख,-मेघ से झरती अहा ।
पुत्रादि इष्ट-वियोग-ज्वाला, को शमन करती सदा॥
सद्बोध-धान्योत्पन्न करती, जगत् में जयवन्त हो ।
अनित्य पञ्चाशत् सुजल,-वृष्टि सुधी के उर अहो॥

अन्वयार्थ : यतियों में उत्तम - ऐसे जो पद्मनन्दि नामक यति, उनका मुखरूपी जो मेघ, उससे पैदा हुई और श्रेष्ठ बोधरूपी धान्य को पैदा करने वाली तथा पुत्र आदि में फैली हुई शोकरूपी अग्नि को शान्त करने वाली - ऐसी यह 'अनित्य पंञ्चाशत्' रूपी जल की वृष्टि, सज्जनों के हृदय में सदा जयवन्त रहो ।

'एकत्व सप्तति' अधिकार का मङ्गलाचरण

(अनुष्टुभ्)
चिदानन्दैकसद्भावं, परमात्मानमव्ययम् ।
प्रणमामि सदा शान्तं, शान्तये सर्वकर्मणाम् ॥1॥
चैतन्य आनन्दमय सुशाश्वत, शान्त उस परमात्म को ।
कर्मक्षय के हेतु मैं, करता सदा वन्दन अहो !

अन्वयार्थ : चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप, अविनाशी और शान्त - ऐसे परमात्मा को सर्व कर्मों की शान्ति के लिए मैं नमस्कार करता हूँ ।

चैतन्यस्वरूप तेज मेरी रक्षा करे!

खादिपंचकनिर्मुक्तं, कर्माष्टकविवर्जितम् ।
चिदात्मकं परं ज्योति:, वन्दे देवेन्द्रपूजितम् ॥2॥
अष्ट कर्मों से रहित, नभ आदि से भी भिन्न है ।
देवेन्द्र वन्दित ज्योति चिन्मय, परम को मम नमन है॥

अन्वयार्थ : जो चैतन्यरूप तेज, पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश और काल से सर्वथा भिन्न है, ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित है और जिसकी बड़े-बड़े देव तथा इन्द्र आदि सदा पूजन करते हैं - ऐसा वह चैतन्यस्वरूप उत्कृष्ट तेज, मेरी रक्षा करे अर्थात् उस चैतन्यस्वरूप तेज को मस्तक झुका कर मैं नमस्कार करता हूँ ।

ज्ञानियों के द्वारा अनुभवगम्य चैतन्यस्वरूप आत्मा को नमस्कार!

यदव्यक्तमबोधानां, व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्ववस्तूनां, नमस्तस्यै चिदात्मने ॥3॥

सद्बोध चक्षु-गम्य जो, नहिं गम्य ज्ञान-विहीन को ।
सार है सब वस्तुओं में नमन उस चित् आत्म को॥

अन्वयार्थ : ज्ञानरहित अज्ञानी पुरुष, जिस चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते तथा अखण्ड ज्ञान के धारक ज्ञानी, जिसका सदा अनुभव करते हैं और समस्त पदार्थों में जो सारभूत हैं - ऐसे उस चैतन्यस्वरूप आत्मा को मैं मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ ।

निर्मल चैतन्यरूपी तेज प्रत्येक प्राणी के अन्दर विराजमान

चित्तत्त्वं तत्प्रतिप्राणि,-देह एव व्यवस्थितम् ।
तमश्छन्ना न जानन्ति, भ्रन्ति च बहिर्बहिः ॥4॥
चैतन्य-तत्त्व रहे सदा, सब प्राणियों के देह में ।
जानें न अज्ञानी उसे, वे भ्रमण करते बाह्य में॥

अन्वयार्थ : प्रत्येक प्राणी की देह में यह निर्मल चैतन्यरूपी तत्त्व विराजमान है तो भी जिन मनुष्यों की आत्माएँ अन्धकार से ढकी हुई हैं; वे इसको कुछ भी नहीं जानते तथा चैतन्य से भिन्न बाह्य पदार्थों में ही चैतन्य के भ्रम से भ्रान्त होते हैं ।

तीव्र मोहोदय का प्रभाव

भ्रन्तोऽपि सदा शास्त्र,-जाले महति केचन ।
न विन्दन्ति परं तत्त्वं, दारुणीव हुताशनम् ॥5॥
कुछ लोग शास्त्र पढ़ें बहुत, पर भ्रमण करते भ्रान्ति में ।
निजतत्त्व को जानें न ज्यों, नहिं अग्नि दिखती काष्ठ में॥

अन्वयार्थ : अनेक मनुष्य, अनेक शास्त्रों का निरन्तर स्वाध्याय भी करते हैं तो भी तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से भ्रान्त होकर, लकड़ी में जिस प्रकार अग्नि नहीं मालूम होती, उसी प्रकार वे चैतन्यस्वरूप आत्मा को अंशमात्र भी नहीं जानते ।

अज्ञानियों की प्रवृत्ति

केचित् केनाऽपि कारुण्यात्, कथ्यमानमपि स्फुट् ।
न मन्यन्ते न शृण्वन्ति, महामोहमलीमसा: ॥6॥
यदि कोई करुणाभाव से, कथनी करे शुद्धात्म की ।
किन्तु मोह-मलीन-जन, मानें नहीं सुनते नहीं॥

अन्वयार्थ : प्रबल मोहनीय कर्म से अज्ञानी हुए अनेक मनुष्य, उत्तम पुरुषों द्वारा करुणा करके बताये हुए आत्मतत्त्व को न तो मानते ही हैं तथा न सुनते ही हैं ।

वस्तु का अनेकान्त (अनेक धर्मात्मक) स्वरूप

भूरिधर्मात्मकं तत्त्वं, दुःश्रुतेर्मन्दबुद्धयः ।
जात्यन्धहस्तिरूपेण, ज्ञात्वा नश्यन्ति केचन ॥7॥
अनन्त धर्म-स्वरूप वस्तु, मूढ़-जन नहिं जानते ।
वे नष्ट हों एकान्त से, जन्मान्ध ज्यों हाथी लखें॥

अन्वयार्थ : यद्यपि वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है तो भी अनेक जड़-बुद्धि जन्मान्ध मनुष्य, जिस प्रकार हाथी के एक-एक भाग को ही हाथी समझ लेते हैं और नष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार वे भी एकान्तस्वरूप को ही मान कर नष्ट होते हैं ।

थोड़ा-सा ज्ञान, अहंकार का कारण

केचित्किञ्चित्परिज्ञाय, कुतश्चिद्गर्विताशयाः ।

जगन्मन्दं प्रपश्यन्तो, नाश्रयन्ति मनीषिणः ॥8॥
कोई किञ्चित् ज्ञान कर, विद्वान निज को मानते ।
मूर्ख समझें अन्य को, सत्संग से वंचित रहें॥
अन्वयार्थ : अनेक मनुष्य, कहीं से कुछ थोड़ी-सी बात जान कर, अपने को विद्वान् मान लेते हैं तथा अपने सामने जगत् के सब विद्वानों को मूर्ख समझते हैं, अतएव अहंकार के कारण वे सच्चे विद्वानों की संगति भी नहीं चाहते ।

धर्म के क्षेत्र में परीक्षाप्रधानी होना ही श्रेयस्कर

जन्तु ुद्धरते धर्मः, पतन्तं दुःखसंकटे ।
अन्यथा स कृतो भ्रान्त्या, लोकैर्ग्राह्य: परीक्षित: ॥9॥
दुख-संकटों में फँसे जन को, तारता है धर्म ही ।
मिथ्या कहे जग धर्म को, करना परीक्षा धर्म की॥
अन्वयार्थ : संसार-संकट में फँसे हुए प्राणियों का उद्धार करने वाला धर्म ही है, किन्तु स्वार्थी दुष्टों ने उसको विपरीत कर दिया है अर्थात् उनका माना हुआ धर्म का स्वरूप, संसार में केवल डुबाने वाला ही है । इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे भलीभाँति परीक्षा कर, धर्म को ग्रहण करें ।

वक्ता की प्रामाणिकता से ही उसके वचनों में प्रामाणिकता

सर्वविद्वीतरागोक्तो, धर्मः सूनृततां व्रजेत् ।
प्रामाण्यतो यतः पुंसो, वाचः प्रामाण्यमिष्यते ॥10॥
वीतरागी सर्वविद् का, कहा धर्म प्रमाण है ।
पुरुष के प्रामाण्य से ही, वचन प्रामाणिक कहें॥
अन्वयार्थ : समस्त लोकालोक के पदार्थों को जानने वाले तथा वीतरागी मनुष्य का कहा हुआ धर्म ही प्रामाणिक होता है क्योंकि मनुष्य के प्रामाण्य से ही उसके वचनों में प्रामाणिकता समझी जाती है; इसलिए जब वीतरागी तथा सर्वज्ञ प्रामाणिक पुरुष हैं, तब उनका कहा हुआ धर्म ही प्रामाणिक है - ऐसा समझना चाहिए ।

पर से जुदा चैतन्य का ज्ञान और अनुभव करने की प्रेरणा

बहिर्विषयसम्बन्धः, सर्वः सर्वस्य सर्वदा ।
अतस्तद्भिन्नचैतन्य,-बोधयोगौ तु दुर्लभो ॥11॥
बाह्य विषयों का समागम, सदा ही सबको रहे ।
किन्तु उनसे भिन्न आतम,-ज्ञान तो दुर्लभ अरे !
अन्वयार्थ : अनेक बाह्य विषयों का सम्बन्ध तो सब जीवों के साथ सदाकाल ही रहता है, किन्तु बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से जुदा जो ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य का ज्ञान तथा सम्बन्ध है, वह अत्यन्त दुर्लभ है ।

पाँच लब्धियों की विशेषता ही निकट भव्य की पहचान

लब्धिपञ्चकसामग्री,-विशेषात्पात्रतां गतः ।
भव्य: सम्यग्दृगादीनां, यः स मुक्तिपथे स्थितः ॥12॥
पञ्च लब्धि विशेषता से, पात्रता को प्राप्त जो ।
वह भव्य सम्यग्दर्शनादिक, से गहे शिव-पथ अहो !
अन्वयार्थ : जिसको सिद्धि होने वाली है - ऐसा जो भव्य, वह (1) देशनालब्धि, (2) प्रायोग्यलब्धि, (3) विशुद्धिलब्धि, (4) क्षयोपशमलब्धि तथा (5) करणलब्धि - इस प्रकार पाँच लब्धिस्वरूप सामग्री के विशेष से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी

रत्नत्रय का पात्र बनता है अर्थात् रत्नत्रय को धारण करता है; वही मोक्षमार्ग में स्थित है - ऐसा समझना चाहिए ।

रत्नत्रय प्रयत्न ही कर्तव्य

सम्यग्दृग्बोधचारित्र,-त्रितयं मुक्तिकारणम् ।
मुक्तावेव सुखं तेन, तत्र यत्नो विधीयताम् ॥13॥
सम्यक् सुदर्शन-ज्ञान-चारितमय कहा शिवपथ अहो ।
मुक्ति में ही सुख अहो!, शिव प्राप्ति का पौरुष करो॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इन तीनों का समुदाय अर्थात् एकता ही मुक्ति का कारण है और वास्तविक सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही है; इसलिए भव्य जीवों को उसी के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप

दर्शनं निश्चयः पुंसि, बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्र,-मिति योगः शिवाश्रयः ॥14॥
निज आत्म का निश्चय सुदर्शन, ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
थिरता उसी में चरित इनकी, एकता शिवमार्ग है॥

अन्वयार्थ : आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में निश्चल रीति से रहना सम्यक्चारित्र है - इन तीनों की एकता ही मोक्ष का कारण है ।

आत्मा की अखण्डता

एकमेव हि चैतन्यं, शुद्धनिश्चयतोऽथवा ।
कोऽवकाशो विकल्पानां, तत्राऽखण्डैकवस्तुनि ॥15 ।
चैतन्य ही शिवपन्थ है, वह शुद्धनय से एक है ।
एक वस्तु में नहीं कुछ, भेद का अवकाश है॥

अन्वयार्थ : शुद्धनिश्चयनय से एक चैतन्य ही मोक्ष का मार्ग है क्योंकि आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है; इसलिए उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि भेदों का अवकाश ही नहीं है अर्थात् एक अखण्ड आत्मा के सम्यग्दर्शन आदि टुकड़े नहीं हो सकते ।

प्रमाण-नय-निक्षेप से पार शुद्धात्मा

प्रमाणनयनिक्षेपा, अर्वाचीने पदे स्थिताः ।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासते ॥16॥
व्यवहार में ही भेद, नय-निक्षेप और प्रमाण का ।
शुद्धनय से एक केवल, चिदातम ही भासता॥

अन्वयार्थ : जब तक आत्मा शुद्धात्मा नहीं हुआ है, तभी तक इसमें प्रमाण-नय-निक्षेप भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हंै, किन्तु जिस समय यह आत्मा शुद्धात्मा हो जाता है, उस समय इसमें केवल एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही प्रतिभासता है ।

व्यवहारनय से प्रमाण-नय-निक्षेप के भेद

निश्चयैकदृशा नित्यं, तदेवेकं चिदात्मकम् ।
प्रपश्यामि गतभ्रान्तिः, व्यवहारदृशा परम् ॥17॥
यह आत्मा है नित्य चेतन एक निश्चय दृष्टि से ।
अनुभव करूँ निर्भ्रान्त हो, हैं भेद नय-व्यवहार से॥

अन्वयार्थ : शुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा एक नित्य और चैतन्यस्वरूप है - ऐसा मैं अनुभव करने वाला अनुभव करता हूँ, किन्तु व्यवहारनय से प्रमाण-नय-निक्षेप स्वरूप में भी इस आत्मा को भलीभाँति देखता हूँ ।

अर्हन्त, जगन्नाथ, प्रभु तथा ईश्वर कहलाने का अधिकारी कौन?

अजमेकं परं शान्तं, सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा, तिष्ठेदात्मनि यः स्थिर: ॥
स एवाऽमृतमार्गस्थ:, स एवाऽमृतमश्नुते ।
स एवाऽर्हन् जगन्नाथ:, स एव प्रभुरीश्वर: ॥19॥
स एवाऽमृतमार्गस्थ:, स एवाऽमृतमश्नुते ।
स एवाऽर्हन् जगन्नाथ:, स एव प्रभुरीश्वर: ॥19॥
एक शान्त तथा अजन्मा, सर्व कर्म-विहीन जो ।
जान कर निज को स्वयं से, उसी में जो लीन हो॥
वही है शिव-पन्थ में, पाता वही है मुक्ति को ।
वही त्रिभुवननाथ अर्हन्, वही प्रभु ईश्वर अहो !

अन्वयार्थ : जो पुरुष जन्मरहित एक शान्तिस्वरूप और समस्त कर्मों से रहित अपने को अपने से जान कर, अपने में ही निश्चल रीति से ठहरता है; वही पुरुष, मोक्ष को जाने वाला है; वही मनुष्य, मोक्षसुख को प्राप्त होता है; वही, अर्हन्त जगन्नाथ प्रभु तथा ईश्वर कहलाता है । इसलिए भव्य जीवों को अपनी आत्मा में अवश्य निश्चल रीति से ठहरना चाहिए ।

उत्कृष्ट आत्मस्वरूप तेज को जानने वाला ही कृतकृत्य

केवलज्ञानदृक्सौख्य,-स्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं, दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥20॥
ज्ञान-दर्शन-सौख्य केवल तेजमय यह आत्मा ।
जो उसे जाने सुने देखे, क्या नहीं जाना सुना ?

अन्वयार्थ : जो उत्कृष्ट आत्मस्वरूप तेज है, वह केवलज्ञान और अनन्तसुखस्वरूप ही है । इसलिए जिसने इस तेज को जान लिया, उसने सबकुछ जान लिया; जिसने इस तेज को देख लिया, उसने सबकुछ देख लिया; जिसने इस तेज को सुन लिया, उसने सबकुछ सुन लिया - ऐसा समझना चाहिए ।

वास्तव में एक चैतन्यस्वरूप ही जानने योग्य

इति ज्ञेयं तदेवैकं, श्रवणीयं तदेव हि ।
द्रष्टव्यं च तदेवैकं, नाऽन्यन्निश्चयतो बुधैः ॥21॥
यह एक ही है ज्ञेय एवं, यही सुनने योग्य है ।
देखने लायक यही है, अन्य कुछ नहिं ज्ञानी को॥

अन्वयार्थ : भव्य जीवों को निश्चय से एक चैतन्यस्वरूप ही जानने योग्य है, वही एक सुनने योग्य है और वही देखने योग्य है; किन्तु उससे भिन्न कोई भी वस्तु न तो जानने योग्य है, न सुनने योग्य है और न देखने योग्य है - ऐसा समझना चाहिए ।

योगीश्वरों को कृतकृत्य होने में कारण

गुरुपदेशतोऽभ्यासात्, वैराग्यादुपलभ्य यत् ।
कृतकृत्यो भवेद्योगी, तदेवैकं न चाऽपरम् ॥22॥
गुरु-वचन से श्रुत-पठन से वैराग्य से पाकर जिसे ।

कृतकृत्य होते योगिजन वह एक है नहिं अन्य है॥

अन्वयार्थ : गुरु के उपदेश, शास्त्र के अभ्यास और वैराग्य के निमित्त से जिसे पाकर योगीश्वर कृतकृत्य हो जाते हैं; वह ही एक चैतन्यस्वरूप तेज है, अन्य कोई नहीं ।

जिसने प्रसन्न-चित्त से चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी....

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्ताऽपि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद्भव्यो, भाविनिर्वाणभाजनम् ॥23॥
इस आत्मा की बात को भी प्रीति से जिसने सुना ।
वह भव्य है निश्चित अहो! अतिशीघ्र मुक्ति पाएगा॥

अन्वयार्थ : जिस मनुष्य ने प्रसन्नचित्त से चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है; वह भव्य पुरुष, निकट भविष्य में मुक्ति का निश्चय से पात्र होता है अर्थात् वह नियम से मोक्ष जाता है ।

इसलिए मोक्षाभिलाषियों को अवश्य चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए ।

परमब्रह्म को जानने वाला स्वयं परमब्रह्मस्वरूप
जानीते यः परं बह्म, कर्मण: पृथगेकताम् ।
गतं तद्गतबोधाऽत्मा, तत्स्वरूपं स गच्छति ॥24॥
जो जानता निष्कर्म एवं एक निज परमात्म को ।
परमात्मा होता स्वयं वह, प्राप्त करके बोध को॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, शुद्धात्मा में लीन होकर कर्मों से भिन्न और एकत्वस्वरूप - ऐसे उस परमब्रह्म परमात्मा को जानता है; वह पुरुष, स्वयं परमब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है ।

इसलिए भव्य जीवों को परमात्मा का अवश्य ध्यान करना चाहिए ।

परपदार्थों से ममत्व छोड़ना अनिवार्य
केनाऽपि हि परेण स्यात्, सम्बन्धो बन्धकारणम् ।
परैकत्वपदे शान्ते, मुक्तये स्थितिरात्मन: ॥25॥
किसी भी परद्रव्य के, सम्बन्ध से हो बन्ध ही ।
एकत्व शान्त निजात्मा में, लीनता मुक्ति कही॥

अन्वयार्थ : अन्य पदार्थों के साथ जो आत्मा का सम्बन्ध होता है, उससे केवल बन्ध ही होता है तथा उसी आत्मा का जो उत्कृष्ट शान्त और एकतारूप निजपद में ठहरना है, उससे मोक्ष होता है; इसलिए मोक्षाभिलाषियों को परपदार्थों से ममत्व छोड़ कर, स्व-स्वरूप में ही लीन होना चाहिए ।

कर्मों का सम्बन्ध छूटने पर आत्मा का शान्तस्वरूप प्रगट

विकल्पोर्मिभरत्यक्त:, शान्तः कैवल्यमाश्रितः ।
कर्माऽभावे भवेदात्मा, वार्ताऽभावे समुद्रवत् ॥26॥
यह आत्मा हो शान्त, केवलज्ञानमय क्षय-कर्म से ।
पवन विरहित उदधिसम यह, विकल्पों से शून्य हो॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार पवन के थम जाने पर समुद्र, लहरों रहित, क्षोभ रहित तथा शान्त हो जाता है; उसी प्रकार जब इस आत्मा से सर्वथा कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है, तब यह आत्मा भी समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित व केवलज्ञान सहित, शान्त हो जाता है ।

'मैं मुक्तस्वरूप हूँ' - ऐसी मेरी निश्चित मति

संयोगेन यदायातं, मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन, मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥27॥
संयोग से उत्पन्न जो वे, सभी मुझसे भिन्न हैं ।
इसलिए उन वस्तुओं के, त्याग से मैं भिन्न हूँ॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि चिन्तवन करता रहता है कि जो वस्तुएँ, संयोग से उत्पन्न हुई हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं तथा मुझे इस बात का परिज्ञान है कि उन संयोग से पैदा हुई समस्त वस्तुओं के त्याग से मैं मुक्त हूँ । मेरी आत्मा में किसी प्रकार के कर्म का सम्बन्ध नहीं है ।

राग-द्वेष का त्याग ही महामन्त्र

किं मे करिष्यतः क्रूरौ, शुभाऽशुभनिशाचरौ ।
रागद्वेषपरित्याग,-महामन्त्रेण कीलितौ ॥28॥
क्रूर जो शुभ-अशुभ राक्षस, क्या हमारा कर सकें? ।
वीतरागी मन्त्र से, उनको किया कीलित अरे !

अन्वयार्थ : राग-द्वेष के परित्यागरूपी प्रबल मन्त्र से कीलित तथा क्रूर - ऐसे शुभ तथा अशुभ कर्मरूप राक्षस मेरा क्या करेंगे? अर्थात् वे मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ।

राग-द्वेष के प्रसंग में भी राग-द्वेष का त्याग आवश्यक

सम्बन्धेऽपि सति त्याज्यौ, रागद्वेषौ महात्मभिः ।
विना तेनाऽपि ये कुर्यु:, ते कुर्युः किं न वातुलाः ॥29॥
पर-संग हो तो भी तजें बुध, राग-द्वेष विकार को ।
पर-संग बिन भी हों विकारी, क्या अनिष्ट नहीं करें ?

अन्वयार्थ : सज्जनों को चाहिए कि राग-द्वेष के प्रसंग होने पर भी वे राग-द्वेष का त्याग करें; किन्तु जो प्रसंग के न होने पर भी राग-द्वेष करते हैं, वे मनुष्य, समस्त अनिष्टों को पैदा करते हैं ।

मुमुक्षुओं को मन-वचन-काय से भिन्न आत्मा ही उपासनीय

मनोवाक्कायचेष्टाभि:, तद्विधं कर्म जृम्भते ।
उपास्यते तदेवैकं, तेभ्यो भिन्नं मुमुक्षुभिः ॥30॥
मन-वचन-तन चेष्टानुसार, बँधें करम इस जीव को ।
अत: इनसे भिन्न आत्मा, ही उपास्य मुमुक्षु को॥

अन्वयार्थ : मन-वचन-काय की चेष्टानुसार उस प्रकार के कर्म, वृद्धि को प्राप्त होते हैं; इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य पुरुष, मन-वचन-काय से भिन्न एक चैतन्यमात्र आत्मा की ही उपासना करते हैं ।

द्वैत से द्वैत और अद्वैत से अद्वैत की उत्पत्ति

द्वैततो द्वैतमद्वैताद्वैतं खलु जायते ।
लोहाल्लोहमयं पात्रं, हेम्नो हेमयं यथा ॥31॥
द्वैत से हो द्वैत अरु, अद्वैत से अद्वैत हो ।
लौह से हो लौह पात्र, सुवर्ण पात्र सुवर्ण से॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार लोहे से लोहमयी तथा सुवर्ण से सुवर्णयी पात्र की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार निश्चय से द्वैत से द्वैत ही होता है

तथा अद्वैत से अद्वैत ही होता है ।

द्वैत ही संसार और अद्वैत ही मोक्ष

निश्चयेन तदेकत्व,-मद्वैतममृतं परम् ।

द्वितीयेन कृतं द्वैतं, संसृतिर्व्यवहारतः ॥32॥

एकत्वमय अद्वैत ही है, मोक्ष निश्चय से अहो !

कर्मकृत जो द्वैत वह, संसार है व्यवहार से॥

अन्वयार्थ : निश्चयनय से तो एकतारूप जो अद्वैत है, वही मोक्ष है और व्यवहारनय से कर्मों के द्वारा किया हुआ जो द्वैत है, वह संसार है ।

द्वैत के आश्रित बुद्धि ही असिद्धि का कारण

बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ, कर्मात्मनौ शुभाशुभौ ।

इति द्वैताश्रिता बुद्धि,-रसिद्धिरभिधीयते ॥33॥

शुभ-अशुभ राग-द्वेष बन्धन-मुक्ति आत्मा-कर्म के ।

द्वैत-आश्रित बुद्धि से, नहिं सिद्धि होती इष्ट की॥

अन्वयार्थ : बन्ध-मोक्ष, राग-द्वेष, कर्म-आत्मा, शुभ-अशुभ - इस प्रकार द्वैत से सहित जो बुद्धि है, वह असिद्धि है अर्थात् निजानन्द शुद्ध अद्वैतस्वरूप को रोकने वाली है ।

आत्मा से भिन्न उदय, उदीरणा, सत्ता आदि कर्मों की रचना

उदयोदीरणा सत्ता, प्रबन्धः खलु कर्मणः ।

बोधाऽत्मधाम सर्वेभ्यः, तदेवैकं परं परम् ॥34॥

कर्मकृत है बन्ध सत्ता, उदय और उदीरणा ।

किन्तु इनसे भिन्न है, उत्कृष्ट चेतन आत्मा॥

अन्वयार्थ : उदय, उदीरणा, बन्ध, सत्ता इत्यादि समस्त कर्मों की ही रचना है, किन्तुआत्मा समस्त रचना से भिन्न है, उत्कृष्ट है तथा केवलज्ञान का धारी है ।

मेघों के आकारों से अविकृत आकाश के समान कर्मों से अविकृत आत्मा

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि, निर्विकारं परं महः ।

विकारकारिभिर्मेघैः, न विकारि नभो भवेत् ॥35॥

क्रोधादि कर्म-संयोग में भी, निर्विकारी आत्मा ।

विकारकारक मेघ हों पर, निर्विकारी नभ सदा॥

अन्वयार्थ : काले-पीले-नीले घोड़े के आकार, हाथी के आकार इत्यादि अनेक विकार सहित बादलों से जिस प्रकार अमूर्तिक आकाश वि�कृत नहीं होता; उसी प्रकार यद्यपि आत्मा के साथ क्रोधादि कर्मों का सम्बन्ध है तो भी आत्मा विकार रहित ही है ।

जन्म-मरण आदि शरीर के धर्म, आत्मा के नहीं

नामाऽपि हि परं तस्मान्निश्चयात्तदनामकम् ।

जन्ममृत्यादि चाशेषं, वपुर्धर्रं विदुर्बुधाः ॥36॥

आत्मा इस नाम से भी आत्मा तो भिन्न है ।

जन्म-मरणादिक सभी तन-धर्म है यह बुध कहें॥

अन्वयार्थ : निश्चयनय से आत्मा का कोई नाम नहीं है, वह नाम रहित ही है और जो ये जन्म-मरण आदि धर्म हैं, वे शरीर के ही धर्म हैं -

ऐसा बड़े-बड़े विद्वान् कहते हैं ।

आत्मा, ज्ञान से सहित नहीं, बल्कि आत्मा और ज्ञान, एक ही पदार्थ

बोधेनाऽपि युतिस्तस्य, चैतन्यस्य तु कल्पना ।
सच तच्च तयोरैक्यं, निश्चयेन विभाव्यते ॥37॥
आत्मा है ज्ञानयुत यह, कल्पना चैतन्य में ।
क्योंकि निश्चय गम्य है कि, आत्मा ही ज्ञान है॥
अन्वयार्थ : आत्मा, ज्ञान से सहित है - यह भी चैतन्यस्वरूप आत्मा में कल्पना ही है क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा और ज्ञान एक ही पदार्थ है - ऐसा अनुभवगोचर है ।

भव्य जीवों को परम शरण कौन?

क्रियाकारकसम्बन्ध,-प्रबन्धोज्झितमूर्ति यत् ।
एवं ज्योतिस्तदेवैकं, शरण्यं मोक्षकांक्षिणाम् ॥38॥
कारक-क्रिया सम्बन्ध से भी, भिन्न चेतन तेज है ।
मोक्षाभिलाषी भव्य को यह, आत्मा ही शरण है॥
अन्वयार्थ : जो चैतन्यरूपी तेज, क्रिया और कारक के सम्बन्ध की रचना से रहित है, वही एक मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को परम शरण है ।

शुद्धात्मा से भिन्न कोई दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप नहीं

तदेकं परमं ज्ञानं, तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात्, तदेकं निर्मलं तपः ॥39॥
यह आत्मा ही ज्ञान है यह, एक ही दर्शन अहा !
चारित्र भी यह आत्मा, तप एक यह निर्मल कहा॥
अन्वयार्थ : चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा ही तो ज्ञान है, वही दर्शन है, वही चारित्र है और वही तप है; किन्तु उस शुद्धात्मा से भिन्न न कोई ज्ञान है, न कोई दर्शन है, न कोई चारित्र है और न कोई तप ही है । इसलिए भव्य जीवों को आत्मा का ही ज्ञान, श्रद्धान, आचरण आदि करना चाहिए ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा ही नमस्कार करने योग्य

नमस्यं च तदेवैकं, तदेवैकं च मङ्गलम् ।
उत्तमं च तदेवैकं, तदेव शरणं सताम् ॥40॥
वन्दना के योग्य है यह, एक ही मंगल अहो !
वह एक ही उत्तम अत:, बुध शरण इसकी ही गहो॥
अन्वयार्थ : वह एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही नमस्कार करने योग्य है, वही मंगलस्वरूप है, वही सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है तथा वही भव्य जीवों को शरण है ।

अप्रमत्त योगियों को चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही सर्वस्व

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यक-क्रिया ।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः ॥41॥
यह आत्मा ही आचरण, यह एक आवश्यक क्रिया ।

स्वाध्याय है यह एक ही, अप्रमत्त योगीश्वरों का॥

अन्वयार्थ : प्रमाद रहित योगीश्वरों को जो चिदानन्दस्वरूप आत्मा का ध्यान है, वही आचार है, वही आवश्यक क्रिया है, वही स्वाध्याय है, किन्तु उससे भिन्न आचार आदि कोई वस्तु नहीं है ।

चौरासी लाख उत्तरगुणों का धारी कौन?

गुणाःशीलानि सर्वाणि, धर्मश्चाऽत्यन्तनिर्मलः ।
सम्भाव्यन्ते परं ज्योतिः, तदेकमनुतिष्ठतः ॥42॥
गुण शील एवं धर्म निर्मल, की उसे सम्भावना ।
उत्कृष्ट चेतन ज्योति में ही, लीन रहता जो सदा॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष, उस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने वाला है, वही पुरुष चौरासी लाख उत्तर गुणों का धारी है, वही अठारह हजार शील व्रतों का धारी है और उसी पुरुष के निर्मल धर्म है - ऐसा निश्चय है ।

संसार का सबसे मनोहर और उत्कृष्ट पदार्थ है चैतन्यस्वरूप आत्मा

तदेवैकं परं रत्नं, सर्वशास्त्रमहोदधेः ।
रमणीयेषु सर्वेषु, तदेकं पुरतः स्थितम् ॥43॥
यह एक सर्वोत्तम रतन है, सर्व शास्त्र-समुद्र का ।
रमणीय सर्व पदार्थ में यह, एक आत्मा ही कहा॥

अन्वयार्थ : समस्त शास्त्ररूपी विस्तीर्ण समुद्र का उत्कृष्ट रत्न, यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है अर्थात् इसी रत्न की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है । संसार में जितने भी मनोहर पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों में सबसे मनोहर तथा उत्कृष्ट पदार्थ चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है; इसलिये भव्य जीवों को इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अच्छी तरह से ध्यान करना चाहिए ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक उत्तम तत्त्व

तदेवैकं परं तत्त्वं, तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याऽराध्यं तदेवैकं, तदेवैकं परं महः ॥44॥
यह आत्मा ही तत्त्व उत्तम, यही उत्तम पद अहो !
आराध्य भव्यों के लिए यह, एक उत्तम तेज है॥

अन्वयार्थ : वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक उत्तम तत्त्व है, वही एक उत्कृष्ट स्थान है, वही एक भव्य जीवों के आराधन करने योग्य है तथा वही एक अद्वितीय उत्तम तेज है ।

ध्यानयुक्त योगियों का प्रयोजन

शस्त्रं जन्मतरुच्छेदि, तदेवैकं सतां मतम् ।
योगिनां योगनिष्ठानां, तदेवैकं प्रयोजनम् ॥45॥
जन्म-तरु-छेदक यही है, एक बुधजन मानते ।
यह है प्रयोजन योगियों का, योग में जो निष्ठ है॥

अन्वयार्थ : वह चैतन्यस्वरूपी आत्मा ही जन्मरूपी वृक्ष का नाश करने के लिए शस्त्र के समान है अर्थात् चैतन्यस्वरूपी आत्मा का भलीभाँति ध्यान करने से सर्व जन्म-मरण आदि दोष नष्ट हो जाते हैं; वह आत्मारूपी तेज ही भव्य जीवों को मान्य है और वही ध्यानयुक्त योगियों का प्रयोजन है अर्थात् उसी की प्राप्ति के लिए योगीगण सदा प्रयत्न करते रहते हैं ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग

मुमुक्षुणां तदेवैकं, मुक्ते: पन्था न चाऽपरः ।
आनन्दोऽपि न चान्यत्र, तद्विहाय विभाव्यते ॥46॥
मोक्षाभिलाषी के लिए यह, एक ही शिवपन्थ है ।
आनन्दमय भी है वही, अन्यत्र भासित हो नहीं॥
अन्वयार्थ : मोक्षाभिलाषियों के लिए चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है । आत्मा से अन्य कोई भी मोक्षमार्ग नहीं है । आनन्द भी आत्मा में ही है, किन्तु उसके सिवाय और कहीं पर भी आनन्द प्रतीत नहीं होता । इसलिए भव्य जीवों को इसी का ध्यान करना चाहिए ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा ही शीतल गृह

संसारघोरघर्मेण, सदा तप्तस्य देहिनः ।
यन्त्रधारागृहं शान्तं, तदेव हिमशीतलम् ॥47॥
संसाररूपी धूप में, सन्तप्त प्राणी के लिए ।
शान्त शीतल हिम समान, फुहारयुत यह सदन है॥
अन्वयार्थ : संसाररूपी प्रबल सन्ताप से सदाकाल सन्तप्त प्राणियों को वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही शान्त तथा बर्फ के समान शीतल फव्वारे सहित मकान है अर्थात् जिस प्रकार धूप से सन्तप्त मनुष्यों को फव्वारे सहित शीतल मकान में आराम मिलता है; उसी प्रकार संसार के सन्ताप से खिन्न जीवों को इस शान्त आत्मा में लीन होने से ही आराम मिलता है । इसलिए भव्य जीवों को सदा चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करना चाहिए ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा का उत्कृष्ट बल

तदेवैकं परं दुर्गम,-गम्यं कर्मविद्विषाम् ।
तदेवैतत्तिरस्कार,-कारि सारं निजं बलम् ॥48॥
कर्म-शत्रु के लिए यह, एक है दुर्गम किला ।
आत्मा ही सैन्यबल है, तिरस्कारी कर्म का॥
अन्वयार्थ : वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक ऐसा किला है कि जिसमें कर्मरूपी वैरी कदापि प्रवेश नहीं कर सकते तथा उन कर्मरूपी शत्रुओं का अपमान करने वाला वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक उत्कृष्ट बल (सैन्य बल) है ।

जन्म-जरा आदि नाश करने वाली परम औषधि

तदेव महती विद्या, स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि ।
औषधं तदपि श्रेष्ठं, जन्मव्याधिविनाशनम् ॥49॥
यह आत्मा ही प्रबल विद्या, यही मन्त्र प्रकाशमय ।
श्रेष्ठ औषधि है यही जो, नष्ट करती जन्म भय॥
अन्वयार्थ : वह चैतन्यस्वरूप तेज ही प्रबल विद्या है, वही स्फुरायमान मन्त्र है और समस्त जन्म-जरा आदि को नाश करने वाली, वही एक परम औषधि है ।

शुद्धात्मा के चिन्तवन का फल

अक्षयस्याऽक्षयाऽऽनन्द,-महाफलभरश्रिय: ।
तदेवैकं परं बीजं, निःश्रेयसलसत्तरो ॥50॥
यह बीज है जिससे मनोहर, वृक्ष की उत्पत्ति हो ।
जिसमें फलें भरपूर आनन्दरूप शाश्वत फल अहो !
अन्वयार्थ : उस शुद्धात्मारूपी तेज से ही अविनाशी तथा अक्षय सुखरूपी उत्तम फल को देने वाले मोक्षरूपी मनोहर वृक्ष की उत्पत्ति होती

है क्योंकि वही उसका उत्कृष्ट बीजभूत है ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा ही तीन लोक का राजा

तदेवैकं परं विद्धि, त्रैलोक्यगृहनायकम् ।
येनैकेन विना शंके, वसदप्येतदुद्वनम् ॥51॥
यह एक ही त्रिभुवन सदन का, श्रेष्ठ नायक जानिए ।
इसके बिना यह सदन भी, वनवास जैसा मानिए॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीवों! तीन लोकरूपी घर का स्वामी, उस चैतन्यस्वरूप तेज को ही तुम समझो क्योंकि मैं ऐसी शंका करता हूँ कि उस एक चैतन्यस्वरूप तेज के बिना यह तीन लोकरूपी घर भी वन के समान है ।

शुद्ध चिद्रूप की कल्पनाओं से भी रहित शुद्धात्मा

शुद्धं यदेव चैतन्यं, तदेवाऽहं न संशय: ।
कल्पनयाऽनयाप्येतद्धीनमाऽऽनन्दमन्दिरम् ॥52॥
जो शुद्ध चेतन है वही मैं, नहीं संशय है कहीं ।
'आनन्दमय हूँ मैं' अरे! यह कल्पना भी मैं नहीं॥

अन्वयार्थ : 'जो निराकार निरंजन शुद्ध चिद्रूप है सो मैं ही हूँ,' इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है । परन्तु इस प्रकार की कल्पना से भी वह आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा रहित है ।

मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष-प्राप्ति में बाधक

स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था, तन्निषेधाय जायते ।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ताः, स्पृहयन्ति मुमुक्षव: ॥53॥
मोह से हो मोक्ष-इच्छा, मुक्ति में बाधक अरे !
तो मुक्तिकामी शान्त नर, किस वस्तु की इच्छा करें ?

अन्वयार्थ : मोह के होने पर ही इच्छा होती है । इसलिए यदि मोक्ष के विषय में भी मोह से उत्पन्न हुई इच्छा हो जाए तो वह भी मोक्ष को रोकने वाली हो जाती है; इसलिए शान्त मोक्षाभिलाषी मनुष्य, अन्य पदार्थों की कैसे इच्छा कर सकते हैं?

मेरा प्रबल मन्तव्य - मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूँ!

अहं चैतन्यमेवैकं, नाऽन्यत्किमपि जातुचित् ।
सम्बन्धोऽपि केनापि, दृढपक्षो ममेदृशः ॥54॥
चैतन्य ही मैं एक हूँ, नहिं भिन्न मैं इससे कहीं ।
पर से नहीं सम्बन्ध कुछ, मन्तव्य दृढ़ मेरा यही॥

अन्वयार्थ : मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूँ, चैतन्य से भिन्न नहीं हूँ और निश्चय से किसी दूसरे पदार्थ के साथ मेरा सम्बन्ध भी नहीं है - यह मेरा प्रबल मन्तव्य है ।

ज्ञानीजनों की परिणति

शरीरादिबहिश्चिन्ता, -चक्रसम्पर्कवर्जितम् ।
विशुद्धाऽत्मस्थितं चित्तं, कुर्वन्नास्ते निरन्तरम् ॥55॥
देहादि बाह्य पदार्थ की, चिन्ता नहीं बुधजन करें ।
निर्मल निजातम में सदा, निज-चित्त को स्थिर करें॥

अन्वयार्थ : ज्ञानीजन, बाह्य शरीरादि पदार्थों की चिन्ता छोड़ कर, राग-द्वेष आदि मलों से रहित निर्मल अपनी आत्मा में ही चित्त को लगाते हैं ।

ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को सम्बोधन

एवं सति यदेवाऽस्ति, तदस्तु किमिहाऽपरैः ।
आसाद्यात्मन्निदं तत्त्वं, शान्तो भव सुखी भव ॥56॥
इसलिए जो है वही है, क्या प्रयोजन अन्य से ।
इस आत्मा को प्राप्त कर, तुम शान्त हो अरु सुखी हो॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से आत्मा का चिन्तवन करने से जो होता है सो होवे, अन्य दूसरे-दूसरे विचारों से क्या प्रयोजन है? इस प्रकार वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होकर हे आत्मन्! तू शान्त तथा सुखी हो । इस प्रकार ज्ञान, अपनी आत्मा को शिक्षा देता रहता है ।

अनन्त संसार-परिभ्रमण को शान्त करने की विधि

अपारजन्मसन्तान, - पथभ्रान्तिकृतश्रमम् ।
तत्त्वाऽमृतमिदं पीत्वा, नाशयन्तु मनीषिणः ॥57॥
जन्म-सन्तति-पन्थ में जो, श्रम हुआ है भ्रमण से ।
यह तत्त्व-अमृत-पान कर, ज्ञानी विनष्ट करें उसे॥

अन्वयार्थ : हे भव्य पुरुषों! इस कहे हुए चैतन्यामृत का पान करो तथा तुम्हें इस अपार संसार में अनन्त तिर्यंच-नरक आदि पर्यायों में भ्रमण करने से जो खेद हुआ है, उसको शान्त करो ।

अतिसूक्ष्ममतिस्थूल,-मेकं चाऽनेकमेव यत् ।
स्वसंवेद्यमवेद्यं च, यदक्षरमनक्षरम् ॥
अनौपम्यमनिर्देश्य - मप्रमेयमनाकुलम् ।
शून्यं पूर्णं च यन्नित्य,-मनित्यं च प्रचक्ष्यते ॥
निःशरीरं निरालम्बं, निःशब्दं निरुपाधि यत् ।
चिदात्मकं परंज्योति,-रवाङ्नसगोचरम् ॥
इत्यत्र गहनेऽत्यन्त,-दुर्लक्ष्ये परमात्मनि ।
उच्यते यत्तदाकाशं, प्रत्यालेख्यं विलिख्यते ॥61॥
अति सूक्ष्म भी स्थूल अति यह, एक और अनेक भी ।
अक्षर-अनक्षर है कहा, स्वसंवेद्य अन्-संवेद्य भी॥
वक्तव्य नहिं अनुपम यही, अप्रमेय आकुलता रहित ।
शून्य भी यह पूर्ण भी यह, नित्य और अनित्य भी॥
अशरीर आलम्बन रहित, नि:शब्द निरुपाधि यही ।
चैतन्यमय उत्कृष्ट ज्योति, मन-वचन-गोचर नहीं॥
इस तरह परमात्मा नहिं, दृष्टिगोचर गहन है ।
इसका कथन तो चित्रलेखन, करें ज्यों आकाश में॥

अन्वयार्थ : वह चैतन्यरूपी तेज, अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त स्थूल भी है, एक और अनेक भी है, स्वसंवेद्य और अवेद्य भी है, अक्षर और अनक्षर भी है । आत्मा उपमा रहित है, अवक्तव्य है, अप्रमेय है और आकुलता रहित है; वह शून्य भी है, पूर्ण भी है, नित्य भी है और अनित्य भी है । आत्मा शरीर रहित है, आश्रय रहित है, शब्द रहित है, उपाधि रहित है तथा चैतन्यस्वरूप परम तेज का धारी है और न उसको वचनों से ही कह सकते हैं तथा न उसका मन से ही चिन्तवन कर सकते हैं । इस प्रकार यह परमात्मा, अगम्य तथा दृष्टि अगोचर है

। इसलिए जिस प्रकार अमूर्तिक आकाश पर चित्र लिखना कठिन है, उसी प्रकार परमात्मा का वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है ।

चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनेकान्त-वैभव

अतिसूक्ष्ममतिस्थूल,-मेकं चाऽनेकमेव यत् ।
स्वसंवेद्यमवेद्यं च, यदक्षरमनक्षरम् ॥
अनौपम्यमनिर्देश्य - मप्रमेयमनाकुलम् ।
शून्यं पूर्णं च यन्नित्य,-मनित्यं च प्रचक्ष्यते ॥
निःशरीरं निरालम्बं, निःशब्दं निरुपाधि यत् ।
चिदात्मकं परंज्योति,-रवाङ्नसगोचरम् ॥
इत्यत्र गहनेऽत्यन्त,-दुर्लक्ष्ये परमात्मनि ।
उच्यते यत्तदाकाशं, प्रत्यालेख्यं विलिख्यते ॥61॥

संसार में अत्यन्त प्रशंसनीय कौन?

आस्तां तत्र स्थितो यस्तु, चिन्तामात्रपरिग्रह: ।
तस्याऽत्र जीवितं श्लाघ्यं, देवैरपि स पूज्यते ॥62॥
चिन्तन करें भी आत्मा का, लीनता की बात क्या ।
उसका मनुज भव धन्य है, वह सुरगणों से पूज्य है॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष, उस शुद्धात्मा में स्थित है, वह तो दूर रहो किन्तु जो पुरुष, इस शुद्धात्मा का चिन्तवन करने वाला है, उसका भी जीवन इस संसार में अत्यन्त प्रशंसनीय है, उसकी बड़े-बड़े देव आकर सेवा-पूजा सेवा करते हैं; इसलिए भव्य जीवों को सदा शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिए ।

सर्व पदार्थों के प्रति समताभाव

सर्वविद्भिरसंसारैः, सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ।
एतस्योपासनोपाय:, साम्यमेकमुदाहृतम् ॥63॥
निष्कर्म अरु सर्वज्ञ जिन, कैवल्य-लोचन युक्त जो ।
कहते विधि आराधना की, मात्र समताभाव को॥
अन्वयार्थ : समस्त पदार्थों के जानने वाले, कर्मों से रहित तथा केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारी केवली भगवान भी 'इस शुद्धात्मा की उपासना करने का उपाय समता ही है' - ऐसा कहते हैं ।

शुद्धोपयोग के पर्यायवाची नाम

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च, योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते, भवन्त्येकार्थवाचका: ॥64॥
साम्य स्वास्थ्य समाधि चित्त-निरोध एवं योग हैं ।
शुद्धोपयोगादि सभी एकार्थवाची शब्द हैं॥
साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त का निरोध, शुद्धोपयोग - ये सभी शब्द
अन्वयार्थ : एक ही अर्थ के कहने वाले हैं अर्थात् इन शब्दों के नाम जुदेह्नजुदे हैं, किन्तु अर्थ एक ही है । अब, आगे साम्य के स्वरूप का वर्णन आचार्यवर करते हैं ।

साम्य का स्वरूप

नाऽकृतिर्नाऽक्षरं वर्णो,-विकल्पश्च कश्चन ।
शुद्धं चैतन्यमेवैकं, यत्र तत्साम्यमुच्यते ॥65॥
आकार नहिं अक्षर नहीं, नहिं वर्ण कोई विकल्प भी ।
एक ही चैतन्य केवल, है वही बस साम्य ही॥
अन्वयार्थ : जिसमें न कोई आकार है, न कोई अक्षर है, न कोई नीलादि वर्ण है, न जिसमें कोई विकल्प है; किन्तु जिसमें केवल एक चैतन्य ही है, वही साम्य है ।

साम्य की महिमा

साम्यमेकं परं कार्यं, साम्यं तत्त्वं परं स्मृतम् ।
साम्यं सर्वोपदेशाना,-मुपदेशो विमुक्तये ॥66॥
साम्य ही कर्तव्य उत्तम, साम्य उत्तम तत्त्व है ।
मुक्ति पाने के लिए, उपदेश ही यह श्रेष्ठ है॥
अन्वयार्थ : साम्य ही एक उत्कृष्ट कार्य है, साम्य ही एक उत्तम तत्त्व है तथा साम्य ही मुक्ति के लिए समस्त उत्तम उपदेशों में से एक उपदेश है ।

साम्य के फल

साम्यं सद्बोधनिर्माणं, शश्वदानन्दमन्दिरम् ।
साम्यं शुद्धात्मनो रूपं, द्वारं मोक्षैकसद्मन: ॥67॥
साम्य ही सद्बोध-दाता, नित्य आनन्दमय भवन ।
शुद्धात्मा का रूप है यह, द्वार ही है शिव-सदन॥
अन्वयार्थ : इस साम्य से ही भव्य जीवों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, इस साम्य से ही अविनाशी सुख मिलता है, यह साम्य ही शुद्धात्मा का स्वरूप है तथा यह साम्य ही मोक्षरूपी सदन का द्वार है ।

समस्त शास्त्रों का सार : साम्य

साम्यं निःशेषशास्त्राणां, सारमाहुर्विपश्चित: ।
साम्यं कर्महाकक्ष,-दाहे दावानलायते ॥68॥
साम्य ही सब शास्त्र का है, सार यह गणधर कही ।
कर्म-वन को भस्म करने, हेतु दावानल यही॥
अन्वयार्थ : समस्त शास्त्रों का सारभूत यह साम्य ही है और यही साम्य, समस्त कर्मरूपी वन को जलाने में दावानल के समान है - ऐसा गणधरादि देव कहते हैं ।

साम्य की सामर्थ्य

सम्यं शरण्यमित्याहु:, योगिनां योगगोचरम् ।
उपाधि-रचिताऽशेष,-दोषक्षपणकारणम् ॥69॥
योगियों को ध्यान-गोचर, शरण है यह साम्य ही ।
कर्म से उत्पन्न दोष-विनाश का कारण यही॥
अन्वयार्थ : यह साम्य ही समस्त दुःखों को दूर करने में समर्थ है, ध्यानी पुरुष ही इसका ध्यान करते हैं, यह साम्य ही आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि दोषों को सर्वथा नष्ट करने वाला है; इसलिए भव्य जीवों को सदा साम्य का ही मनन करना चाहिए ।

परम हंस शुद्धात्मा को नमस्कार!

निःस्पृहायाऽणिमाद्यब्ज,-खण्डे साम्यसरोजुषे ।
हंसाय शुचये मुक्ति,-हंसीदत्तदृशे नमः ॥70॥
वाञ्छा नहीं है ऋद्धि की समता-सरोवर में रमे ।
शिव-हंसिनी पर मुग्ध जो शुचि-हंस उसको नमन है॥

अन्वयार्थ : अणिमा-महिमा आदि कमल-खण्ड (स्वर्ग) की जिसे अंश मात्र भी इच्छा नहीं है, जो समतारूपी सरोवर में सदा प्रीतिपूर्वक रमण करने वाला है, जिसकी दृष्टि मोक्षरूपी हंसिनी में लगी हुई है और जो अत्यन्त पवित्र है - ऐसे परम हंस शुद्धात्मा को नमस्कार है ।

ज्ञानियों की दृष्टि में मृत्यु है 'अमृतदायिनी'

ज्ञानिनोऽमृतसङ्गाय, मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन्, भवेत् पाकविधिर्यथा ॥71॥
मृत्यु दु:खकर किन्तु ज्ञानी, को प्रदाता मुक्ति की ।
कच्चे घड़े को ताप देकर, पकाते हैं अग्नि में॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे घड़े के लिए पकाने की विधि एक प्रकार से ताप की ही उपजाने वाली है तो भी वह पाकह्नविधि, अमृत (जल) का संगम कराने वाली होती है अर्थात् पक जाने पर वही घड़ा पानी के भरने योग्य होता है; उसी प्रकार यद्यपि बहिरात्माओं को मृत्यु, दुःख की देने वाली है तो भी ज्ञानियों के लिए वह अमृत (मोक्ष) के समागम के लिए ही होती है अर्थात् ज्ञानी पुरुष, सदा मृत्यु का नाश करने के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं तथा चैतन्यस्वरूप से भिन्न ही मृत्यु को मानते हैं, इसलिए मृत्यु के होने पर भी उनको दुःख नहीं होता है ।

विवेक की महिमा

मानुष्यं सत्कुले जन्म, लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता ।
विवेकेन विना सर्वं, सदप्येतन्न किंचन ॥72॥
नर-जन्म उत्तम कुल तथा, श्री बुद्धि और कृतज्ञता ।
सब हों तथापि विवेक बिन, निष्फल जिनेश्वर ने कहा॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, विवेकी नहीं हैं; उनका मनुष्यपना, उत्तम कुल में जन्म, धन, ज्ञान, कृतज्ञपना आदि भी निष्फल ही हैं; इसलिए मनुष्यों को विवेकी अवश्य होना चाहिए ।

विवेक का स्वरूप

चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे, विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं, हेयं हेयं च कुर्वत: ॥73॥
चेतन-अचेतन तत्त्व दोनों, भिन्न हैं यह जानना ।
ग्राह्य को करना ग्रहण अरु, त्याग करना हेय का॥

अन्वयार्थ : संसार में चेतन तथा अचेतन दो प्रकार के तत्त्व हैं; उनमें ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करते तथा त्याग करने योग्य को त्यागने वाले पुरुष का जो यह विचार (भेदज्ञान) है, उसी को विवेक कहते हैं ।

मूर्ख पुरुषों और विवेकी पुरुषों में अन्तर

दुःखं किंचित्सुखं किंचित्, चित्ते भाति जडात्मनः ।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं, सर्वं दुःखं विवेकिनः ॥74॥

मूढ़जन को जगत् में कुछ, दु:ख कुछ सुख भासता ।
किन्तु ज्ञानी को जगत् में, सर्व ही दु:ख भासता॥
अन्वयार्थ : मूर्ख पुरुषों को तो इस संसार में कुछ सुख और कुछ दुःख मालूम पड़ता है, किन्तु जो हिताहित के जानने वाले विवेकी हैं, उनको तो इस संसार में सब कुछ निरन्तर दुःख ही दुःख मालूम पड़ता है ।

विवेकी पुरुष का कर्तव्य

हेयं हि कर्म रागादि, तत्कार्यं च विवेकिनः ।
उपादेयं परंज्योति,-रुपयोगैकलक्षणम् ॥75॥
ज्ञानियों को कर्मकृत, रागादि तजना चाहिए ।
उपयोग लक्षण परम-ज्योति, मात्र लखना चाहिए॥
अन्वयार्थ : विवेकी पुरुष को ज्ञानावरणादि कर्म तथा उनके कार्यभूत रागादिकों का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए और ज्ञानह्नदर्शनस्वरूप इस उत्कृष्ट आत्म तेज को ही ग्रहण करना चाहिए ।

मैं और चैतन्य में अभिन्नता

(उपजाति)
यदेव चैतन्यमहं तदेव,
तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्,
गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥76॥
चैतन्य ही मैं और वह ही, जानता अरु देखता ।
वह एक ही उत्कृष्ट मैं, उससे अभिन्न रहूँ सदा॥
अन्वयार्थ : जो चैतन्य है सो मैं ही हूँ और वही चैतन्य, पदार्थों को जानता और देखता है, वही उत्कृष्ट है तथा निश्चयनय से स्वभाव से मैं और चैतन्य अत्यन्त अभिन्न हूँ ।

'एकत्व-सप्तति अधिकार' का चिन्तन-मनन करने की प्रेरणा

(वसन्ततिलका)
एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चैः,
श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता ।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टा-,
मेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम् ॥77॥
एकत्व सप्ततिरूप सुर-सरिता, अहो! पावन यही ।
श्री पद्मनन्दि महान हिमगिरि से, निकल कर है जो बही॥
मोक्षपद-रूपी उदधि में, मिली यह गंगा अहो !
जो भव्य अवगाहन करें, पायें महान विशुद्धि को॥
अन्वयार्थ : यह 'एकत्व सप्तति' रूपी गंगा नदी, अत्यन्त उन्नत ऐसे श्री पद्मनन्दि नामक हिमालय पर्वत से पैदा हुई है तथा मोक्षरूपी समुद्र में जाकर मिलती है; इसलिए जो भव्य जीव, इस नदी में स्नान करते हैं, उनके समस्त मल नष्ट हो जाते हैं और वे अत्यन्त विशुद्ध होते हैं ।

'एकत्व सप्तति' का अध्ययन करने से मन की निर्मलता प्राप्त होने का आश्वासन

संसार-सागर-समुत्तरणैक-सेतु-
मेनं सतां सदुपदेशमुपाश्रितानाम् ।
कुर्यात्पदं मललवोऽपि किमन्तरङ्गे,
सम्यक् समाधिविधिसन्निधिनिस्तरंगे ॥78॥
संसार-सागर पार करने, हेतु यह सेतु कहा ।
जिन सज्जनों ने इस परम, उपदेश का आश्रय लिया॥
उन सज्जनों के चित्त में यह, पापमल का लेश भी ।
सम्यक् समाधि विधान निश्चल, से न रह सकता कभी॥

अन्वयार्थ : जिन सज्जन पुरुषों ने संसार-समुद्र से पार करने में पुल के समान इस उत्तम उपदेश का आश्रय किया है; उन सज्जन पुरुषों के द्वारा उत्तम, क्षोभ रहित आत्मध्यान करने से उनके अन्तरंग में किसी प्रकार का रागादि मल नहीं रह सकता ।

ज्ञानियों के भेदविज्ञानपरक विचार

(मन्दाक्रान्ता)
आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या,
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः, सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे,
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वेतत् ॥79॥
यह आत्मा अरु तदनुगामी, कर्म दोनों भिन्न हैं ।
सम्बन्ध से उनके हुई जो, विकृति भी भिन्न है॥
क्षेत्र-कालादिक सभी, परद्रव्य मुझसे भिन्न हैं ।
निज गुण-कलाओं से सुशोभित, वस्तुएँ सब भिन्न हैं॥

अन्वयार्थ : यह ज्ञानस्वरूप मेरा आत्मा भिन्न है, उसके पीछे चलने वाला कर्म भी भिन्न है, कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से जो कुछ विकार हुआ है, वह भी मुझसे भिन्न है तथा काल, क्षेत्र आदि जो पदार्थ हैं, वे भी मुझसे भिन्न हैं । इस प्रकार अपनी-अपनी पर्यायों सहित जितने परपदार्थ हैं, वे सर्व मुझसे भिन्न हैं - ऐसे ज्ञानी सदा विचार करता है ।

आत्मतत्त्व का बारम्बार अभ्यास करने की प्रेरणा

(वसन्ततिलका)
येऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति,
सम्भावयन्ति च मुहुमुर्हुरात्मतत्त्वम् ।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्तसौख्यं,
क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धिरूपम् ॥80॥
जो बारम्बार निजात्म का, अभ्यास करते हैं सदा ।
चिन्तन करें उसका कथन, अरु भावना उसकी सदा ।
नवलब्धि केवल से सुशोभित, सौख्य अक्षय-निधि अहो !
वे प्राप्त करते शीघ्र अविनाशी परम पद मोक्ष को॥

अन्वयार्थ : जो भव्य जीव, इस आत्मतत्त्व का बारम्बार अभ्यास करते हैं, कथन करते हैं, विचार और अनुभव करते हैं; वे भव्य जीव अविनाशी महान तथा क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन आदि नौ केवललब्धिस्वरूप अनन्त सुख के भण्डार

- ऐसे मोक्षपद को बात ही बात में पा लेते हैं; इसलिए भव्य जीवों को सदा इस आत्मतत्त्व का चिन्तवन करना चाहिए ।

'यति-भावनाष्टक अधिकार' का मङ्गलाचरण

(शार्दूलविक्रीडित)
आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं, ज्ञात्वाऽथ गत्वा वनं;
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां, हित्वा विकल्पावलिम् ।
ये तिष्ठन्ति मनो रुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गताः;
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनय:, ते सर्वसङ्गोज्झिताः ॥1॥
निर्मल आत्मस्वरूप जान व्रत-धारण कर वन-गमन करें ।
मोहजन्य सम्पूर्ण विकल्पों, की सन्तति को नष्ट करें॥
मन-मारुत् में रहें, अचल जो, चिदानन्द रस में हैं लीन ।
मेरु समान अकम्प मुनीश्वर, जयवन्तो पर-संग-विहीन॥

अन्वयार्थ : व्रत को ग्रहण कर, निर्मल आत्मा के स्वरूप को जान कर, वन में जाकर, मोहकर्म से पैदा हुए समस्त विकल्पों को नष्ट कर, समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित जो मुनिगण, मनरूपी पवन से चलायमान नहीं होते हैं तथा चैतन्य की एकता में हर्ष सहित विराजमान रहते हैं अर्थात् जो अपनी आत्मा में लीन हंै और पर्वत के समान निश्चल स्थित हैं; वे मुनिगण, सदा इस लोक में जयवन्त रहें ।

निर्जन गुफा में आत्मध्यान करने की भावना

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करण,-ग्रामं विधायोद्वसं;
तत्संहृत्य गतागतं च मरुतौ, धैर्यं समाश्रित्य च ।
पर्यंकेन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरी-;
मध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा, स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥2॥
चित्त-वृत्ति को कब रोकूँगा, इन्द्रिय-ग्राम करूँ वश में ।
श्वासोच्छ्वास निरोध करूँगा, महाधैर्य धारण कर मैं॥
निर्जन वन की शून्य गुफा में, पर्यंकासन बैठूँगा ।
दृष्टि समर्पित कर चेतन में, आतम-ध्यान लगाऊँगा॥

अन्वयार्थ : अहो! चित्त की वृत्ति को रोक कर, इन्द्रियों को उजाड़ कर (वश कर), श्वासोच्छ्वास को रोक कर, धीरता को धारण कर, पर्यंक आसन माँड कर (पालथी मार कर) और आनन्दस्वरूप चैतन्य की तरफ दृष्टि लगा कर, निर्जन पर्वत की गुफा में बैठ कर मैं कब आत्मध्यान करूँगा?

काष्ठ या पाषाण की मूर्ति के समान ध्यान करने की भावना

धूलीधूसरितं निमुक्तवसनं, पर्यंकमुद्रागतं;
शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं, तत्त्वोपलम्भे सति ।
उत्कीर्णं दृषदीव मां वनभुवि, भ्रान्तो मृगाणां गणः;
पश्यत्युद्गतविस्मयो यदि तदा, मादृग्जनः पुण्यवान् ॥3॥
आत्मतत्त्व को पाकर जब मैं, धूल-धूसरित हो निर्ग्रन्थ ।
आँख बन्द कर शान्त मौन हो, ध्यान धरूँ पर्यंकासन॥
मूर्ति उकेरी पाषाणों की, वन के मृग सब समझेंगे ।
भ्रम से मुझे तभी मुझ सम नर, पुण्यवान कहलाएँगे॥

अन्वयार्थ : निजस्वरूप की प्राप्ति होने पर, धूलि से मलिन, वस्त्ररहित, पर्यंक मुद्रा सहित, शान्त, वचन रहित तथा आँखों को बन्द किए हुए मुझे जिस समय मृग, वन में भ्रम सहित आश्चर्य से देखेंगे; उसी समय मेरे समान मनुष्य पुण्यवान् समझा जाएगा ।

निर्ग्रन्थ मुनिराज के पास घर, वस्त्र, धन, स्त्री, भोजन, मित्र, सुख आदि भी?

वासः शून्यमठे क्वचिन्निवसनं, नित्यं ककुम्मण्डलं;
सन्तोषो धनमुन्नतं प्रियतमा, क्षान्तिस्तपो भोजनम् ।
मैत्री सर्वशरीरिभिः सह सदा, तत्त्वैकचिन्तासुखं;
चेदास्ते न किमस्ति मे शमवतः, कार्यं न किंचित्परै: ॥4॥
शून्य मठों में हो निवास अरु, दिग्मण्डल हों मेरे वस्त्र ।
सन्तुष्टि धन क्षमा प्रियतमा, तप ही हो क्षुत्-नाशक अस्त्र॥
मैत्रीभाव सभी जीवों से, तत्त्वज्ञान का हो आनन्द ।
तो फिर मुझे मिला है सब कुछ, नहीं किसी से प्रयोजन॥

अन्वयार्थ : किसी शून्य मठ में मेरा निवास स्थान है, अविनाशी दिशाओं का समूह मेरा वस्त्र है, सन्तोष धन है, क्षमा स्त्री है, तप भोजन है, समस्त प्राणियों के साथ मित्रता है और आत्मस्वरूप के चिन्तवन का सुख है तो मेरे लिए सर्व ही वस्तुएँ मौजूद हैं, तो फिर मुझे दूसरी वस्तुओं से क्या प्रयोजन है? - ऐसा योगीश्वर सदा विचार करते रहते हैं ।

सुवर्णमयी घर के ऊपर मणिमयी कलश की स्थापना करने वाला कौन?

लब्ध्वा जन्मकुले शुचौ वरवपु:, बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो;
वैराग्यञ्च करोति यः शुचितपो, लोके स एकः कृती ।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा, ध्यानाऽमृतं पीयते;
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो, हैमे समारोपित: ॥5॥
पुण्योदय से नरभव सुन्दर, रोग-रहित तन श्रुत-अभ्यास ।
पाकर जो वैराग्य करे तप, वह माना जाता बड़भाग॥
किन्तु यदि वह मान-त्याग कर, ध्यानामृत का पान करे ।
तो वह नरभव स्वर्ण-सदन पर, सुन्दर मणिमय कलश धरे॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, इस संसार में उत्तम कुल में जन्म पाकर, नीरोग और सुन्दर शरीर को प्राप्त कर, शास्त्र को जान कर और वैराग्य को प्राप्त होकर पवित्र तप को करता है; वह मनुष्य, संसार भर में एक ही पुण्यवान् समझा जाता है और वही तप करने वाला पुरुष, यदि मद रहित होकर ध्यानामृत का आस्वादन करे तो समझना चाहिए कि उस मनुष्य ने सुवर्णयी घर के ऊपर मणिमयी कलश की स्थापना की है ।

योगीश्वरों के मार्ग में गमन करने की भावना

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां, मूलं तरोः प्रावृषि;
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं, प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते ।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां, ध्यानप्रशान्तात्मनां;
मार्गे सञ्चरतो मम प्रशमिन:, काल: कदा यास्यति ॥6॥
ग्रीष्म ऋतु में गिरि-शिखरों पर, वर्षा में जो वृक्ष तले ।
शीत काल में खुली जगह पर, जो थिर आसन में बैठें॥
इस प्रकार तप करने से जो, योगीश्वर गण हुए प्रशान्त ।

उनके पथ पर गमन हेतु कब, प्राप्त करूँगा मैं शुभ काल ?
अन्वयार्थ : जो योगीश्वर, ग्रीष्म ॠतु में पहाड़ों के अग्र भाग में स्थित शिला के ऊपर ध्यान-रस में लीन रहते हैं, वर्षा काल में वृक्षों के मूल में बैठकर और शरद ॠतु में चौड़े मैदान में बैठ कर ध्यान लगाते हैं; उन शास्त्र के अनुसार तप के धारी तथा ध्यान से जिनकी आत्मा प्रशान्त हो गई है - ऐसे योगीश्वरों के मार्ग में गमन करने का मुझे भी कब समय मिलेगा?

अत्यन्त दुष्कर समाधि में लीन होने की भावना

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनो,-वृत्ति: समाधिः परो;
जायेताद्भुतधामधन्यशमिनां, केषांचिदत्राऽचलः ।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने, वह्निप्रदीप्तेऽपि वा;
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्, प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥7॥
वज्रपात हो यदि मस्तक पर, या त्रिभुवन में अग्नि जले ।
अथवा प्राण नष्ट होते हों, किन्तु जरा भी मन न चले॥
ऐसी अद्भुत परम समाधि, धन्य मुनीश्वर को होती ।
भेदज्ञान से जिनके मन की, वृत्ति संकुचित हो जाती॥
अन्वयार्थ : जिस समाधि के कारण मस्तक पर वज्र गिरने पर, तीनों लोक के जलने पर और निज प्राणों के नष्ट होने पर भी उन मुनियों के मन को किसी प्रकार का विकार नहीं होता । स्व-पर के भेदज्ञान से समाधि में जिनके मन की वृत्ति संकुचित है, आश्चर्यकारी है, उत्कृष्ट और अचल है - ऐसी वह समाधि, उन धन्य तथा साम्यभाव के धारक मुनियों को होती है ।

उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप निजतत्त्व में ही रहने की भावना

अन्तस्तत्त्वमुपाधिवर्जितमहं व्याहारवाच्यं परं;
ज्योतिर्यै: कलितं श्रुतं चयतिभि:, ते सन्तु नः शान्तये ।
येषां तत्सदनं तदेव शयनं, तत्सम्पदस्तत्सुखं;
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिल,-श्रेष्ठार्थसंसाधकम् ॥8॥
अहं शब्द से वाच्य उपाधि-विहीन अहो! यह अन्तस्तत्त्व !
परम-ज्योति को जिनने जाना, सुना किया उसका आश्रय॥
जिनका वही सदन है शय्या, सुख-सम्पति है वृत्ति वही ।
वही मनोरथ-सिद्धि-प्रदायक, मुझे शान्ति दें वही मुनी॥
अन्वयार्थ : जिसके साथ किसी प्रकार के कर्म का सम्बन्ध नहीं है तथा जो 'अहम्' शब्द से कहा जाता है - ऐसे उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व को जिन मुनीश्वरों ने जान लिया है, सुन लिया है, जिन योगीश्वरों के लिए वह निजतत्त्व ही एक मात्र रहने का स्थान है, वही शयन का स्थान है, वही श्रेष्ठ सम्पदा है, वही सुख है, वही वृत्ति है, वही प्रिय है तथा वही निजतत्त्व, जिन मुनियों को मनोवांछित पदार्थों का सिद्ध करने वाला है - वे यती मुझे शान्ति प्रदान करें ।

'यति-भावनाष्टक' का निरन्तर तीनों काल पाठ करने की प्रेरणा

पापारिक्षयकारि दातृ नृपति-स्वर्गाऽपवर्गश्रियं;
श्रीमत्पंकजनन्दिभिर्विरचितं, चिच्चेतनानन्दिभिः ।
भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं, भव्यस्त्रिसन्ध्यं पठेत्;
किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने, तस्यात्र पुण्यात्मनः ॥9॥
पाप-शत्रु का नाशक है जो, स्वर्ग-मोक्ष-लक्ष्मी-दाता ।

चिदानन्द के रसिक मुनीश्वर, पद्मनन्दि की यह रचना॥
'यति-भावना-अष्टक' को जो, भक्ति सहित त्रय काल पढ़ें ।
उस पुण्यात्मा को जग में नहिं, क्या-क्या इष्ट पदार्थ मिलें॥
अन्वयार्थ : यह 'यति-भावनाष्टक' समस्त पापरूपी वैरियों का नाश करने वाला है, राजलक्ष्मी तथा स्वर्ग-मोक्ष की लक्ष्मी को देने वाला है, इसकी रचना चैतन्यस्वरूप तत्त्व में आनन्द मानने वाले श्री पद्मनन्दि (पंकजनन्दि) मुनि ने की है - ऐसे 'यति-भावनाष्टक' को जो भव्य जीव, भक्तिपूर्वक तीनों काल पढ़ते हैं, उन भाग्यशाली भव्य जीवों को संसार में किन-किन इष्ट पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती? अर्थात् समस्त इष्ट पदार्थ उनको सुलभता से मिल जाते हैं ।

'उपासक संस्कार' अधिकार का मङ्गलाचरण

(अनुष्टुभ्)
आद्यो जिनो नृपः श्रेयान्, व्रतदानादिपूरुषौ ।
एतदन्योन्यसम्बन्धे, धर्मस्थितिरभूदिह ॥1॥
(हरिगीतिका)
ऋषभजिन-श्रेयांसनृप द्वय, प्रवर्तक व्रत-दान के ।
इनके परस्पर योग से ही, धर्म-स्थिति भरत में॥
अन्वयार्थ : आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ और श्रेयांस नामक राजा - ये दोनों महात्मा व्रत-तीर्थ तथा दान-तीर्थ के प्रवर्तने में आदि पुरुष हैं और इस भरतक्षेत्र में इन दोनों के सम्बन्ध से ही धर्म की स्थिति हुई है ।

धर्म का स्वरूप

सम्यग्दृग्बोध-चारित्र, -त्रितयं धर्म उच्यते ।
मुक्ते: पन्थाः स एव स्यात्, प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥2॥
सुदृष्टि-बोध-चारित्रत्रय समुदाय ही बस धर्म है ।
प्रमाण से जो सिद्ध है, वह धर्म ही शिव-पन्थ है॥
अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र - इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं । प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है ।

सम्यग्दर्शन बिना मोक्ष-प्राप्ति दुर्लभ

रत्नत्रयात्मके मार्गे, संचरन्ति न ये जनाः ।
तेषां मोक्षपदं दूरं, भवेत् दीर्घतरो भवः ॥3॥
रत्नत्रयात्मक मार्ग में जो, पुरुष चलते हैं नहीं ।
दूर है शिवपद उन्हें, अति दीर्घ है संसार भी॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, इस सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते हैं, उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और उनके लिए संसार दीर्घतर हो जाता है अर्थात् उनका संसार नहीं छूटता ।

रत्नत्रयधर्म के प्रकार

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां, स च धर्मो द्विधा भवेत् ।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्थाः, द्वितीये गृहिण:स्थिता ॥4॥
सकल एवं एकदेश दो हैं धर्म के ।
निर्ग्रन्थ धारें प्रथम, एवं इतर श्रावक धारते॥

अन्वयार्थ : यह रत्नत्रयात्मक धर्म, सर्वदेश तथा एकदेश के भेद से दो प्रकार का है; उसमें सर्वदेशधर्म तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एकदेशधर्म का पालन गृहस्थ करते हैं ।

रत्नत्रयधर्म, गृहस्थों के भी करने योग्य

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत, धर्मस्तेनैव वर्त्मना ।
तेन तेऽपि च गण्यन्ते, गृहस्थाः धर्महेतवः ॥5॥
भेद-द्वय से आज भी है, धर्म का वर्तन अहो !
इसलिए गेही जनों को, धर्म का कारण कहें॥
अन्वयार्थ : इस काल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से अर्थात् सर्वदेश तथा एकदेश मार्ग से ही प्रवृत्ति है, इसलिए उस धर्म के कारण गृहस्थ भी माने जाते हैं ।

श्रावकधर्म की उत्कृष्टता

सम्प्रत्यत्र कलौ काले, जिनगेहो मुनिस्थितिः ।
धर्मश्च दानमित्येषां, श्रावका मूलकारणम् ॥6॥
श्रावक बनाते जिनालय, मुनि-धर्म की स्थिति करें ।
दान भी देते अत: वे, मूल हैं कलिकाल में॥
अन्वयार्थ : इस काल में श्रावक बड़े-बड़े जिन मन्दिर बनवाते हैं, आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं, जिससे सर्वदेश और एकदेशरूप धर्म की प्रवृत्ति होती है तथा दान की प्रवृत्ति होती है; इसलिए इन सबके मूल कारण श्रावक ही हैं, अतः श्रावकधर्म भी अत्यन्त उत्कृष्ट है ।

श्रावक के षट् आवश्यक कर्तव्य

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने ॥7॥
देव-पूजा गुरु-सेवा, पठन संयम दान तप ।
छह कर्म श्रावक के लिए, कर्त्तव्य जो प्रतिदिन कहे॥
अन्वयार्थ : जिनेन्द्र देव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा, स्वाध्याय, संयम, योग्यतानुसार तप और दान - ये छह कर्म, श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य हैं ।

सामायिक व्रत का स्वरूप

समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना ।
आर्तरौद्रपरित्याग:,तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥8॥
समभाव हो सब जीव में, शुभ-भावना संयम प्रति ।
आर्त-रौद्र कुध्यान तजना, यही सामायिक कहें॥
अन्वयार्थ : समस्त प्राणियों में साम्यभाव रखना, संयम धारण करने में अच्छी भावना रखना, आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करना; इसी का नाम सामायिक व्रत है ।

सच्ची सामायिक के लिए सप्त व्यसनों के त्याग की प्रेरणा

सामायिकं न जायेत, व्यसनम्लानचेतसः ।
श्रावकेन तत: साक्षात्, याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥9॥

जिसका व्यसन से मलिन मन है, नहीं सामायिक उसे ।
श्रावकों को इसलिए ये, व्यसन तजना चाहिए॥

अन्वयार्थ : जिन मनुष्यों का चित्त, व्यसनों में मलिन हो रहा है, उनके द्वारा कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता; इसलिए सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को सप्त व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

सप्त व्यसन के नाम

द्यूत-मांस-सुरा-वेश्या,ऽऽखेटचौर्यपराङ्गना: ।
महापापानि सप्तैव, व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥10॥
द्यूत मांस शराब वेश्या, शिकार अरु पर-धन-हरण ।
परनारी, ये व्यसन पाप-महा इन्हें बुधजन तजें॥

अन्वयार्थ : जुआ, मांस, मद्य, वेश्यागमन, शिकार, चोरी तथा परस्त्री-सेवन - ये सप्त व्यसन संसार में प्रबल पापरूप हैं; अत: विद्वानों को इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

धर्मार्थी पुरुष को व्यसनों का त्याग अत्यन्त आवश्यक

धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य, चेदस्ति व्यसनाश्रय: ।
जायते न ततः सापि, धर्मान्वेषणयोग्यता ॥11॥
धर्माभिलाषी पुरुष भी यदि व्यसन-ग्रस्त रहें जरा ।
तो धर्म को पहिचानने की नहीं उनमें पात्रता॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष, धर्म का अभिलाषी है, यदि उसके भी ये व्यसन होवें तो उस पुरुष में धर्म-धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती अर्थात् वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता; अत: धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग करना चाहिए ।

एक-एक व्यसन, एक-एक नरक का द्वार

सप्तैव नरकाणि स्यु:, तैरेकैकं निरूपितम् ।
आकर्षयन्नृणामेतद्, व्यसनं स्वसमृद्धये ॥12॥
नरक भी हैं सात, उनने समृद्धि के लिए ।
एक नरक के साथ एक, व्यसन हैं निश्चित किए॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार व्यसन सात हैं, उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं; इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उन नरकों ने अपनी-अपनी समृद्धि के लिए अर्थात् मनुष्यों को खींच कर नरक में ले जाने के लिए एकह्नएक व्यसन को नियत किया है ।

पाप-राजा का सप्त व्यसन-साम्राज्य

धर्मशत्रुविनाशार्थं, पापाऽख्यकुपतेरिह ।
सप्ताङ्गबलवद्राज्यं, सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥13॥
धर्म-राज विनाश हेतु दुष्ट अघ-नृप ने अरे !
राज्य की सप्तांग सेना, रची सातों व्यसन से॥

अन्वयार्थ : धर्मरूपी वैरी का नाश करने के लिए पाप नामक दुष्ट राजा का सप्त व्यसनों से रचा हुआ 'सात अंगों वाला' बलवान् राज्य है ।

देव-पूजन-स्तवन की महिमा

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या, पूजयन्ति स्तुवन्ति ये ।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च, स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥14॥

भक्ति से जिन-दर्श-पूजन, और जो स्तवन करें ।
वे दर्श्य, पूज्य, स्तुत्य होते, भव्यजन त्रय लोक में॥

अन्वयार्थ : जो भव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं, उनकी पूजा-स्तुति करते हैं; वे भव्य जीव, तीन लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य होते हैं (सर्व लोक उनको भक्ति से देखते हैं तथा उनकी पूजा-स्तुति करते हैं) ।

जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से रहित गृहस्थाश्रम को धिक्कार

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां, धिक् च गृहाश्रमम् ॥15॥
जिनदेव-दर्शन-स्तवन-पूजन नहीं जो जन करें ।
धिक्कार उनका गृहस्थाश्रम, और धिक् निष्फल जनम॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजाह्नस्तुति ही करते हैं; उन मनुष्यों का जीवन, संसार में निष्फल हैं तथा उनके गृहस्थाश्रम को भी धिक्कार है ।

सभी पुरुषार्थों में धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं, देवतागुरुदर्शनम् ।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या, धर्मश्रुतिरुपासकै: ॥16॥
पश्चादन्यानि कार्याणि, कर्तव्यानि यतो बुधै: ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥17॥
आराधकों को प्रात उठ, जिनदेव-गुरु-दर्शन सदा ।
भक्तिपूर्वक वन्दना अरु, धर्म सुनना चाहिए॥
फिर अन्य सब गृहकार्य करना, क्योंकि ज्ञानीजन कहें ।
धर्मार्थ काम रु मोक्ष, इनमें धर्म ही पहले करें॥

अन्वयार्थ : भव्य जीवों को प्रातःकाल उठ कर, जिनेन्द्र देव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए, भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति भी करनी चाहिए और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए । इसके बाद ही अन्य गृह आदि सम्बन्धी कार्य करने योग्य हैं क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरूपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है ।

ज्ञान-प्राप्ति हेतु निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा आवश्यक

गुरोरेव प्रसादेन, लभ्यते ज्ञानलोचनम् ।
समस्तं दृश्यते येन, हस्तरेखेव निस्तुषम् ॥18॥
ज्ञान-लोचन प्राप्त होते, गुरुजनों की कृपा से ।
हस्तरेखावत् समस्त, पदार्थ जिससे प्रगट हैं॥

अन्वयार्थ : जिस केवलज्ञानरूपी लोचन से समस्त पदार्थ, हाथ की रेखा के समान प्रगट रीति से देखने में आते हैं - ऐसा ज्ञानरूपी नेत्र, निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है; अत: ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को भक्तिपूर्वक गुरुओं की सेवा-वन्दना करना चाहिए ।

अज्ञान का नाश करने हेतु गुरु-सेवा आवश्यक

ये गुरुं नैव मन्यन्ते, तदुपास्तिं न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषा,-मुदितेऽपि दिवाकरे ॥19॥
मानते नहिं जो गुरु को, नहिं करें आराधना ।
सूर्य का, हो उदय पर, उनके लिए तो अँधेरा॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, गुरुओं को नहीं मानते हैं और उनकी सेवा-वन्दना नहीं करते हैं, उन मनुष्यों के लिए सूर्य का उदय होने पर भी अन्धकार ही है ।

शास्त्राभ्यास के बिना नेत्रधारी भी अन्धे के समान

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं, सद्गुरुप्रकटीकृतम् ।
तेऽन्धाःसचक्षुषोऽपीह, सम्भाव्यन्ते मनीषिभिः ॥20॥
निर्ग्रन्थ गुरुओं से रचित, सत्-शास्त्र जो पढ़ते नहीं ।
नेत्र होते हुए भी, अन्धे उन्हें ज्ञानी कहें॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रगट किये हुए शास्त्रों को नहीं पढ़ते हैं; उन मनुष्यों को विद्वान् पुरुष, नेत्रधारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं ।

शास्त्राभ्यास के बिना कान और मन भी नहीं

मन्ये न प्रायशस्तेषां, कर्णाश्च हृदयानि च ।
यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं, न श्रुतं नाऽवधारितम् ॥21॥
सुनें नहिं जो शास्त्र गुरु से, हृदय में नहिं धारते ।
उनके नहीं हैं कान मन भी नहीं - यह ज्ञानी कहें॥
अन्वयार्थ : जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में रह कर, न तो शास्त्र को सुना है और न हृदय में धारण किया है, उनके कान तथा मन नहीं है - ऐसा हम प्रायः मानते हैं ।

संयमपूर्वक ही व्रत की सार्थकता

देशव्रताऽनुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते ।
गृहस्थैर्येन तेनैव, जायते फलवद्व्रतम् ॥22॥
देशव्रत-अनुसार संयम, भी सदा पालन करो ।
क्योंकि इससे ही श्रावक व्रत, सुनिश्चित अरु सफल हों॥
अन्वयार्थ : धर्मात्मा श्रावकों को एकदेशव्रत के अनुसार, संयम भी अवश्य पालना चाहिए, जिससे उनका लिया हुआ व्रत, फलीभूत हो ।

गृहस्थों के अष्ट मूलगुण का स्वरूप

त्याज्यं मांसं च मद्यं च, मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ताः, गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥23॥
मांस-मद्य-मधु उदम्बर-पाँच तजने योग्य हैं ।
ये मूलगुण हैं आठ, सम्यग्दर्श-पूर्वक धारिए॥
अन्वयार्थ : श्रावकों को मद्य-मांस-मधु तथा पाँच उदुम्बर फलों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए और सम्यग्दर्शन सहित इन आठ का त्याग ही गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं ।

गृहस्थों के बारह व्रतों का स्वरूप

अणुव्रतानि पञ्चैव, त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि, द्वादशेति गृहिव्रते ॥24॥
पाँच भेद स्वरूप अणुव्रत, तीन गुणव्रत जानिये ।
चार शिक्षाव्रत कहे - ये बारह व्रत हैं गृही के॥

अन्वयार्थ : पाँच प्रकार के अणुव्रत, तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत - ये गृहस्थों के बारह व्रत हैं ।

गृहस्थों के करने योग्य अन्य आवश्यक कर्तव्य

पर्वस्वथ यथाशक्ति, भुक्तित्यागादिकं तपः ।
वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं, रात्रिभोजनवर्जनम् ॥25॥
छान कर जल पियो एवं, रात्रिभोजन भी तजो ।
यथाशक्ति पर्व में तुम, अनशनादिक तप करो॥
अन्वयार्थ : अष्टमी-चतुर्दशी को शक्ति के अनुसार उपवास आदि तप, छने हुए जल का पान और रात को भोजन का त्याग भी गृहस्थों को अवश्य करना चाहिए ।

सम्यग्दृष्टि पुरुष का आश्रय-स्थान

तं देशं तं नरं तत्स्वं, तत्कर्माण्यपि नाश्रयेत् ।
मलिनं दर्शनं येन, येन च व्रतखण्डनम् ॥26॥
उस देश-नर-धन या क्रिया का आश्रय ज्ञानी तजें ।
जहाँ दर्शन मलिन हो अथवा व्रतों में भंग हो॥
अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि श्रावक, ऐसे देश, ऐसे पुरुष, ऐसे धन तथा ऐसी क्रिया का कदापि आश्रय नहीं करते; जहाँ पर उनका सम्यग्दर्शन मलिन हो तथा व्रतों में दोष लगे ।

विद्वान लोग, व्रतों के बिना एक क्षण भी नहीं

भोगोपभोगसंख्यानं, विधेयं विधिवत्सदा ।
व्रतशून्या न कर्तव्या, काचित्कालकला बुधैः ॥27॥
भोग अरु उपभोग में, परिमाण-व्रत श्रावक धरें ।
एक क्षण भी बिना व्रत के, कभी नहिं बुधजन रहें॥
अन्वयार्थ : विद्वान् श्रावकों को भोगोपभोगपरिमाणव्रत का सदैव पालन करना चाहिए और एक क्षण भी बिना व्रत के नहीं रहना चाहिए ।

रत्नत्रय का आश्रय ही श्रेयस्कर

रत्नत्रयाश्रयः कार्यः, तथा भव्यैरतन्द्रितैः ।
जन्मान्तरेऽपि यच्छ्रद्धा, यथा संवर्धते तराम् ॥28॥
आलस्य रहित हो भव्यजन, धारण करो त्रय-रत्न को ।
ताकि जन्मान्तरों में भी, धर्म पर श्रद्धा बढ़े॥
अन्वयार्थ : आलस्य रहित होकर भव्य जीवों को उसी रीति से रत्नत्रय का आश्रय करना चाहिए, जिससे अन्य जन्मों में भी उनकी श्रद्धा बढ़ती जाए ।

रत्नत्रय एवं रत्नत्रयधारियों की विनय

विनयश्च यथायोग्यं, कर्तव्यः परमेष्ठिषु ।
दृष्टि-बोध-चारित्रेषु, तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥29॥
रत्नत्रय, धर्मात्मा, परमेष्ठियों की विनय भी ।
कर्त्तव्य ज्ञानी यथासम्भव, जिनागम पाठी अहो !
अन्वयार्थ : जो जिनेन्द्र-सिद्धान्त के अनुयायी हैं, उन भव्य जीवों को योग्यतानुसार उत्कृष्ट स्थान में रहने वाले परमेष्ठियों तथा सम्यग्दर्शन-

सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र और इनके धारण करने वाले महात्माओं के प्रति विनय अवश्य करना चाहिए ।

विनय की महिमा

दर्शनज्ञानचारित्र,-तप: प्रभृति सिद्धयति ।
विनयेनेति तं तेन, मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥30॥
दृष्टि-ज्ञान-चारित्र एवं, तपादिक भी प्राप्त हों ।
विनय से ही इसलिए यह, मोक्ष-द्वार सुधी कहें॥

अन्वयार्थ : विनय से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप आदि की प्राप्ति होती है; अत: भव्य जीवों को इनकी विनय अवश्य करनी चाहिए ।

दान के बिना गृहस्थपना निष्फल

सत्पात्रेषु यथाशक्ति,-दानं देयं गृहस्थितैः ।
दानहीना भवेत्तेषां, निष्फलैव गृहस्थता ॥31॥
सत्पात्रजन को यथाशक्ति, दान दें धर्मात्मा ।
क्योंकि श्रावकपना उनका, दान बिन निष्फल कहा॥

अन्वयार्थ : धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों को शक्ति के अनुसार दान भी अवश्य देना चाहिए क्योंकि बिना दान के गृहस्थों का गृहस्थपना निष्फल है ।

दान बिना घर, केवल बाँधने के लिए जाल के समान

दानं ये न प्रयच्छन्ति, निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम् ।
पाशा एव गृहास्तेषां, बन्धनायैव निर्मिता: ॥32॥
निर्ग्रन्थ-यति को जो चतुर्विध, दान देते हैं नहीं ।
उनके लिए घर जालवत् है, बाँधने के लिए ही॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष, निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्र - इन चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं, उन्होंने अपने घर, जाल के समान केवल बाँधने के लिए ही बनाये हैं - ऐसा मालूम होता है ।

उत्तम दान की महिमा

अभयाहारभैषज्य, -शास्त्रदाने हि यत्कृते ।
ऋषीणां जायते सौख्यं, गृही श्लाघ्य: कथं न स: ॥33॥
आहार-औषधि-अभय-ज्ञान, सुदान जो देते गृही ।
क्यों न होवें श्लाघ्य वे, जब ऋषी भी होते सुखी॥

अन्वयार्थ : जिस गृहस्थ के द्वारा अभयदान, आहारदान, औषधिदान और शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को अत्यन्त सुख होता है; वह गृहस्थ प्रशंसा के योग्य क्यों नहीं है? अर्थात् उस गृहस्थ की सर्व लोक प्रशंसा करता है; इसलिए ऐसा उत्तम दान, गृहस्थों को अवश्य देना चाहिए ।

दान से ही स्वर्ग-सुख की प्राप्ति

समर्थोऽपि न यो दद्यात्, यतीनां दानमादरात् ।
छिनत्ति स स्वयं मूढः, परत्र सुखमात्मनः ॥34॥
सामर्थ्य है पर नहीं देते, दान जो आदर सहित ।

वे मूढ़ परभव के सुखों का, नाश करते स्वयं ही॥
अन्वयार्थ : समर्थ होकर भी जो पुरुष, आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देते; वह मूढ़ पुरुष आगामी जन्म में होने वाले अपने सुख का स्वयं नाश करते हैं ।

दान से रहित गृहस्थाश्रम, पत्थर की नौका के समान

दृषन्नावसमो ज्ञेयो, दानहीनो गृहाश्रमः ।
तदारूढो भवाम्भोधौ, मज्जत्येव न संशय: ॥35॥
दान बिन यह गृहस्थाश्रम, पाषाण-नौकावत् कही ।
बैठ उस पर भवोदधि में, डूबते संशय नहीं॥
अन्वयार्थ : जो गृहस्थाश्रम, दान से रहित है, वह पत्थर की नाव के समान है - ऐसे गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव पर बैठने वाला मनुष्य, नियम से संसाररूपी समुद्र में डूबता है ।

साधर्मी के साथ प्रीतिभाव

समयस्थेषु वात्सल्यं, स्वशक्त्या ये न कुर्वते ।
बहुपापावृतात्मान:, ते धर्मस्य पराङ्मुखा: ॥36॥
धर्मात्मा में शक्ति के अनुसार नहिं प्रीति करें ।
बहु पाप से हैं वे ढके, अरु विमुख हैं वे धर्म से॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, साधर्मी सज्जनों में शक्ति के अनुसार प्रीति नहीं करते, उन मनुष्यों की आत्मा प्रबल पाप से ढकी हुई है और वे धर्म से पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं हैं; इसलिए भव्य जीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिए ।

करुणा के बिना धर्म असम्भव

येषां जिनोपदेशेन, कारुण्याऽमृतपूरिते ।
चित्ते जीवदया नास्ति, तेषां धर्मः कुतो भवेत् ॥37॥
जिन-वचन से कारुण्य अमृत से भरे जिस हृदय में ।
प्राणी-दया यदि है नहीं तो धर्म कैसे हो उन्हें॥
अन्वयार्थ : जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के प्रभाव से जिन मनुष्यों के करुणारूपी अमृत से पूरित चित्तों में दया नहीं है, उन मनुष्यों को धर्म कदापि नहीं हो सकता ।

दया : धर्मरूपी वृक्ष की जड़

मूलं धर्मतरोराद्या, व्रतानां धाम सम्पदाम् ।
गुणानां निधिरित्यंगि,-दया कार्या विवेकिभिः ॥38॥
धर्म-तरु का मूल, व्रत में मुख्य, सम्पति-धाम जो ।
गुण-निधि यह दया है, कर्त्तव्य ज्ञानीजनों को॥
अन्वयार्थ : धर्मरूपी वृक्ष की जड़, समस्त व्रतों में मुख्य, सर्व सम्पदाओं का स्थान तथा गुणों का खजाना यह 'दया' है, अत: विवेकी मनुष्यों को दया अवश्य करनी चाहिए ।

दया ही समस्त गुणों का आधार

सर्वे जीवदयाधारा, गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे ।
सूत्रधाराः प्रसूनानां, हाराणां च सरा इव ॥39॥

पुष्प-हारों की लड़ी ज्यों, सूत्र के आश्रित रहे ।
त्यों ही पुरुष के गुण सभी, प्राणी-दया आधार से॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ी, सूत्र के आश्रय से रहती है, उसी प्रकार मनुष्य में समस्त गुण, जीव-दया के आधार से रहते हैं; इसलिए समस्त गुणों की स्थिति के अभिलाषी भव्य जीवों को यह दया अवश्य करनी चाहिए ।

सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सभी व्रत, अहिंसा के साधन

यतीनां श्रावकाणां च, व्रतानि सकलान्यपि ।
एकाऽहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं, कथितानि जिनेश्वरैः ॥40॥
यति एवं श्रावकों के, व्रत सभी जो हैं कहे ।
सब अहिंसा की प्रसिद्धि, के लिए जिनवर कहें॥
अन्वयार्थ : जितने मुनियों तथा श्रावकों के व्रत सर्वज्ञदेव ने कहे हैं, वे सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए ही कहे हैं, उनमें कोई भी व्रत, हिंसा का पोषण करने वाला नहीं कहा गया है; इसलिए व्रती मनुष्य को समस्त प्राणियों पर दया अवश्य ही रखनी चाहिए ।

जीव-हिंसा का संकल्प भी त्यागने योग्य

जीवहिंसादिसंकल्पै,-रात्मन्यपि हि दूषिते ।
पापं भवति जीवस्य, न परं परपीडनात् ॥41॥
हिंसादि के संकल्प से मन में मलिनता हो यदि ।
तो पाप हो निश्चित अरे, नहिं मात्र परवध से कभी॥
अन्वयार्थ : केवल अन्य प्राणियों को पीड़ा देने से ही पाप की उत्पत्ति नहीं होती; बल्कि 'उस जीव को मारूँगा' अथवा 'वह जीव मर जाए तो अच्छा हो', इत्यादि जीव-हिंसा के संकल्पों से भी जब आत्मा मलिन होता है, तब भी पाप की उत्पत्ति होती है; इसलिए उत्तम मनुष्यों को जीव-हिंसा का संकल्प भी नहीं करना चाहिए ।

बारह भावनाओं के चिन्तवन से ही कर्मों का नाश

द्वादशाऽपि सदा चिन्त्या, अनुप्रेक्षा महात्मभि: ।
तद्भावना भवत्येव, कर्मणः क्षयकारणम् ॥42॥
भावना बारह सदा, चिन्तन करें उत्तम पुरुष ।
क्योंकि उनका चिन्तवन ही, कर्मक्षय कारण कहा॥
अन्वयार्थ : उत्तम पुरुषों को बारह भावनाओं का चिन्तवन सदा करना चाहिए क्योंकि इन भावनाओं का चिन्तवन समस्त कर्मों का नाश करने वाला है ।

बारह भावनाओं के नाम

अध्रुवाऽशरणे चैव, भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च, तथैवाऽस्रवसंवरौ ॥
निर्जरा च तथा लोको, बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैताऽनुप्रेक्षा, भाषिता जिनपुङ्गवै: ॥44॥
अध्रुव अशरण भावना, संसार अरु एकत्व है ।
अन्यत्व अरु अशुचित्व, आस्रव भावना संवर कहें॥
निर्जरा अरु लोक एवं, बोधिदुर्लभ धर्म भी ।
ये भावना बारह अहो! सर्वज्ञदेवों ने कहीं॥

अन्वयार्थ : अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म - ये बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) जिनेन्द्र देव ने कही हैं ।

अनित्य भावना

अध्रुवाणि समस्तानि, शरीरादीनि देहिनाम् ।
तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः, शोको दुष्कर्मकारणम् ॥45॥
प्राणियों की देह आदि, सभी हैं अध्रुव अरे !
नष्ट हों तो शोक नहिं करना, बँधें दुष्कर्म रे !

अन्वयार्थ : प्राणियों के समस्त शरीर, धन, धान्य आदि पदार्थ विनाशीक हैं; इसलिए उनके नष्ट होने पर जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि उस शोक से केवल खोटे कर्मों का ही बन्ध होता है ।

अशरण भावना

व्याघ्रेणाऽऽघ्रातकायस्य, मृगशावस्य निर्जने ।
यथा न शरणं जन्तोः, संसारे न तथापदि ॥46॥
विपिन में पकड़ा गया मृग-शिशु जैसे व्याघ्र से ।
कोई शरण उसको नहीं, त्यों जीव को संसार में॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त निर्जन वन में जिस मृग के बच्चे का शरीर व्याघ्र ने अत्यन्त तीव्रता के साथ पकड़ लिया है - ऐसे मृग के बच्चे को बचाने में जैसे कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार इस संसार में आपत्ति के आने पर, जीव को कोई इन्द्र-अहमिन्द्र आदि बचा नहीं सकते, इसलिए भव्य जीवों को धर्म के सिवाय अन्य कोई भी रक्षक नहीं समझना चाहिए ।

संसार भावना

यत्सुखं तत्सुखाभासं, यद्दुःखं तत्सदाञ्जसा ।
भवे लोकाः सुखं सत्यं, मोक्ष एवससाध्यताम् ॥47॥
सुख लगे जो सुख नहीं वह, दु:ख लगे वह दु:ख सही ।
वास्तविक सुख मोक्ष में है, साध्य जग को सुख वही॥

अन्वयार्थ : हे जीव! संसार में जो सुख मालूम होता है, वह सुख नहीं - सुखाभास है अर्थात् सुख के समान मालूम पड़ता है और जो दुःख है सो सत्य है क्योंकि वास्तविक सुख मोक्ष में ही है, इसलिए तुझे मोक्ष की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए ।

एकत्व भावना

स्वजनो वा परो वाऽपि, नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जितं कर्म, जीवेनैकेन भुज्यते ॥48॥
परमार्थ से जग में न कोई, स्वजन है या अन्यजन ।
प्राणी अकेला भोगता, अपने उपार्जित कर्मफल॥

अन्वयार्थ : यदि निश्चय से देखा जाए तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन ही है क्योंकि जीव अपने किये हुए कर्म के फल को अकेला ही भोगता है ।

अन्यत्व भावना

क्षीरनीरवदेकत्र, स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदो यदि ततोऽन्येषु, कलत्रादिषु का कथा ॥49॥

दूध-जलवत् आत्मा अरु, देह दोनों हैं मिले ।
भिन्न ये दोनों कहो! पुत्रादि की फिर क्या कथा ?
अन्वयार्थ : शरीर और आत्मा की स्थिति, दूध तथा जल के समान मिली हुई है । यदि ये दोनों भी परस्पर में भिन्न हैं तो सर्वथा भिन्न स्त्री-पुत्र आदि तो अवश्य ही भिन्न हैं; इसलिए विद्वानों को शरीर, स्त्री, पुत्र आदि को अपना कदापि नहीं मानना चाहिए ।

अशुचित्व भावना

तथाऽशुचिरयं कायः; कृमिधातुमलान्वित: ।
यथा तस्यैव सम्पर्कादन्यत्राऽप्यपवित्रता ॥50॥
कृमि-धातु-मल-मूत्रादिमय, यह देह इतनी मलिन है ।
कि अन्य भी सब वस्तु इसके, संग से भी मलिन हैं॥
अन्वयार्थ : कीड़े, धातु, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके सम्बन्ध से दूसरी वस्तु भी अपवित्र हो जाती है ।

आस्रव भावना

जीव-पोतो भवाम्भोधौ, मिथ्यात्वादिक-रन्ध्रवान् ।
आस्रवति विनाशार्थं, कर्माम्भ: प्रचुरं भ्रमात् ॥51॥
भव-उदधि में जीव-नौका, मिथ्यात्वादिक छिद्र हैं ।
कर्म-जल से भरे नौका, जग में डुबाने के लिए॥
अन्वयार्थ : इस संसाररूपी समुद्र में जिस समय यह जीवरूपी जहाज, मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगरूप छिद्रों से सहित होता है; उस समय वह अपने विनाश के लिए अज्ञानता से प्रचुर कर्मरूपी जल को आस्रवरूप करता है ।

संवर भावना

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र, संवरो भवति ध्रुवम् ।
साक्षादेतदनुष्ठानं, मनोवाक्कायसंवृत्ति: ॥52॥
कर्मागमन को रोकना ही, नियम से संवर कहा ।
काय-मन-वच संवरण है, यही संवर की क्रिया॥
अन्वयार्थ : आते हुए कर्मों का रुक जाना ही निश्चय से संवर है तथा मन-वचन-काय का जो संवरण (स्वाधीन) करना है, वही संवर का आचरण है ।

निर्जरा भावना

निर्जरा शातनं प्रोक्ता, पूर्वोपार्जितकर्मणाम् ।
तपोभिर्बहुभिः सा स्यात्, वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥53॥
पूर्व-संचित कर्म आंशिक, खिरें यह है निर्जरा ।
बहुभाँति तप वैराग्य आश्रित, क्रिया से ही निर्जरा॥
अन्वयार्थ : पहले से संचित हुए कर्मों का एकदेशरूप से नाश होना, निर्जरा है । वह निर्जरा, संसार-देह आदि से वैराग्य कराने वाले अनशन-अवमौदर्य आदि तप से होती है ।

लोक भावना

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र, साऽपायस्थितिरध्रुवः ।

दुःखकारीति कर्तव्या, मोक्ष एव मतिः सताम् ॥54॥
इस लोक में सब वस्तु क्षणभंगुर विनश्वर जिन कहें ।
बहुभाँति दु:खदायक अत:, बुध मोक्ष में नित मति धरें॥
अन्वयार्थ : यह समस्त लोक, विनाशीक और अनित्य है तथा नाना प्रकार के दु:खों को करने वाला है - ऐसा विचार कर, उत्तम पुरुषों को सदा मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगाना चाहिए ।

बोधिदुर्लभ भावना

रत्नत्रयपरिप्राप्ति:, बोधि: साऽतीव दुर्लभा ।
लब्धा कथं कथंचिच्चेत्, कार्यो यत्नो महानिह ॥55॥
रत्नत्रय की प्राप्ति ही है, बोधि जो दुर्लभ कही ।
प्राप्त हो वह जिस विधि से, यत्न से रक्षा करो॥
अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय की प्राप्ति का नाम बोधि है; इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है । यदि किसी रीति से उसकी प्राप्ति हो भी जाए तो उसकी रक्षा के लिए विद्वानों को प्रबल प्रयत्न करना चाहिए ।

धर्म भावना

निजधर्मोऽयमत्यन्तं, दुर्लभो भविनां मतः ।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥56॥
निजधर्म की प्राप्ति जगत्जन, को अति दुर्लभ अरे !
इस रीति से यह धर्म धारो, मोक्ष तक यह संग रहे॥
अन्वयार्थ : संसार में प्राणियों को ज्ञानानन्दस्वरूप निजधर्म का पाना अत्यन्त कठिन है, इसलिए यह धर्म ऐसी रीति से ग्रहण करना चाहिए कि मोक्ष पर्यंत इसका साथ बना रहे ।

संसार से तिरने हेतु धर्मरूपी जहाज का आश्रय आवश्यक

दुःखग्राहगणाऽऽकीर्णे, संसारक्षारसागरे ।
धर्मपोतं परं प्राहु:, तारणार्थं मनीषिणः ॥57॥
संसार-खार-समुद्र में, दु:खरूप जलचर हैं भरे ।
पार करने के लिए है, धर्म-नौका बुध कहें॥
अन्वयार्थ : नाना प्रकार के दुःखरूपी नक्र-मकर से व्याप्त इस संसाररूपी खारे समुद्र से पार करने वाला धर्म, जहाज के समान है - ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं, इसलिए संसार से तिरने की इच्छा करने वाले जीवों को इस धर्मरूपी जहाज का आश्रय लेना चाहिए ।

स्वर्ग-मोक्ष के कारणरूप बारह भावनाएँ

अनुप्रेक्षा इमाः सद्भि:, सर्वदा हृदये धृताः ।
कुर्वते तत्परं पुण्यं, हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥58॥
इन भावनाओं को सदा, सज्जन पुरुष जो उर धरें ।
वे स्वर्ग एवं मोक्ष-सुख के, हेतु पुण्यार्जन करें॥
अन्वयार्थ : जो सज्जन पुरुष, बारम्बार इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं, वे स्वर्ग तथा मोक्ष के कारणभूत पुण्य का उपार्जन करते हैं, इसलिए स्वर्ग-मोक्ष के कारणस्वरूप पुण्य को चाहने वाले भव्य जीवों को इन बारह भावनाओं का चिन्तवन सदैव करना चाहिए ।

गृहस्थ श्रावक के द्वारा दश धर्मों का यथाशक्ति पालन

आद्योत्तमक्षमा यत्र, यो धर्मो दशभेदभाक् ।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ, यथाशक्ति यथागमम् ॥59॥
उत्तम क्षमादिक धर्म दशविध, जो कहे हैं शास्त्र में ।
शास्त्र एवं शक्ति के, अनुसार श्रावक भी धरें॥
अन्वयार्थ : उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य - इन दश धर्मों का श्रावकों को शक्त्यनुसार तथा शास्त्रानुसार पालन करना चाहिए ।

अन्तस्तत्त्व एवं बहिस्तत्त्व, दोनों के मिलने से ही मोक्ष-प्राप्ति

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा, बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु ।
द्वयो: सम्मीलने मोक्ष:, तस्माद् द्वितयमाश्रयेत् ॥60॥
शुद्धात्म अन्तस्तत्त्व है, बहिस्तत्त्व है प्राणी-दया ।
इनके मिलन से मोक्ष होता, अत: द्वय अवधारिया॥
अन्वयार्थ : चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा तो अन्तःतत्त्व (भीतरी तत्त्व) है तथा समस्त प्राणियों की दया, बाह्यतत्त्व है और इन दोनों तत्त्वों के मिलने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है; इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इन दोनों तत्त्वों का भलीभाँति आश्रय करना चाहिए ।

ज्ञानी को आत्मा ही चिन्तवन करने योग्य

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः, पृथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं, नित्यानन्दपदप्रदम् ॥61॥
कर्म एवं कर्मफल से, भिन्न चेतनरूप जो ।
नित्य आनन्दप्रद निजात्मा, का सदा अनुभव करो॥
अन्वयार्थ : कर्म तथा कर्म के कार्यों से सर्वथा भिन्न, चिदानन्द चैतन्यस्वरूप, अविनाशी और आनन्दस्वरूप स्थान को देने वाले आत्मा का ज्ञानी को सदा चिन्तवन करना चाहिए ।

'उपासक संस्कार' (श्रावकाचार) अधिकार का उपसंहार

इत्युपासकसंस्कारः, कृतः श्रीपद्मनन्दिना ।
येषामेतदनुष्ठानं, तेषां धर्मोऽतिनिर्मल: ॥62॥
पद्मनन्दि ने रचा यह, 'उपासक संस्कार' है ।
इसमें कथित जो आचरें, वे धर्म अति निर्मल लहें॥
अन्वयार्थ : श्री पद्मनन्दि आचार्य ने 'उपासक संस्कार' अधिकार की रचना की है । जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इस श्रावकाचार के अनुसार है, उन्हीं को निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है ।

'देशव्रतोद्योतन अधिकार' का मङ्गलाचरण

(शार्दूलविक्रीडित)
बाह्याभ्यन्तरसङ्गवर्जनतया, ध्यानेन शुक्लेन य:;
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात्, सर्वज्ञतां निश्चितम् ।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने, सत्यानि नाऽन्यानि तत्;
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महा,-पापी न भव्योऽथवा ॥1॥
(वीर छन्द)
बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह, तज कर शुक्लध्यान द्वारा ।

चार घातिया-कर्म-नाश, सर्वज्ञपना जिनने धारा॥
धर्म-कथन में उनकी वाणी, परम सत्य है अन्य नहीं ।
जिसकी मति अत्यन्त भ्रमे, वह पापी है या भव्य नहीं॥
अन्वयार्थ : समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ कर, शुक्लध्यान से चार घातिया कर्मों का नाश कर, जिन्होंने सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है; उन्हीं सर्वज्ञदेव के वचन, धर्म के निरूपण करने में सत्य हैं, किन्तु सर्वज्ञ से अन्य किसी के वचन सत्य नहीं हैं - ऐसा भलीभाँति जान कर भी जिस मनुष्य को सर्वज्ञदेव के वचनों में सन्देह है तो समझना चाहिए कि वह मनुष्य, महापापी अथवा अभव्य है ।

अनेक पुण्यात्मा मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा एक अकेला सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ

एकोऽप्यत्र करोति य: स्थितिमति,-प्रीत: शुचौ दर्शने;
स श्लाघ्य: खलु दु:खितोऽप्युदयतो, दुष्कर्मण: प्राणभृत् ।
अन्यै: किं प्रचुरैरपि प्रमुदितै, रत्यन्तदूरीकृत-;
स्फीताऽऽनन्दभरप्रदाऽमृतपथै:, मिथ्यापथे प्रस्थितै: ॥2॥
यदि कोई नर प्रीति सहित, सम्यग्दर्शन धारण करता ।
दु:खी रहे यदि पापोदय से, तो भी उसको श्लाघ्य कहा॥
मिथ्यापथगामी बहुसंख्यक, हों या अतिशय सुखी दिखें ।
फिर भी वे आनन्द-प्रदायक, शिवपथ से अति दूर रहें॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, खोटे कर्मोदय से दु:खी होने पर भी सन्तुष्ट होकर, अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के योग्य समझा जाता है; किन्तु जो अत्यन्त आनन्द को देने वाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग से बाह्य हैं, वर्तमान काल में शुभ कर्म के उदय से प्रसन्न हों अथवा ऐसे मिथ्या मार्ग में गमन करने वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य बहुत हों तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं ।

मोक्ष का बीज, सम्यग्दर्शन और संसार का बीज, मिथ्यादर्शन

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरो:, मिथ्यात्वमाहुर्जिना:;
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं, यत्नो विधेयो बुधै: ।
संसारे बहुयोनिजालजटिले, भ्राम्यन् कुकर्माऽऽवृत:;
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते, काले हितां तामिह ॥3॥
सम्यग्दर्शन बीज मोक्ष का, भवतरु का मिथ्यात्व कहें ।
अत: मुमुक्षु समकित पाकर, रक्षा हेतु प्रयत्न करें॥
विविध योनि से व्याप्त जगत में, कर्म सहित यह जीव भ्रमे ।
बहुत काल तक, किन्तु सुदृष्टि पाना उसको दुर्लभ है॥
अन्वयार्थ : मोक्षरूपी वृक्ष का बीज, सम्यग्दर्शन है तथा संसाररूपी वृक्ष का बीज, मिथ्यात्व है - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है । मोक्षाभिलाषी उत्तम पुरुषों को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि नरक, तिर्यंच आदि नाना प्रकार की योनियों से व्याप्त, इस संसार में अनादि काल से भ्रमण करता हुआ और खोटे कर्मों से युक्त यह प्राणी, बहुत काल के व्यतीत होने पर भी इस सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है ?

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर तप या षट्कर्म करना आवश्यक

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि, द्राघीयसाऽनेहसा;
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता, कार्यं तपो मोक्षदम् ।

ना े चल्े लाके निषधे तोऽथ महतो, मोहादशक्तेरथो;
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां, षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥4॥
दीर्घकाल में महाकष्ट से, उत्तम नरभव प्राप्त किया ।
शुचि-दर्शन पा, महापुरुष को, मोक्षद तप कर्त्तव्य कहा॥
लोक-निषेध या मोहोदय, से यदि तप में नहीं समर्थ ।
तो गृहस्थ के षट् कर्मों के, योग्य करें आवश्यक व्रत॥
अन्वयार्थ : अनन्त काल के बीत जाने पर, इस संसार में बड़ी कठिनता से प्राप्त होने वाले मनुष्य जन्म के मिलने पर तथा सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर, उत्तम पुरुषों के द्वारा मोक्ष को देने वाला तप अवश्य करना चाहिए । यदि मनुष्यों के निषेध करने से अथवा प्रबल चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अथवा असमर्थपने से तप न हो सके तो गृहस्थों के देव-पूजा, गुरु-सेवा, स्वाध्याय आदि षट्कर्मों के योग्य व्रत तो अवश्य ही करना चाहिए ।

सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुण, बारह व्रत तथा अन्य नियमों का विधान

दृङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च, स्यात्पञ्चधाऽणुव्रतं;
शीलाख्यं च गुणव्रतं त्रयमत:, शिक्षाश्चतस्र: परा: ।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात्, पेयं पय: शक्तितो;
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं, पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥5॥
आठ मूलगुण पाँच अणुव्रत, सम्यग्दर्शन सहित धरें ।
गुणव्रत तीन, चार शिक्षाव्रत, यही शीलव्रत सात धरें॥
निशिभोजन परित्याग वस्त्र से, छने नीर का पान करें ।
शक्त्यनुसार मौनव्रत धारें, तो भव्यों को पुण्य बँधे॥
अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणों का पालन करना, अहिंसादि पाँच अणुव्रतों को धारण करना, दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत तथा देशावकाशिक आदि चार शिक्षाव्रत - इन सात शीलव्रतों का पालन करना, रात में खाद्य-स्वाद्य आदि चतुर्विध आहार का त्याग करना, स्वच्छ कपड़े से छने हुए जल का पीना, शक्ति के अनुकूल मौन आदि व्रतों का धारण करना; इस प्रकार ये श्रावकों के व्रत हैं, इनका भलीभाँति आचरण करने वाले श्रावक पुण्य के भागी होते हैं; इसलिए धर्मात्मा श्रावकों को इन व्रतों का अवश्य ही पालन करना चाहिए ।

व्रती श्रावक के बारह व्रतों का विधान

हन्ति स्थावरदेहिन: स्वविषये, सर्वांस्त्रसान् रक्षति;
बूरते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां, शुद्धां निजां सेवते ।
दिग्देशव्रतदण्ड-वर्जनमत:, सामायिकं प्रोषधं;
दानं भोगयुगप्रमाणमुररी,-कुर्याद् गृहीति व्रती ॥6॥
स्व-प्रयोजन से एकेन्द्रिय-वध, सर्व त्रसों पर दया करे ।
सत्य कहे चोरी न करे, निज-वनिता का ही भोग करे॥
दिग्-देश-अनर्थदण्ड व्रत, सामायिक-प्रोषध धारे ।
दान करे भोगोपभोग-परिमाण गृहस्थ-व्रती धारे॥
अन्वयार्थ : व्रती श्रावक, यद्यपि अपने प्रयोजन के लिए स्थावर काय के जीवों को मारता है; तथापि (अणुव्रत -) दो इन्द्रिय आदि से सैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त त्रस जीवों की रक्षा करता है, सत्य बोलता है, अचौर्यव्रत का पालन करता है, स्व-स्त्री का सेवन करता है, परिग्रह का परिमाण करता है । (गुणव्रत -) दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थदण्डव्रत का पालन करता है; (शिक्षाव्रत -) सामायिक, प्रोषधोपवास, दान (अतिथि संविभाग) तथा भोगोपभोगपरिमाण नामक व्रत को स्वीकार करता है ।

श्रावक का प्रमुख कर्तव्य - मुनि आदि पात्रों को दान

देवाऽऽराधन- पूजनादि-बहुषु, व्यापार-कार्येषु सत्;
पुण्योपार्जन-हेतुषु प्रतिदिनं, संजायमानेष्वपि ।
संसाराऽर्णवतारणे प्रवहणं, सत्पात्रमुद्दिश्य यत्;
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो, दानं प्रकृष्टो गुण: ॥7॥
पुण्योपार्जन कारक जिन-पूजन, अरु अर्चनादि बहु कार्य ।
धर्मात्मा धनवान् श्रावकों, के घर प्रतिदिन ये सत्कार्य॥
किन्तु दान सत्पात्रों को है, भव-समुद्र से तारक पोत ।
अत: देशव्रतधारी धनिकों, का है यह अति उत्तम स्रोत॥

अन्वयार्थ : यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकों के दैनिक जीवन में श्रेष्ठ पुण्यसंचय करने वाले जिनेन्द्र देव की सेवा तथा पूजन-प्रतिष्ठा आदि अनेक उत्तम कार्य प्रतिदिन होते रहते हैं; तथापि उन सब उत्तम कार्यों में संसार-समुद्र से पार करने में जहाज के समान, श्रेष्ठ मुनि आदि पात्रों को दान देना, धर्मात्मा श्रावकों का सबसे प्रधान गुण (कर्तव्य) है; इसलिए भव्य श्रावकों को सदा उत्तम पात्रों को दान देना चाहिए ।

आहारदान की परम्परा से ही रत्नत्रय एवं मोक्ष की प्राप्ति

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्, तन्मोक्ष एव स्फुटं;
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तत्, निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्, तद्दीयते श्रावकै:;
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी, प्रायस्ततो वर्तते ॥8॥
सभी जीव नित सुख चाहें, पर सुख शिवपुर में यह स्पष्ट ।
शिवपुर रत्नत्रय से मिलता, जिसे धारते हैं निर्ग्रन्थ॥
वह तो देहाश्रित अरु देह, टिके जो श्रावक दें आहार ।
क्लिष्ट काल में शिवपथवृत्ति, कही गृहस्थों के आधार॥

अन्वयार्थ : समस्त जीव, सदैव सुख की अभिलाषा करते हैं; परन्तु यदि अनुभव किया जाए तो वास्तविक सुख, मोक्ष में ही है । उस मोक्ष की प्राप्ति, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसम् यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय के धारण करने से ही होती है । रत्नत्रय की प्राप्ति, निर्ग्रन्थ अवस्था में ही होती है । निर्ग्रन्थ अवस्था, शरीर के होने पर ही होती है । शरीर की स्थिति, अन्न से रहती है और वह अन्न, धर्मात्मा श्रावकों के द्वारा दिया जाता है, इसलिए इस दु:खम काल में मोक्ष-पदवी की प्रवृत्ति, गृहस्थों के द्वारा दिये हुए आहारदान से ही होती है - ऐसा जान कर, धर्मात्मा श्रावकों को सदा सत्पात्रों को दान देना चाहिए ।

उत्तम औषधिदान से मुनियों के अशक्त शरीर का संरक्षण

स्वेच्छाऽऽहार-विहार-जल्पनतया, नीरुग्वपुर्जायते;
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु, प्रायेण सम्भाव्यते ।
कुर्यादौषध-पथ्य-वारिभिरिदं, चारित्र-भार-क्षमं;
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां, धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥9॥
स्वेच्छाहार-विहार-वचन से, रोगरहित रहती है देह ।
किन्तु साधु नहिं स्वेच्छाचारी, अत: न सक्षम उनकी देह॥
औषधि पथ्य सुनिर्मल जल से, देह धरे चारित का भार ।
इसीलिए उत्तम श्रावक से, हो मुनि-धर्म-प्रवृत्ति महान्॥

अन्वयार्थ : सामान्यतया इच्छानुसार भोजन, भ्रमण तथा भाषण से शरीर रोगरहित रहता है, परन्तु मुनियों के लिए न तो इच्छानुसार भोजन करने की ही आज्ञा है और न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषण की ही आज्ञा है; इसलिए उनका शरीर सदा अशक्त ही बना रहता है । धर्मात्मा श्रावक उत्तम दवा, पथ्य और निर्मल जल (औषधिदान) देकर मुनियों के शरीर को चारित्र-पालन के लिए समर्थ बनाते हैं, इसलिए मुनिधर्म की प्रवृत्ति भी उत्तम श्रावकों से ही होती है; अत: आत्मा के हित की अभिलाषा करने वाले भव्य जीवों को अवश्य ही मुनिधर्म की प्रवृत्ति के प्रधान कारण, इस गृहस्थधर्म को धारण करना चाहिए ।

ज्ञानदान के द्वारा थोड़े ही भवों में केवलज्ञान की प्राप्ति

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां, पाठाय भव्यात्मनां;
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं, दानं तदाहुर्बुधा: ।
सिध्देऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु, त्रैलोक्यलोकोत्सव-;
श्रीकारिप्रकटीकृताऽखिलजगत्, कैवल्यभाजो जना: ॥10॥
बुद्धिमान भव्यों को पुस्तक, देना एवं श्रुत-व्याख्यान॥
भक्तिपूर्वक करना पण्डित, कहते इसको ज्ञानप्रदान॥
इसके होने पर भविजन, कुछ भव में पाते केवलज्ञान ।
जिसमें उत्सव हो त्रिभुवन में, जगत् प्रकाशित सूर्य समान॥
अन्वयार्थ : सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए शास्त्र का भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है तथा विशाल बुद्धिवाले भव्य जीवों को पढ़ने के लिए जो पुस्तकें दी जाती हैं; उसको ज्ञानी पुरुष शास्त्रदान (ज्ञानदान) कहते हैं । भव्यों को इस ज्ञानदान की प्राप्ति होने पर थोड़े ही भवों में, तीन लोक के जीवों को उत्सव तथा लक्ष्मी के करने वाले और समस्त लोक के पदार्थों को हाथ की रेखा के समान देखने वाले केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

अभयदान के बिना शेष तीन दान सर्वथा निष्फल

सर्वेषामभयं प्रवृद्ध-करुणै:, यद्दीयते प्राणिनां;
दानं स्यादभयादि तेन रहितं, दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभि:, क्षुद्रोगजाड्याद्भयं;
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो, दानं तदेकं परम् ॥11॥
अति करुणावन्तों द्वारा जो, प्राणी-रक्षा की जाती ।
अभयदान है यही, बिना इसके निष्फल हैं दान सभी॥
आहारौषध-शास्त्र-दान से क्षुधा-रोग अरु जड़ता का ।
भय होता है नष्ट अत:, यह अभयदान उत्कृष्ट कहा॥
अन्वयार्थ : विस्तीर्ण करुणा के धारी भव्य जीवों द्वारा समस्त प्राणियों के भय को छुड़ा कर उनकी जो रक्षा की जाती है, उसको ज्ञानीजन अभयदान कहते हैं । इस अभयदान के बिना बाकी के तीन दान सर्वथा निष्फल हैं । आहार, औषध और शास्त्र - इन तीन दान को देने से क्षुधा के भय का, रोग के भय का और मूर्खता के भय का ही नाश होता है; इसलिए एक अभयदान ही समस्त दानों में उत्कृष्ट दान है ।

चार प्रकार के दान से प्राप्त होने वाले फल

आहारात् सुखितौषधादतितरां, नीरोगता जायते;
शास्त्रात् पात्रनिवेदितात् परभवे, पाण्डित्यमत्यद्भुतम् ।
एतत् सर्व-गुण-प्रभा-परिकर: पुंसोऽभयाद्दानत:;
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपद, प्राप्तिर्विमुक्तिस्तत: ॥12॥

अशनदान से लौकिक सुख, औषधि देने से तन नीरोग ।
शास्त्रदान दें तो परभव में, हो अद्भुत पाण्डित्य अहो !
अभयदान से उपर्युक्त, सारे गुण होते अपने आप ।
उत्तम से उत्तम पद पाकर, हो जाता है शिवपद प्राप्त॥

अन्वयार्थ : उत्तमादि पात्रों को आहारदान देने से इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति होती है; औषधदान देने से परभव में अत्यन्त रूपवान् तथा नीरोग शरीर मिलता है; शास्त्रदान देने से अत्यन्त विद्वता की प्राप्ति होती है तथा अभयदान देने से उपर्युक्त सुख एवं नीरोगपना आदि समस्त गुणों की प्राप्ति होती है । अन्त में उत्तमोत्तम चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति होकर मोक्ष मिलता है । इसलिए उत्तमोत्तम सुख, नीरोगता आदि गुणों के अभिलाषी मनुष्यों को अवश्य ही चारों प्रकार का दान देना चाहिए ।

धन को खर्च करने का मार्ग, दान से उत्कृष्ट और कोई नहीं

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलानिऽऽश्रित्य खेदं परं;
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं, दु:खेन यच्चाऽर्जितम् ।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं, प्रेयोऽस्य पन्था: शुभो;
दानं तेन च दीयतामिदमहो, नाऽन्येन तत्सद्गति: ॥13॥
शत-शत पाप-बहुल कार्यों से, और महा-दु:ख भी सह कर ।
सागर पर्वत या पृथ्वी पर, घूम-घूम कर धन-संचय॥
पुत्रों या प्राणों से भी प्रिय, धन-व्यय का सर्वोत्तम मार्ग ।
मात्र दान है, अन्य न धन की, सद्गति अत: करें बुध दान॥

अन्वयार्थ : सैंकड़ों पाप सहित कार्यों को करके, नाना प्रकार के दु:खों को उठा कर और समुद्र, पर्वत, पृथ्वी पर भ्रमण करके, बड़े कष्ट से जो धन का संचय किया जाता है; वह धन, पुत्र और अपने जीवन से भी प्यारा होता है । उस धन को खर्च करने का मार्ग यही है कि वह दान के काम में लाया जाए क्योंकि इससे भिन्न उस धन को खर्च करने का कोई भी उत्तम मार्ग नहीं । इसलिए सज्जन पुरुषों को चाहिए कि वे दान-मार्ग में ही धन का व्यय करें, दान के अतिरिक्त मार्ग में उस धन का उपयोग कदापि न करें ।

दानरहित गृहस्थपना दोनों लोक का नाशक

दानेनैव गृहस्थता गुणवती, लोकद्वयोद्योतिका;
सैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो, लोकद्वयध्वंसकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिण:, पापं यदुत्पद्यते;
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे, दानं न चान्यत्परम् ॥14॥
धनवानों का गृहस्थ-आश्रम, दान मात्र से होय सफल ।
दोनों लोक प्रकाशित होते, बिना दान के हों निष्फल॥
खोटे व्यापारों से पाप, गृहस्थों को जो हों उत्पन्न ।
पापनाश अरु शशिसम यश के, लिए दान है कोई न अन्य॥

अन्वयार्थ : धनी मनुष्यों का गृहस्थपना, दान से ही श्रेष्ठ कहलाता है । दान से ही वह दोनों लोकों का प्रकाश करने वाला होता है; किन्तु बिना दान के वह गृहस्थपना, दोनों लोकों का नाश करने वाला ही है क्योंकि गृहस्थों के द्वारा सैकड़ों खोटे व्यापार करने से सदा पाप की उत्पत्ति होती रहती है । उस पाप के नाश हेतु तथा चन्द्रमा के समान यश की प्राप्ति के लिए एक पात्रदान ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं । इसलिए अपने आत्महित को चाहने वाले भव्य जीव पात्रदान से गृहस्थपने को तथा धन को सफल करें ।

भोग-विलास में खर्च होने वाले धन की निकृष्टता

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं, तद्धीमतां मन्यते;
येनाऽनन्तगुणं परत्र सुखदं, व्यावर्तते तत्पुन: ।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवत:, तन्नष्टमेव ध्रुवं;
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां, दानं प्रधानं फलम् ॥15॥
जो धन पात्रों को उपयोगी, वही श्रेष्ठ बुधजन मानें ।
यहाँ अनन्त गुना फलता है, परभव में सुखमय जानें॥
जो धन भोगों में लगता है, वह तो नष्ट हुआ जानो ।
क्योंकि गृहस्थों की सम्पति का, एक मुख्य फल दान अहो !
अन्वयार्थ : जो धन, उत्तमादि पात्रों के उपयोग में आता है; उसी धन को विद्वान लोग, अच्छा धन समझते हैं । वह पात्र में दिया हुआ धन, परलोक में सुख देने वाला होता है और अनन्त गुना फलता है; किन्तु जिन धनवानों का धन, नाना प्रकार के भोग-विलासों में खर्च होता है, उन धनवानों का धन, सर्वथा नष्ट ही हो गया है - ऐसा समझना चाहिए क्योंकि गृहस्थों की सर्व सम्पदाओं का प्रधान फल, एक दान ही है ।

भूतकाल के महापुरुषों में भी दान की विशेषता

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं, दत्त्वाऽभयं प्राणिषु;
प्राप्ता नित्यसुखाऽऽस्पदं सुतपसा, मोक्षं पुरा पार्थिवा: ।
मोक्षस्याऽपि भवेत्तत: प्रथमतो, दानं निदानं बुधै:;
शक्त्या देयमिदं सदाऽतिचपले, द्रव्ये तथा जीविते ॥16॥
राज्य पुत्र को, धन याचक को, अभय प्राणियों को देकर ।
बड़े-बड़े नृप तप कर पाते, शाश्वत सुख का गृह शिवपद॥
अत: मोक्ष का पहला कारण, दान यही निश्चित करके ।
धन-जीवन-चञ्चल लख बुधजन, शक्ति प्रमाण दान दे॥
अन्वयार्थ : भूतकाल में भी बड़े-बड़े राजा, पुत्र को राज्य देकर, याचकजनों को धन देकर और समस्त प्राणियों को अभयदान देकर, अनशनादि उत्तम तपों का आचरण कर, अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए मोक्ष का सबसे प्रथम कारण एक दान ही है अर्थात् दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है; अत: विद्वानों को चाहिए कि धन तथा जीवन को जल के बुलबुले के समान अत्यन्त विनाशीक समझ कर, सर्वदा शक्ति के अनुसार उत्तमादि पात्रों को दान देवें ।

दान रहित घर, अत्यन्त कठिन मोह का जाल

ये मोक्षं प्रति नोद्यता: सुनृभवे, लब्धेऽपि दुर्बुद्धय:;
ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्, तन्मोहपाशो दृढ़: ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं, दानं सदा दीयतां;
तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे, पोतायते निश्चितम् ॥17॥
दुर्लभ नरभव पाकर भी जो, करें न शिवपद हेतु प्रयत्न ।
घर में रह कर दान न देते, उनका मोहपाश अति दृढ़॥
यही जान कर गृही यथा पद, देवें विविध प्रकार सुदान ।
क्योंकि दान ही भवसागर से, पार उतरने को है यान॥
अन्वयार्थ : अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्य भव को पाकर भी जो मनुष्य, मोक्ष के लिए उद्यम नहीं करते हैं, घर में ही पड़े रहते हैं; वे मनुष्य मूढ़ बुद्धि हैं । जिस घर में दान नहीं दिया जाता, वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है - ऐसा भलीभाँति समझ कर, अपने धन के अनुसार भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान करना चाहिए क्योंकि यह उत्तमादि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में

जहाज के समान है ।

दान रहित गृहस्थाश्रम, पत्थर की नाव

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपति:, न स्मर्यते नाऽर्च्यते;
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने, दानं च भक्त्या परम् ।
सामर्थ्ये सति तद्गृहाऽऽश्रमपदं, पाषाणनावा समं;
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे, मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥18॥
हैं समर्थ पर नहीं करें जो, जिन-दर्शन-पूजन-स्तवन ।
मुनिजन को नहिं दान करें जो, उर में धर कर भक्ति परम॥
उन समर्थ का गृह-आश्रम पद, है पत्थर की नाव समान ।
उसमें बैठ डूब भव-सागर, मिले कहीं न नाम-निशान॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, समर्थ होने पर निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं, न उनका स्मरण करते हैं, न उनकी पूजा करते हैं, न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्तिपूर्वक दान देते हैं; उन मनुष्यों का गृहस्थाश्रम, पत्थर की नाव के समान है । उस गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ, इस भयंकर संसाररूपी समुद्र में नियम से डूब कर नष्ट हो जाते हैं । इसलिए जो भव्य जीव, अपने जीवन और धर्म को पवित्र करना चाहते हैं; उनको जिनेन्द्रदेव की पूजा-स्तुति आदि कार्य तथा उत्तमादि पात्रों को दान अवश्य ही देना चाहिए ।

दान देने वाला दाता ही चिन्तामणि और कल्पवृक्ष

चिन्तारत्न-सुरद्रु-कामसुरभि-स्पर्शोपलाद्या भुवि;
ख्याता एव परोपकारकरणे, दृष्टा न ते केनचित् ।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि, प्रायो न सम्भाव्यते;
तत्कार्याणि पुन: सदैव विदधद्, दाता परं दृश्यते ॥19॥
कल्पवृक्ष चिन्तामणि-रत्न, कामधेनु इत्यादि पदार्थ ।
पर-उपकारी सुने किसी ने, किन्तु नहीं देखा प्रत्यक्ष॥
उनके द्वारा हुआ किसी का, हित यह प्राय: शक्य नहीं ।
लेकिन ये सब करे सुदाता, यह दिखता प्रत्यक्ष यहीं॥

अन्वयार्थ : चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष, कामधेनु, पारस पत्थर आदि पदार्थ, संसार में परोपकारी हैं - यह बात तो आज तक सुनी है; किन्तु किसी ने अभी तक इन्हें साक्षात् उपकार करते हुए देखा नहीं है । उन्होंने किसी का उपकार किया होगा - इस बात की सम्भावना भी नहीं है, परन्तु चिन्तामणि रत्न आदि के कार्य को करने वाला दाता (मनोवांछित दान देने वाला) अवश्य देखने में आता है । इसलिए चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाता ही हैं; अत: उनसे भिन्न चिन्तामणि आदि कोई पदार्थ नहीं है ।

धर्मात्मा श्रावक भी आदर करने योग्य

यत्र श्रावकलोक एष वसति, स्यात्तत्र चैत्यालयो;
यस्मिन्सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो, धर्मश्च तैर्वर्तते ।
धर्मे सत्यऽघसंचयो विघटते, स्वर्गाऽपवर्गाऽऽश्रयं;
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां, स्यु: श्रावका: सम्मता: ॥20॥
जिस नगरी में श्रावक रहते, वहाँ जिनालय निश्चित हो ।
चैत्यालय में बसें यतीश्वर, जिनसे धर्म-प्रवर्तन हो॥
संचित पाप नष्ट होते हैं, स्वर्ग-मोक्ष जन्मान्तर में ।

प्राप्त धर्म से अत: गुणीजन, श्रावक का सन्मान करें॥

अन्वयार्थ : जिस नगर तथा देश में श्रावक लोग रहते हैं, वहाँ पर जिन-मन्दिर होता है । जहाँ पर जिन-मन्दिर होता है, वहाँ पर यतीश्वर निवास करते हैं । जहाँ पर यतीश्वरों का निवास होता है, वहाँ अनादि काल से संचय किये हुए प्राणियों के पापों का नाश होता है तथा भविष्य काल में स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है । इसलिए गुणवान् मनुष्यों को धर्मात्मा श्रावकों का आदर अवश्य करना चाहिए ।

दु:खद पंचम काल में योग्य दाता ही सज्जनों द्वारा वन्द्य

काले दु:खमसंज्ञके जिनपते:, धर्मे गते क्षीणतां;
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे, मिथ्याऽन्धकारे सति ।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो, य: सोऽपि नो दृश्यते;
यस्तत्कारयते यथाविधि पुन:, भव्य: स वन्द्य: सताम् ॥21॥
दु:खमा नामक कलिकाल में, जिनवर कथित धर्म है क्षीण ।
समभावी मुनिराज विरल हैं, अत: प्रबल है मोह-तिमिर॥
जिन-मन्दिर जिन-प्रतिमा के प्रति, भक्तिवंत नर नहीं दिखें ।
भव्य यथाविधि करें कार्य ये, सज्जन उनको नमन करें॥

अन्वयार्थ : इस दु:खमा नामक पंचम काल में जिनेन्द्र भगवान का धर्म क्षीण होने से, आत्मा का ध्यान करने वाले मुनिजनों की विरलता होने से और गाढ़ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के फैल जाने से, जो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा तथा जिन-मन्दिरों में भक्ति सहित थे, उनको भक्ति पूर्वक बनवाते थे - ऐसे मनुष्य, वर्तमान समय में देखने में नहीं आते हैं; फिर भी जो भव्य जीव, इस समय भी विधि के अनुसार जिन-मन्दिर आदि कार्यों को करते हैं, वे सज्जनों द्वारा वन्द्य हैं अर्थात् समस्त उत्तम पुरुष, निर्मल हृदय से उनकी स्तुति करते हैं ।

छोटा-सा मन्दिर बनाने में भी महान् पुण्य का उपार्जन

(वसन्ततिलका)
बिम्बादलोन्नति-यवोन्नतिमेव भक्त्या;
ये कारयन्ति जिनसद्म-जिनाऽऽकृतिं च ।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता;
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥22॥
(हरिगीत)
कुन्दु-पत्र समान लघु भी, जिनालय जो भवि करें ।
जौ समान जिनेन्द्र-प्रतिमा, भक्ति से उसमें धरें॥
उन्हें कितना पुण्य होगा? सरस्वती नहिं कह सके ।
करें दोनों कार्य जो, उनका कथन कैसे करें ?

अन्वयार्थ : जो भव्य जीव, इस संसार में भक्तिपूर्वक छोटे से छोटे बिम्बा (कुंदरु) पत्ते के समान जिन-मन्दिर तथा यव (जौ) के समान जिन-प्रतिमा को भी बनाता है, उस मनुष्य को भी इतने पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिसका साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं कर सकती, और की तो बात ही क्या? फिर जो मनुष्य, ऊँचे-ऊँचे जिन-मन्दिर तथा जिन-प्रतिमाओं को बनाने वाला है, उसको तो अगम्य पुण्य की ही प्राप्ति होती है ।

चैत्यालय का निर्माण करने के विशेष लाभ

(शार्दूलविक्रीडित)

यात्राभि: स्नपनैर्महोत्सवशतै:, पूजाभिरुल्लोचकै:;
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशै:, तौर्यत्रिकैर्जागरै: ।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि, प्रस्तार्य शोभां परां;
भव्या: पुण्यमुपार्जयन्ति सततं, सत्यत्र चैत्यालये ॥23॥
(वीर छन्द)
यात्राओं अभिषेक तथा, पूजन-विधान उत्सव द्वारा ।
नृत्य-गीत-नैवेद्य तथा, घण्टा-चामर-दर्पण द्वारा॥
ध्वजा-कलश-आरोहण-उत्सव, से करते शोभा विस्तार ।
चैत्यालय के माध्यम से भवि, करें उपार्जन पुण्य अपार॥

अन्वयार्थ : इस संसार में चैत्यालय के होने पर भव्य जीव, यात्रा से, कलशाभिषेकों से, सैंकडों बडे उत्सवों से, पूजा तथा चाँदनियों से, नैवेद्य से, बलि से, ध्वजाओं के आरोपण से, कलशारोहण से, विशेष शब्दों के करने वाले बाजों से, घण्टा, चँवर, दर्पण आदि से उन चैत्यालयों की उत्कृष्ट शोभा को बढ़ा कर, पुण्य का संचय करते हैं । इसलिए भव्य जीवों को चैत्यालय का निर्माण अवश्य ही कराना चाहिए ।

षट् आवश्यकपूर्वक अणुव्रत धारण करने का उपदेश

ते चाऽणुव्रतधारिणोऽपि नियतं, यान्त्येव देवाऽऽलयं;
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकाऽमरपदं, तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्राऽऽगत्य पुन: कुलेऽतिमहति, प्राप्य प्रकृष्टं शुभात्-;
मानुष्यं च विरागतां च सकल,-त्यागं च मुक्तास्तत: ॥24॥
यदि वे अणुव्रत धारी हों तो, निश्चित सुरपद प्राप्त करें ।
वहाँ महान ऋद्धिधारक सुर, हो चिरकाल विलास करें॥
और पुन: शुभ-कर्म-योग से, नरगति उत्तम कुल पाते ।
सकल परिग्रह-त्याग विरागी, होकर मुक्तिपुरी जाते॥

अन्वयार्थ : जो षट् आवश्यकपूर्वक अणुव्रत को धारण करने वाले श्रावक हैं, वे नियम से स्वर्ग जाते हैं । वहाँ पर महान ऋद्धिधारी देव होकर, चिरकाल तक निवास करते हैं । पश्चात् वे इस मृत्यु लोक में आकर शुभकर्म के योग से अत्यन्त उत्तम कुल में मनुष्य जन्म पाकर तथा वैराग्य को धारण कर और समस्त बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का नाश कर, सीधे सिद्धालय को पधारते हैं, वहाँ पर अनन्त सुख के भोगने वाले होते हैं । इस प्रकार जब अणुव्रत आदि भी मुक्ति के कारण हैं तो भव्यों को चाहिए कि वे षट् आवश्यकपूर्वक अणुव्रतों को प्रयत्नपूर्वक धारण करें ।

चार पुरुषार्थों में धर्म और मोक्ष - ये दो पुरुषार्थ ही उपादेय

पंुसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो, मोक्ष: परं सत्सुख:;
शेषास्तद्विपरीत-धर्म-कलिता, हेया मुमुक्षोरत: ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो, धर्मोऽपि नो सम्मत:;
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुन:, पापं बुधैर्मन्यते ॥25॥
चारों पुरुषार्थों में अविनाशी, सुखमय है शिव-पुरुषार्थ ।
शेष तीन विपरीत स्वभावी, अत: मुमुक्षु जानें व्यर्थ॥
किन्तु धर्म यदि मोक्ष हेतु हो, तो ही उपादेय जानें ।
यदि भोगों के लिए धर्म हो, ज्ञानी उसे पाप मानें॥

अन्वयार्थ : चार पुरुषार्थों में मनुष्य के लिए अविनाशी तथा उत्तम सुख का भण्डार मोक्ष पुरुषार्थ ही है; किन्तु मोक्ष के अतिरिक्त अर्थ, काम आदि पुरुषार्थ धर्म के विपरीत भजने वाले हैं । इसलिए वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने योग्य हैं । धर्म नामक पुरुषार्थ, यदि मोक्ष का कारण हो तो वह अवश्य ग्रहण करने योग्य है; किन्तु यदि वही पुरुषार्थ, नाना प्रकार के भोग-विलास का कारण हो तो वह भी सर्वथा मानने योग्य नहीं है अर्थात् यदि वह धर्म पुरुषार्थ, भोग-विलास में कारण हो तो उसे ज्ञानीजन पाप ही मानते हैं ।

अणुव्रत-महाव्रत धारण करने का फल मोक्ष या भोग-विलास?

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभि:, साध्योऽत्र मोक्ष: परं;
नाऽन्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयात्, जीव: सुखी जायते ।
सर्वं तु व्रतजातमीदृशधिया, साफल्यमेत्यऽन्यथा;
संसाराऽऽश्रयकारणं भवति यत्, तद्दु:खमेव स्फुटम् ॥26॥
भविजन अणुव्रत और महाव्रत, द्वारा शिवपद ही साधें ।
क्योंकि मोक्ष में जीव सुखी हो, अत: अन्य कुछ नहिं चाहें॥
व्रताचरण यदि मोक्ष-प्राप्ति के, लिए करें तो होय सफल ।
नहिं तो वे ही भव के कारण, अत: दु:खमय अरु निष्फल॥

अन्वयार्थ : भव्य जीव, अणुव्रत तथा महाव्रत को मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही धारण करते हैं; उनको धारण करने से उन्हें अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं होती है क्योंकि निश्चयनय से जीव को सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही होती है । मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो अणुव्रत, महाव्रत आदि आचरण किये जाते हैं, वे ही सफल समझे जाते हैं । लेकिन जो व्रत, मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं हैं, वे संसार के ही कारण हैं; दु:खस्वरूप ही हैं - यह भलीभाँति स्पष्ट है । इसलिए भव्य जीवों को मोक्ष के लिए ही व्रतों को धारण करना चाहिए ।

उपसंहार में देशव्रतोद्योतन का फल

यत्कल्याणपरम्पराऽर्पणपरं, भव्याऽऽत्मनां संसृतौ;
पर्यन्ते यदनन्त-सौख्य-सदनं, मोक्षं ददाति ध्रुवम् ।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरता,-मुख्यैर्गुणै: प्रापितं;
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं, देशव्रतोद्योतनम् ॥27॥

'सिद्ध-स्तुति' अधिकार का मङ्गलाचरण करते हुए सिद्धों की महिमा

(शार्दूलविक्रीडित)
सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनोऽवधिदृश:, पश्यन्ति नो यान्परे;
यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं, स्वच्छं भमेकं यथा ।
सिद्धानामहमप्रमेयमहसां, तेषां लघुर्मानुषो;
मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा, भक्त्या महत्या वश: ॥1॥
(वीर छन्द)
सूक्ष्म अत: नहिं देख सके, अणुदर्शी साक्षात् अवधिज्ञान ।
केवल-रवि महिमा में त्रिभुवन, नभ में इक नक्षत्र समान॥
जिनका तेज अपरिमित उन, सिद्धों की स्तुति मूढ़मति ।
कैसे करे? किन्तु मैं करता, भक्ति से प्रेरित स्तुति॥

अन्वयार्थ : परमाणु पर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को देखने वाले अवधिज्ञानी पुरुष भी अत्यन्त सूक्ष्म सिद्धों को नहीं देख सकते हैं, जिन सिद्धों के ज्ञान की महिमा में, ये तीन लोक, निर्मल नक्षत्र के समान स्थित मालूम पड़ते हैं तथा जो अपरिमित तेज के धारी हैं; उन सिद्धों की स्तुति मैं

अत्यन्त छोटा तथा अज्ञानी मनुष्य, किस प्रकार कर सकता हूँ? अर्थात् मैं उनकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हूँ तो भी प्रबल भक्ति से प्रेरित होकर मैं उनकी स्तुति करता हूँ ।

तीर्थंकर भी जिस पद के अभिलाषी - ऐसे सिद्धों को नमस्कार

नि:शेषाऽमरशेखराऽऽश्रितमणि,-श्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वयं;
देवास्तेऽपि जिना यदुन्नतपद,-प्राप्त्यै यतन्ते तराम् ।
सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरम,-ज्ञानादिभि: क्षायिकै:;
युक्ता न व्यभिचारिभि: प्रतिदिनं, सिद्धान्नमामो वयम् ॥2॥
सुर-मुकुटों की मणि से जिनके, पूजित होते युगल-चरण ।
तीर्थंकर भी जिस उन्नत पद, पाने हेतु करें प्रयत्न॥
नहीं अन्य में अद्वितीय, कैवल्य आदि क्षायिक गुणखान ।
सर्वोत्कृष्ट वृद्धिंगत सिद्धों, को प्रतिदिन हम करें प्रणाम॥
अन्वयार्थ : समस्त प्रकार के देवों के मुकटों में लगी हुई मणि से जिनके चरणों के युग्म (युगल) पूजित हैं - ऐसे उत्कृष्ट तीर्थंकर देव भी जिस सिद्धपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं; ऐसे समस्त लोक के शिखर पर विराजमान तथा कलंकरहित अत्यन्त विस्तीर्ण ज्ञान आदि क्षायिक गुणों के धारी सिद्धों को प्रतिदिन हम नमस्कार करते हैं ।

सिद्धों का स्वरूप

ये लोकाऽग्रविलम्बिनस्तदधिकं, धर्मास्तिकायं विना;
नो याता: सहजस्थिराऽमललसद्, दृग्बोधसन्मूर्तय: ।
सम्प्राप्ता: कृतकृत्यतामसदृशा:, सिद्धा जगन्मंगलं;
नित्याऽऽनन्दसुधारसस्य च सदा, पात्राणि ते पान्तु व: ॥3॥
नहिं धर्मास्तिकाय है ऊपर, अत: विराजे हैं लोकाग्र ।
स्वाभाविक निश्चल अति निर्मल, दर्श-ज्ञान से हैं शोभित॥
प्राप्त किया कृतकृत्यपना, जो अनुपम जग-मंगलकारी ।
नित्यानन्द सुधारस-पात्र, करें रक्षा हम सब जन की॥
अन्वयार्थ : जो सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग में विराजमान हैं, जो धर्मास्तिकाय की सहायता से लोक के अग्र भाग में गये है, जिनका स्वरूप स्वाभाविक तथा निश्चल निर्मल ज्ञान-दर्शन से शोभायमान हैं, जो कृतकृत्य हैं, जिनकी उपमा को कोई भी धारण नहीं कर सकता, जो समस्त जगत् में मंगल करने वाले हैं तथा जो अविनाशी आनन्दरूपी अमृत के पात्र हैं - ऐसे सिद्ध भगवान, हमारी रक्षा करें अर्थात् सिद्ध भगवान को मेरा सदा नमस्कार है ।

सिद्ध भगवान, तीन जगत के शिखामणि

ये जित्वा निजकर्म-कर्कश-रिपून्, प्राप्ता: पदं शाश्वतं;
येषां जन्म-जरा-मृति-प्रभृतिभि:, सीमाऽपि नोल्लंघ्यते ।
येष्वैश्वर्यमचिन्त्यमेकमसम,-ज्ञानाऽऽदि-संयोजितं;
ते सन्तु त्रिजगच्छिखाग्रमणय:, सिद्धा मम श्रेयसे ॥4॥
कर्कश कर्म-शत्रु को जीता, शाश्वत शिवपद प्राप्त किया ।
जन्म-जरा-मरणादि दोष, जिनकी नहिं लाङ्घ सके सीमा॥
जो अनन्तज्ञानादि अचिन्त्य, ऐश्वर्य के स्वामी हैं ।

त्रिभुवन के हैं शिखामणि वे, सिद्ध प्रभु कल्याण करें॥

अन्वयार्थ : जो सिद्ध महाराज, अपने समस्त कठोर कर्मरूपी वैरियों को जीत कर, अविनाशी सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं । जन्म-जरा-मरण आदि अठारह दोष जिनके पास फटकते भी नहीं हैं तथा जो अनन्त ज्ञानादि अचिन्त्य ऐश्वर्य के धारी हैं - ऐसे तीन जगत के शिखामणि सिद्ध भगवान, मेरा कल्याण करें, उन सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

'आदा णाण पमाणो' आत्मा ज्ञानप्रमाण है

सिद्धो बोधमिति: स बोध उदितो, ज्ञेयप्रमाणो भवेत्;
ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदन्त्याऽऽत्मेति सर्वस्थित: ।
मूषायां मदनोज्झिते हि जठरे, यादृग् नभस्तादृश:;
प्राक्कायात्किमपि प्रहीण इति वा, सिद्ध: सदानन्दति ॥5॥
ज्ञान-प्रमाण सिद्ध भगवन् हैं, ज्ञेय-प्रमाण कहा वह ज्ञान ।
लोकालोक प्रमाण ज्ञेय है,अत: आत्मा त्रिभुवन-व्याप्त॥
साँचे में से मोम निकलने, पर ज्यों नभवत् पुरुषाकार ।
आनन्दित हैं सिद्ध चरम तन, से हैं किञ्चित् न्यूनाकार॥

अन्वयार्थ : निष्कलंक शुद्धात्मा सिद्ध भगवान, सर्वत्र ज्ञान-प्रमाण हैं; ज्ञान, ज्ञेय (पदार्थ) प्रमाण है; ज्ञेय, लोकालोक प्रमाण हैं - इस युक्ति से आत्मा सर्वत्र विद्यमान है अर्थात् व्यापक है । जिस प्रकार मनुष्याकार एक मोम की पुतली बना कर, उसके ऊपर मिट्टी का लेप चढ़ा कर, फिर उस पुतली को तपा कर, मोम निकल जाने के बाद, उस मूषा में पुरुषाकार आकाश रह जाता है; उसी प्रकार सिद्धावस्था के पूर्व शरीर से कुछ कम आत्म-प्रदेशों के आकार स्वरूप वह शुद्धात्मा है अर्थात् वह अव्यापक भी है । इसलिए व्यापकत्व-अव्यापकत्व - ऐसे दोनों धर्मों से संयुक्त सिद्ध परमेष्ठी सदा जयवन्त हैं ।

अष्ट कर्म से रहित तथा अष्ट गुण से अलंकृत सिद्ध भगवान

दृग्बोधौ परमौ तदावृतिहते:, सौख्यं च मोहक्षयात्;
वीर्यं विघ्न-विघाततोऽप्रतिहतं, मूर्तिर्न नाम-क्षते: ।
आयुर्नाशवशान्न जन्म-मरणे, गोत्रे न गोत्रं विना;
सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्, दु:खं सुखं चाक्षजम् ॥6॥
तदावरण-क्षय से दृग-ज्ञान अनन्त मोह-क्षय से सुख है ।
अनन्त-वीर्य-क्षय अन्तराय से, है अमूर्त नाम-क्षय से॥
जन्म-मरण नहिं आयु-क्षय से, अगुरुलघु हैं गोत्र बिना ।
इन्द्रिय सुख-दु:ख नहीं सिद्ध के, वेदनीय की प्रकृतिबिना॥

अन्वयार्थ : ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणकर्म के नाश हो जाने से तो सिद्धों को अनन्तज्ञान तथा अनन्तदर्शन प्राप्त हुए हैं । मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उनको अनन्तसुख की प्राप्ति हुई है । वीर्यान्तरायकर्म के नाश हो जाने के कारण उनको अनन्तवीर्य की प्राप्ति हुई है । नामकर्म के अभाव से अमूर्त होने से उनकी कोई मूर्ति नहीं है । आयुकर्म का नाश हो जाने के कारण न उनके जन्म है, न मरण है । गोत्रकर्म का नाश होने से उनका कोई गोत्र नहीं है तथा वेदनीयकर्म के नाश हो जाने के कारण सिद्धों के इन्द्रियजन्य सुख-दु:ख भी नहीं है ।

अनन्तज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के धारक सिद्ध भगवान

यैर्दु:खानि समाप्नुवन्ति विधिवत्, जानन्ति पश्यन्ति नो;
वीर्यं नैव निजं भजन्त्यसुभृतो, नित्यं स्थिता: संसृतौ ।

कर्माणि प्रहतानि तानि महता, योगेन यैस्ते सदा;
सिद्धा नित्यचतुष्टयाऽमृतसरित्, नाथा भवेयुर्न किम् ॥7॥
जिनसे जीव विविध दु:ख सहते, निज को नहिं जानें-देखें ।
भ्रमण चतुर्गति करें निरन्तर, निज सामर्थ्य न प्राप्त करें॥
दुर्धर ज्ञान-योग के द्वारा, जिनने उनका नाश किया ।
नित्य अनन्त चतुष्टय अमृत-सागर सिद्ध नहीं हैं क्या ?
अन्वयार्थ : संसार में जिन कर्मों के निमित्त से संसारी जीव, नाना प्रकार के दु:खों को सहन करते हैं तथा वास्तविक रीति से पदार्थों के स्वरूप को न तो जानते हैं, न देखते हैं । जिन कर्मों की कृपा से जीव सामर्थ्य को भी प्राप्त नहीं करते हैं, उन कर्मों को जिन्होंने दुर्धर ध्यान के द्वारा जड़ से नष्ट कर दिया है - ऐसे वे सिद्ध भगवान, क्या अनन्त विज्ञान आदि अनन्त चतुष्टयरूपी अमृत नदी के स्वामी (समुद्र) अर्थात् अनन्त चतुष्टय के धारी नहीं हैं ?

सभी जीवों में सिद्ध जीव, सबसे अधिक ज्ञानी और सुखी

एकाऽक्षाद्बहुकर्मसंवृतमते:, द्व्यक्षादिजीवा: सुख-;
ज्ञानाऽधिक्ययुता भवन्ति किमपि, कलेशोपशान्तेरिह ।
ये सिद्धास्तु समस्तकर्मविषम, ध्वान्तप्रबन्धच्युता:;
सद्बोधा: सुखिनश्च ते कथमहो, न स्युस्त्रिलोकाधिपा: ॥8॥
कर्मावरण-सहित एकेन्द्रिय-जीवों से त्रस-जीवों को ।
किञ्चित् सुख अरु ज्ञान अधिक है, कर्म-आवरणहीन कहो॥
तो जो सब कर्मों से विरहित, तीन लोक के स्वामी हों ।
ऐसे भगवन् सिद्ध प्रभु क्यों, परम ज्ञान-सुख-लीन न हों॥
अन्वयार्थ : बहुत कर्मों से छिपा हुआ है ज्ञान जिनका, ऐसे एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा, जब कुछ दु:खों की शान्ति की अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि जीव अधिक सुखी तथा अधिक ज्ञानवान हैं तो जो समस्त कर्मरूपी भयंकर अन्धकार के सम्बन्ध से रहित हैं और जो तीन लोक के स्वामी हैं - ऐसे सिद्ध भगवान, सबसे अधिक श्रेष्ठ ज्ञान के धारी तथा अधिक सुखी क्यों न होंगे?

सिद्धों के अनन्तसुखी होने में संसारी जीवों का उदाहरण

य: केनाऽप्यऽतिगाढगाढमभितो, दु:खप्रदै: प्रग्रहै:;
बद्धोऽन्यैश्चनरो रुषा घनतरैराऽऽपादमाऽऽमस्तकम् ।
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते, सौख्यं स सिद्धा: पुन:;
किं न स्यु: सुखिन: सदा विरहिता, बाह्याऽन्तरैर्बन्धनै: ॥9॥
यदि किसी को कोई क्रोध से, अति दु:खदायी बन्धन से ।
मस्तक से पैरों तक चारों, ओर जोर से बाँध रखे॥
यदि एक भी रस्सी ढीली होवे तो वह सुख माने ।
बाह्याभ्यन्तर बन्ध रहित श्री सिद्ध प्रभु क्यों सुखी न हों॥
अन्वयार्थ : कोई मनुष्य, किसी मनुष्य को क्रोध से अत्यन्त दु:ख को देने वाले कठिन बन्धनों के द्वारा पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त चारों ओर से बाँधे, उस बन्धन की यदि एक भी रस्सी ढीली हो जाए तो वह जीव, बँधा हुआ भी सुख मानता है; फिर जो समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह के बन्धन से रहित हैं - ऐसे सिद्ध भगवान क्यों नहीं सर्वोत्कृष्ट सुखी होंगे ?

संसारी जीव - अनन्तदु:खी और सिद्ध जीव - अनन्तसुखी

सर्वज्ञ: कुरुते परं तनुभृत:, प्राचुर्यत: कर्मणां;
रेणूनां गणनं किलाऽधिवसता,-मेकं प्रदेशं घनम् ।
इत्याशास्वखिलासु बद्धमहसो, दु:खं न कस्माद्भवेत्;
मुक्त्या यस्य तु सर्वत: किमिति नो, जायेत सौख्यं परम् ॥10॥
इक-इक प्रदेश में कर्मों के, इतने परमाणु सघन बसे ।
प्रभु सर्वज्ञ अलावा कोई, उनकी गणना कर न सके॥
उनसे जिनका तेज ढका वे, प्राणी क्यों न दु:खी होंगे ?
मुक्त सर्वथा कर्मों से, क्यों सिद्ध न परम सुखी होंगे ?

अन्वयार्थ : आत्मा के एक-एक प्रदेश में भी सघन रीति (परस्पर अवगाह) से व्याप्त इतने अधिक परमाणु हैं कि उनकी गिनती सर्वज्ञ को छोड़ कर, दूसरा कोई नहीं कर सकता - इस रीति से आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त परमाणुओं के चिपटने (बँधने) के कारण जिस आत्मा का तेज चारों ओर से रुक गया है अर्थात् वह आत्मा न तो भलीभाँति पदार्थों को जान ही सकता है और न देख ही सकता है - ऐसे उस आत्मा को क्यों नहीं दु:ख होगा ? किन्तु जिसने समस्त कर्मों को जड़ से उड़ा दिया है अर्थात् जिसकी आत्मा के प्रदेशों में किसी भी प्रकार का कोई कर्मबन्ध नहीं है - ऐसे सिद्ध भगवान को अनन्तसुख क्यों नहीं होगा ?

सिद्धों के अनन्त तृप्त होने का कारण

येषां कर्म-निदानजन्य-विविध, क्षुत्तृण्मुखा व्याधय:;
तेषामन्न-जलादिकौषध-गण:, तच्छान्तये युज्यते ।
सिद्धानां तु न कर्म तत्कृतरुजो, नाऽत: किमन्नादिभि:;
नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगता:, तृप्तास्त एव ध्रुवम् ॥11॥
कर्मों से उत्पन्न क्षुधादिक, व्याधि रहें जिन जीवों को ।
उनके शमन हेतु जल-अन्न आदि लेना पड़ते उनको॥
सिद्धों के नहिं कर्म अत:, उनको अन्नादिक से क्या काम ?
आत्मोत्पन्न सुखामृत-सागर, में निमग्न हो लें विश्राम॥
जिन संसारी जीवों में कर्म के उदय से उत्पन्न हुए क्षुधा-तृषा आदि रोग हैं,

अन्वयार्थ : उनको उन रोगों की शान्ति के लिए अन्न-जल आदि का आश्रय लेना पड़ता है; किन्तु सिद्ध भगवान के तो कर्म ही नहीं हैं तथा कर्मों के अभाव में उनको अन्न, जल आदि का आश्रय भी नहीं लेना पड़ता; इसलिए निश्चय से अविनाशी और आत्मा से ही उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृत-समुद्र में मग्न सिद्ध ही अत्यन्त तृप्त हैं - ऐसा समझना चाहिए ।

योगीश्वर भी सिद्धों के समान

सिद्ध-ज्योतिरतीव-निर्मल-तरं, ज्ञानैक-मूर्तिस्फुरत्;
वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते, योगी स्थिरं तत्पदम् ।
सद्-बुद्ध्याऽथ विकल्प-जाल-रहित:, तद्रूपतामापतं;
तादृग्जायत एव देव-विनुत:, त्रैलोक्य-चूडामणि: ॥12॥
निर्मल ज्ञान ज्योतिमय मूर्ति-आराधन से योगीजन ।
ज्यों बाती दीपक हो जाती, वे भी होते सिद्ध स्वयं॥
भेद-ज्ञान से निर्विकल्प हो, प्राप्त करें योगी सिद्धत्व ।
सुर-वन्दित हो त्रिभुवन-चूड़ामणि हो जाते सिद्धों सम॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार बाती, स्फुरायमान दीपक के संग से दीपपने को प्राप्त हो जाती है; उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल ज्ञानस्वरूप

स्फुरायमान है मूर्ति जिसकी - ऐसी सिद्धज्योति की आराधना करने से मुनिगण भी उस स्थिर सिद्धपद को प्राप्त हो जाते हैं अथवा समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित होकर जो योगीश्वर, श्रेष्ठ बुद्धि से उन सिद्धों के स्वरूप को प्राप्त होकर, उनके स्वरूप का ध्यान करते हैं; वे भी समस्त देवों में वन्दनीय तथा तीन लोक के चूड़ामणि अर्थात् सिद्धों के समान पूज्य हो जाते हैं ।

सिद्ध-ज्योति का अनेकान्तात्मक स्वरूप

यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यत्, नो शून्यमुत्पद्यते;
नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा, नास्त्येव चास्त्येव यत् ।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि, प्राप्तं प्रतीतिं दृढां;
सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं, केनाऽपि तल्लभ्यते ॥13॥
जो है सूक्ष्म-महान और जो, शून्य-अशून्य तथा उत्पन्न ।
व्ययस्वरूप अरु नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति से भी वर्णन॥
एक-अनेकस्वरूप वही है, तो भी जिसका दृढ़ श्रद्धान ।
चिदानन्दमय सिद्ध ज्योति को, पा सकता विरला महान॥

अन्वयार्थ : जो सिद्ध-ज्योति सूक्ष्म भी है और महान भी है, शून्य भी है और शून्य नहीं भी है, विनाशीक भी है और नित्य भी है, है भी और नहीं भी है तथा एक भी है और अनेक भी है - ऐसे अनेक धर्मों को लिये हुए है तथा स्याद्वाद से जिसकी प्रतीति दृढ़ है - ऐसी अमूर्तिक तथा ज्ञान-सुखस्वरूप सिद्धों की ज्योति (तेज) को संसार में कोई विरला मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है, सब नहीं ।

स्याद्वाद का ज्ञाता ही सिद्धों को जानने में समर्थ

स्याच्छब्दाऽमृतगर्भिताऽऽगम-महा, रत्नाकर-स्नानतो;
धौता यस्य मति: स एव मनुते, तत्त्वं विमुक्ताऽऽत्मन: ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमते:, साक्षादुपादेयतां;
भेदेन स्वकृतेन तेन च विना, स्वं रूपमेकं परम् ॥14॥
स्याद्वाद अमृतमय आगम-रत्नाकर में कर स्नान ।
वह निर्मल मति ही कर सकता, सिद्ध-तत्त्व का सम्यग्ज्ञान॥
जब तक उसकी मति में होता, संसारी-सिद्धों का भेद ।
उपादेय हैं सिद्ध तभी तक, भेद बिना निजरूप अभेद॥

अन्वयार्थ : जिस पुरुष की बुद्धि, स्याद्वादरूपी जल से भरे हुए विस्तीर्ण सागर में स्नान करने से निर्मल हो गई है, धुल गई है अर्थात् जो स्याद्वाद का जानकार है; वही मनुष्य, सिद्धों के स्वरूप को जानता है तथा वही बुद्धिमान, उन सिद्धों के स्वरूप को साक्षात् रीति से प्राप्त होता है । अपने से किया हुआ जो भेद, उसके दूर हो जाने पर अपना जो स्वरूप है, वही सिद्धों का स्वरूप ज्ञात होता है । जब तक आत्मा में मेरा-तेरा भेद रहता है, तब तक आत्मा मलिन ही है, किन्तु जिस समय यह भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है, उस समय मलिनतारहित होने के कारण अपनी आत्मा का स्वरूप ही सिद्धस्वरूप प्रतिभासित होता है; इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे स्याद्वाद का स्वरूप भलीभाँति पहचान कर, सिद्धों के स्वरूप को पहचाने ।

मुमुक्षु जीव पर तत्त्वदृष्टि का प्रभाव

दृष्टिस्तत्त्वविद: करोत्यविरतं, शुद्धात्मरूपे स्थिता;
शुद्धं तत्पदमेकमुल्बणमते,-रन्यत्र चाऽन्यादृशम् ।
स्वर्णात्तन्मयमेव वस्तु घटितं, लोहाच्च मुक्त्यर्थिना;
मुक्त्वा मोहविजृम्भितं ननु पथा, शुद्धेन संचर्यताम् ॥15॥

तत्वज्ञों की दृष्टि निरन्तर, आत्म-लीन शिवपद-दायी ।
अज्ञानी की दृष्टि लीन है, पर में भ्रमती चतुर्गति॥
स्वर्ण-विनिर्मित वस्तु स्वर्णमय, लौह विनिर्मित लौह-स्वरूप ।
अत: मुमुक्ष मोह-त्याग कर, गमन करें शिवमार्ग अनूप॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सोने से बना हुआ पात्र सुवर्णस्वरूप ही होता है तथा लोहे से बना हुआ पात्र लौहस्वरूप ही होता है; उसी प्रकार शुद्ध आत्मस्वरूप में निश्चल रीति से ठहरी हुई तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृष्टि, निर्मल दैदीप्यमान एक अविनाशी मोक्षपद प्राप्त कराती है और तत्त्वज्ञानरहित पुरुष की दृष्टि, शुद्धात्मस्वरूप से अतिरिक्त स्थान में ठहरने के कारण मोक्ष से भिन्न नरक, तिर्यंच आदि स्थानों को प्राप्त कराती है । इसलिए मोक्ष के अभिलाषी मनुष्यों को मोह उत्पन्न करने वाले मार्ग को छोड़ कर, निश्चय से शुद्ध मार्ग से ही गमन करना चाहिए ।

अशुद्ध आत्मा को भी शुद्ध कैसे देखें? - इसका उदाहरण

निर्दोषश्रुतचक्षुषा षडपि हि, द्रव्याणि दृष्ट्वा सुधी:;
आदत्ते विशदं स्वमन्यमिलितं, स्वर्णं यथा धावक: ।
य: कश्चित् किल निश्चिनोति रहित:, शास्त्रेण तत्त्वं परं;
सोऽन्धो रूपनिरूपणं हि कुरुते, प्राप्तो मन:शून्यताम् ॥16॥
निर्मल श्रुत-चक्षु से ज्ञानी, छह द्रव्यों में मिश्रितरूप ।
निज-स्वरूप को भिन्न देखते, स्वर्णकारवत् स्वर्णस्वरूप॥
यदि कोई आगम-चक्षु बिन, निज स्वरूप लखना चाहे ।
मूढ़ पुरुष वह मन अरु चक्षु, बिना रूप लखना चाहे॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार स्वर्णकार, अन्य धातुओं से मिले हुए सुवर्ण को भी नेत्रों से जुदा कर देख लेता है; उसी प्रकार विद्वान् पुरुष, निष्कलंक शास्त्ररूपी नेत्र से छह द्रव्यों को भलीभाँति देख कर, अन्य द्रव्यों से मिले हुए अपने निर्मल आत्म-स्वरूप को भी जुदा कर ग्रहण करते हैं; किन्तु जो मनुष्य, शास्त्र के बिना देखे (पढ़े/सुने) ही उत्कृष्ट तत्त्व का निश्चय करते हैं, वे मन रहित अन्धे होकर रूप को देखना चाहते हैं - ऐसा मालूम होता है ।

हेय-उपादेय का ज्ञान ही सिद्धदशा की प्राप्ति का बीज

यो हेयेतर-बोध-सम्भृत-मति:, मुञ्चन् स हेयं परं;
तत्त्वं स्वीकुरुते तदेव कथितं, सिद्धत्व-बीजं जिनै: ।
नान्यो भ्रान्तिगत: स्वतोऽथ परतो, हेये परेऽर्थेऽस्य तद्;
दुष्प्रापं शुचि वर्त्म येन परमं, तद्धाम सम्प्राप्यते ॥17॥
हेय-ग्राह्य के ज्ञानी त्याग, करें जब हेय पदार्थों का ।
उपादेय को ग्रहण करें यह, बीज कहें जिन शिवतरु का॥
हेय-ग्राह्य तत्त्वों में जिनको, स्व-पर हेतु से भ्रान्ति रहे ।
दुर्लभ निर्मल शिवपथ उनको, मोक्ष-धाम भी दुर्लभ है॥

अन्वयार्थ : जिस मनुष्य को 'यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है' - इस प्रकार का ज्ञान है; वह मनुष्य, त्यागने योग्य वस्तु को छोड़ कर, ग्राह्य स्वरूप को ग्रहण करता है और वह ग्राह्य स्वरूप का स्वीकार ही सिद्धपने का कारण है - ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है तथा जो मनुष्य, त्यागने योग्य अपने से भिन्न पदार्थों में अपने आप या पर के उपदेश से भ्रान्त (भ्रमसहित) होता है, उस अज्ञानी को अत्यन्त निर्मल मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती; जब उसे निर्मल मार्ग की ही प्राप्ति नहीं हुई तो उत्कृष्ट मोक्ष स्थान की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

सिद्धत्व के अलावा अन्य प्रयोजन मिथ्या

साऽङ्गोपाङ्गमपि श्रुतं बहुतरं, सिद्धत्व-निष्पत्तये;
येऽन्याऽर्थं परिकल्पयन्ति खलु ते, निर्वाण-मार्गच्युता: ।
मार्गं चिन्तयतोऽन्वयेन तमति,-क्रम्याऽपरेण स्फुटं;
नि:शेषं श्रुतमेति तत्र विपुले, साक्षाद्विचारे सति ॥18॥
अंगोपांग समस्त शास्त्र हैं, एकमात्र शिवपद के **अर्थ** ।
किन्तु प्रयोजन अन्य चाहते, जो हैं वे शिवपद से भ्रष्ट॥
परम्परा श्रुत-आलम्बन तज, करे मार्ग का जो सुविचार ।
प्राप्त करे स्पष्ट भावश्रुत, से वह सब शास्त्रों का सार॥

अन्वयार्थ : अङ्ग तथा उपाङ्ग सहित जितने भी शास्त्र हैं, वे सब सिद्धपने की प्राप्ति के लिए ही हैं; किन्तु जो अज्ञानी मनुष्य, उनको अन्य प्रयोजन के लिए कल्पना करते हैं, वे निश्चय से मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग का उनको अंशमात्र भी ज्ञान नहीं है क्योंकि विचारशील होने पर परम्परा से आये हुए द्रव्यश्रुत को छोड़ कर, यदि वह भावश्रुत से भी मार्ग का चिन्तवन करे तो भी उनके स्फुट रीति से समस्त शास्त्र की प्राप्ति होती है ।

सिद्ध-स्तुति, मोक्षरूपी महल के लिए सीढ़ी के समान

नि:शेषश्रुतसम्पद: शमनिधे,-राराधनाया: फलं;
प्राप्तानां विषये सदैव सुखिना,-मल्पैव मुक्तात्मनाम् ।
उक्ता भक्तिवशान्मयाप्यविदुषा, या सापि गी: साम्प्रतं;
नि:श्रेणिर्भवतादऽनन्त-सुख-तद्धामाऽऽरुरुक्षोर्मम ॥19॥
जो अशेष श्रुतसम्पति शमनिधि, आराधन का फलअमलान ।
शाश्वत सुखमय सिद्धों की, स्तुति में जो कुछ यह गुणगान॥
भक्तिभाव से प्रेरित होकर, मुझ अज्ञानी द्वारा कथन ।
सुखमय मोक्षमहल के वाञ्छक, मेरे लिए नसैनी समान॥

अन्वयार्थ : जिन्होंने समस्त शास्त्ररूपी सम्पदा प्राप्त करके प्रशमवान होकर, आत्मतत्त्व की आराधना के फल को प्राप्त कर लिया है तथा जो सदाकाल सुखी हैं - ऐसे सिद्धों के विषय में मुझ अपण्डित ने भक्तिवश थोड़ी-सा कथन किया है अर्थात् जो कुछ भक्तिपूर्वक उनकी थोड़ी स्तुति की है; वह थोड़ी-सी वाणी (स्तुति), मुझे अनन्तसुखमय मोक्षरूपी महल पर चढ़ने की इच्छा करने वाले के लिए नि:श्रेणी (सीढ़ी) के समान है ।

मोक्षाभिलाषियों के मन में सिद्धस्वरूप तेज से तन्मयता

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते, स्वोत्पन्नमात्यन्तिकं;
नाशोत्पत्तियुतं तथाऽप्यविचलं, मुक्त्यर्थिनां मानसे ।
एकीभूतमिदं वसत्यऽविरतं, संसार-भारोज्झितं;
शान्तं जीवघनं द्वितीयरहितं, मुक्तात्मरूपं मह: ॥20॥
जानें-देखे अखिल विश्व को, भोगे स्वाश्रित सौख्य अनन्त ।
नाशोत्पत्ति सहित अविचल है, ध्यावे उसे मुमुक्षु मन॥
एकरूप वह बसे निरन्तर, जो है जग के भार रहित ।
पर से भिन्न ज्ञानघन शान्त-स्वभावी है सिद्धों का तेज॥

अन्वयार्थ : सिद्धस्वरूप तेज, समस्त लोक को देखता-जानता है, सबसे अन्त में होने वाले अनन्त आत्मिक सुख को प्राप्त करता है और

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित है । मोक्षाभिलाषी मनुष्यों के मन में वह तेज, संसार-भारमय जन्म-मरणादि से रहित, शान्त, ज्ञानस्वरूप और अपने से भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित सदा एकरूप ही विराजमान है ।

प्रमाण-नय-निक्षेप आदि से रहित सिद्ध भगवान का स्वरूप

त्यक्त्वा न्यास-नय-प्रमाण-विवृती:, सर्वं पुन: कारकं;
सम्बन्धं च तथा त्वमित्यहमिति, प्रायान् विकल्पानपि ।
सर्वोपाधि-विवर्जितात्मनि परं, शुद्धैक-बोधात्मनि;
स्थित्वा सिद्धिमुपाश्रितो विजयते, सिद्ध: समृद्धो गुणै: ॥21॥
नय-प्रमाण-निक्षेप विकल्पों, कर्ता-कर्म भेद को छोड़ ।
'मैं' 'तू'आदि विकल्प तथा सब, कृत्रिम सम्बन्धों को छोड़॥
कर्मोपाधि रहित होकर निज, ज्ञान-स्वभावी आतम में ।
लीन सदा जो गुण-समृद्ध, वे सिद्ध सदा जयवन्त रहें॥
अन्वयार्थ : जो सिद्ध भगवान, नाम-स्थापना आदि निक्षेपों को छोड़ कर, नैगम आदि नयों को त्याग कर, प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के व्यापार को छोड़ कर, कर्ता-कर्म-करण आदि कारकों को छोड़ कर, समस्त सम्बन्ध को तथा 'तू' 'मैं' इत्यादि समस्त विकल्पों को भी छोड़ कर, समस्त प्रकार की कर्मादि उपाधियों से रहित होकर, शुद्ध और ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में लीन होकर, मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; वे समस्त विज्ञान आदि गुणों से वृद्धि को प्राप्त भगवान, इस लोक में सदैव विशेष रीति से जयवन्त हैं अर्थात् ऐसे सिद्ध भगवान को मैं हाथ जोड़ कर, विशिष्ट रीति से नमस्कार करता हूँ ।

अलौकिक सिद्धस्वरूप तेज को नहीं देखने वाले मनुष्य मन्दबुद्धि

तैरेव प्रतिपद्यतेऽत्र रमणी,-स्वर्णाऽऽदि-वस्तु प्रियं;
तत्सिद्धैक-मह: सदऽन्तर-दृशा, मन्दैर्न यैर्दृश्यते ।
ये तत्तत्त्व-रस-प्रभिन्न-हृदया:, तेषामऽशेषं पुन:;
साम्राज्यं तृणवद्वपुश्च परवद्, भोगाश्च रोगा इव ॥22॥
अन्तर्दृष्टि द्वारा न देखें, जो सिद्धों का तेज-स्वरूप ।
उन्हीं मन्दमति को लगते हैं, स्वर्ण-रमा रमणीयस्वरूप॥
जिनका हृदय तत्त्व-रस भीगा, भोग लगे हैं रोग समान ।
राज्य जीर्ण तृण सम वे मानें, तन को लखते भिन्न सुजान॥
अन्वयार्थ : जिन मनुष्यों ने अन्तरंग दृष्टि से उस अलौकिक सिद्धस्वरूप तेज को नहीं देखा है; उन मूर्ख मनुष्यों को स्त्री, सुवर्ण आदि पदार्थ ही प्रिय मालूम पड़ते हैं; किन्तु जिन भव्य जीवों का हृदय, उन सिद्धों के स्वरूपरूपी रस से परिपूर्ण हो गया है; वे भव्य जीव समस्त साम्राज्य को तृण के समान जानते हैं, शरीर को पर (वैरी) समझते हैं और उन्हें भोग, रोग के समान मालूम होते हैं ।

यदि सिद्धों का ध्यान न हो सके तो उनका नामस्मरण करना भी श्रेयस्कर

वन्द्यास्ते गुणिनस्त एव भुवने, धन्यास्त एव ध्रुवं;
सिद्धानां स्मृतिगोचरं रुचिवशात्, नामाऽपि यैर्नीयते ।
ये ध्यायन्ति पुन: प्रशस्तमनस:, तान् दुर्गभूभृद्दरी;
मध्यस्था: स्थिरनासिकाग्रिमदृश:, तेषां किमु ब्रूमहे ॥23॥
प्रीति सहित स्मृति-गोचर, सिद्धों का नाम मात्र जपते ।
वे नर जग में गुणी धन्य अरु, वन्दनीय माने जाते॥

गिरि-शिखरों पर गुफा-मध्य में, करके जो दृष्टि नासाग्र ।
निर्मल मन से प्रभु को ध्याते, उनकी बात कहें हम क्या ?
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, प्रीतिपूर्वक सिद्धों के नाम का भी स्मरण करते हैं, वे मनुष्य भी जब संसार में वन्दनीय, गुणी और धन्य समझे जाते हैं; तब जो मनुष्य, पवित्र चित्त से किले, पर्वतों की गुफा के मध्य में बैठ कर तथा नाक के अग्रभाग में दृष्टि लगा कर, उन सिद्धों का ध्यान तथा उनके स्वरूप का मनन-चिन्तवन करते हैं, उनकी हम क्या बात कहें? इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे उन सिद्धों के स्वरूप का भलीभाँति ध्यान करें । यदि ध्यान न हो सके तो उनके नाम का स्मरण अवश्य ही करें ।

समस्त विद्वानों में अग्रणी विद्वान कौन?

य: सिद्धे परमात्मनि प्रवितत,-ज्ञानैकमूर्तौ किल;
ज्ञानी निश्चयत: स एव सकल,-प्रज्ञावतामग्रणी: ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितै:, किं तत्र शून्यैर्यतो;
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये, तद्बाणमावर्ण्यते ॥24॥
विशद् ज्ञान की मूर्ति सिद्धप्रभु, को जो ज्ञानीजन जानें ।
निश्चय से वे ही सब विद्वानों में श्रेष्ठ कहे जाते॥
यदि सिद्धों का ज्ञान नहीं तो, व्यर्थ सभी शास्त्रों का ज्ञान ।
क्योंकि लक्ष्य को भेद सके जो, जगजन कहें उसी को बाण॥
अन्वयार्थ : विस्तीर्ण ज्ञान ही है एक स्वरूप जिनका - ऐसे सिद्ध परमात्मा में जो पुरुष, अपने ज्ञान द्वारा स्थित है अर्थात् सिद्धस्वरूप को जो भलीभाँति जानने वाला है, वास्तविक रीति से वही समस्त विद्वानों में मुख्य है - ऐसा समझना चाहिए । यदि न्यायशास्त्र तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के जानकार भी हुए तथा हृदय से शून्य ही रहे तो उनसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि जो वेधने योग्य पदार्थ में निशान को लगाता है, वही बाण कहलाता है ।

सिद्धस्वरूप के जानने वाले को बाह्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन?

सिद्धात्मा परम: परं प्रविलसद्, बोध: प्रबुद्धात्मना;
येनाऽज्ञायि स किं करोति बहुभि:, शास्त्रैर्बहिर्वाचकै: ।
यस्य प्रोद्गत-रोचिरुज्ज्वलतनु:, भानु: करस्थो भवेत्;
ध्वान्तध्वंसविधौ स किं मृगयते, रत्नप्रदीपादिकान् ॥25॥
विलसित बोध-स्वरूप परम, सिद्धों को जिसने जान लिया ।
उस प्रबुद्ध को बाह्य शास्त्र, पढ़ने से कहो प्रयोजन क्या?
उदित रश्मियों सहित सूर्य यदि, विद्यमान कर में जिसके ।
अन्धकार के नाश हेतु वह, दीप-रत्न को क्यों खोजे ?
अन्वयार्थ : प्रबुद्ध है आत्मा जिसकी - ऐसे जिस जीव ने दैदीप्यमान ज्ञान के धारी तथा सर्वोत्कृष्ट - ऐसे सिद्ध भगवान के स्वरूप को जान लिया है, उस भव्य जीव को बाह्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि जिस मनुष्य के हाथ में, जिसकी किरण उदित हो रही है - ऐसा प्रकाशमान सूर्य मौजूद है; वह मनुष्य, अन्धकार का नाश करने के लिए क्या रत्न तथा प्रदीपादि पदार्थों का अन्वेषण करता है? अर्थात् कदापि नहीं ।

सिद्धों के समस्त आत्मप्रदेशों से कर्मबन्ध का नाश

सर्वत्र च्युतकर्मबन्धनतया, सर्वत्र सद्दर्शना:;
सर्वत्राऽखिलवस्तुजातविषय, व्यासक्तबोधत्विष: ।

सर्वत्र स्फुरदुन्नतोन्नतसदा,ऽऽनन्दात्मका निश्चला:;
सर्वत्रैव निराकुला: शिवसुखं, सिद्धा: प्रयच्छन्तु न: ॥26॥
कर्मबन्ध से रहित तथा जो, सद्-दर्शनमय हैं सर्वत्र ।
जगत्-प्रकाशक सम्यग्ज्ञान-किरण सम्पूर्ण आत्म में व्याप्त॥
सर्वोत्कृष्ट सदानन्दात्मक, अनुपम तेज प्रगट सर्वत्र ।
निश्चल और निराकुल शिवसुख, हमें प्रदान करें वे सिद्ध॥
अन्वयार्थ : जिन सिद्धों के समस्त आत्मप्रदेशों से सर्व कर्मबन्ध छूट गया है, जिसके समस्त आत्मप्रदेशों में समीचीन दर्शन मौजूद है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन अथवा अनन्तदर्शन के धारक हैं, समस्त पदार्थों के समूह को जानने वाली सम्यग्ज्ञानरूपी किरण जिनके समस्त आत्मप्रदेशों में व्याप्त है, जिनके सर्वोत्कृष्ट सत्स्वरूप तथा आनन्दस्वरूप तेज स्फुरायमान है तथा जो निश्चल और निराकुल हैं - ऐसे सिद्ध भगवान, हमारे लिए मोक्षसुख प्रदान करें ।

सिद्धों के मकान, सीढ़ी, मित्र, स्त्री आदि क्या है? -

आत्मोत्तुङ्ग-गृहं प्रसिद्ध-बहिराद्या,-त्मप्रभेद-क्षणं;
बह्वात्माध्यवसान-सङ्गत-लसत्, सोपान-शोभान्वितम् ।
तत्रात्मा विभुरात्मनात्म-सुहृदो, हस्तावलम्बी समा-;
रुह्यानन्द-कलत्र-संगत-भुवं, सिद्ध: सदा मोदते ॥27॥
बहिरात्मादिक भेदयुक्त, उत्तंगरूप यह आत्म-भवन ।
विविध आत्म-परिणामरूप, सोपानों की शोभा अनुपम॥
आत्मारूपी परम मित्र का, हाथ पकड़ कर चेतनराज ।
होकर सिद्ध-सच्चिदानन्द, रमणी संग भोगे सुक्ख अपार॥
अन्वयार्थ : जहाँ से बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा आदि के भेद को वास्तविक रीति से देख सकते हैं और जो आत्मा के अध्यवसान (चिन्तवन) रूप मनोहर सीढ़ी से शोभायमान है -ऐसा यह आत्मारूपी ऊँचा मकान है । उस पर विभु आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मारूपी मित्र के हाथ का सहारा लेकर, सिद्ध बन कर, चिदानन्दस्वरूप स्त्रीसहित, सिद्धशिला पर सदा आनन्द-मग्न रहते हैं ।

सिद्धों का स्वरूप ही मुझे अत्यन्त प्रिय

सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं, ते एव दृग्बोधने;
सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं, तन्मे प्रियं नेतरत् ।
इत्यालोच्य दृढं त एव च मया, चित्ते धृता: सर्वदा;
तद्रूपं परमं प्रयातु-मनसा, हित्वा भवं भीषणम् ॥28॥
वही एक ही सुगति वही सुख, वे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान ।
और सभी कुछ सिद्धरूप जो, मुझे वही प्रिय और न आन॥
यह विचार दृढ़ करके उन-सा, परमरूप पाने का मन ।
भीषण भवभय तज कर अब मैं, करूँ सर्वदा उनका ध्यान॥
अन्वयार्थ : जो सिद्धों की गति है, वही एक सुगति है; जो उनका सुख है, वही वास्तविक सुख है; वे सिद्ध ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं; इस प्रकार यह तथा इनसे भिन्न और भी जो सिद्धों का स्वरूप है, वह समस्त मुझे प्रिय है; किन्तु इनसे अतिरिक्त कुछ भी मुझे प्रिय नहीं है - ऐसा मन में दृढ़ श्रद्धान करके, मैंने सर्व काल उन्हीं सिद्धों का ध्यान किया है; इसलिए मन से भयंकर संसार का भय छोड़ कर, मुझे उत्कृष्ट सिद्धों के स्वरूप की प्राप्ति हो - ऐसी आशा करता हूँ ।

उपसंहार में 'सिद्ध-स्तुति' की वचनातीतता का निरूपण

ते सिद्धा: परमेष्ठिनो न विषया, वाचामतस्तान् प्रति;
प्रायो वच्मि यदेव तत्खलु नमस्यालेख्यमालिख्यते ।
तन्नामापि मुदे स्मृतं तत इतो, भक्त्याऽथ वाचालित:;
तेषां स्तोत्रमिदं तथापि कृतवानम्भोजनन्दी मुनि: ॥29॥
वचन-विषय हैं नहीं, सिद्ध परमेष्ठी अशरीरी भगवान ।
अत: गुणों का वर्णन उनका, नभ में लेखन चित्र समान॥
फिर भी उनके नाम मात्र, सुमिरन से हो आनन्द ।
अत: भक्ति से पद्मनन्दि ने, स्तवन रचा होकर वाचाल॥
इस अधिकार को पूर्ण करते हुए अलौकिक गुण के धारी

अन्वयार्थ : भगवान सिद्ध परमेष्ठी, वचन के तो विषय ही नहीं हैं; इसलिए मैं जो कुछ उनके गुणों का स्तवन अथवा उनके विषय में कुछ वर्णन करना चाहता हूँ, वह आकाश में चित्रकारी करने के समान मालूम होता है । (अर्थात् जिस प्रकार आकाश में चित्रकारी करना कठिन बात है; उसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के विषय में भक्तिपूर्वक वर्णन करना अत्यन्त कठिन है) तो भी उन सिद्धों का स्मरण किया हुआ नाम भी हर्ष का करने वाला होता है, इस कारण भक्ति से वाचालित होकर इस पद्मनन्दि नामक मुनि ने उन सिद्धों की स्तुति की है ।

मङ्गलाचरण में प्रभु के नाम-स्मरण एवं ध्यान की प्रेरणा

(शार्दूलविक्रीडित)
यद्यानन्दनिधिं भवन्तममलं तत्त्वं मनो गाहते;
त्वन्नामस्मृतिलक्षणो यदि महा, मन्त्रोऽस्त्यनन्तप्रभ: ।
यानं च त्रितयात्मके यदि भवेत्, मार्गे भवद्दर्शिते;
को लोकेऽत्र सतामभीष्टविषये, विघ्नो जिनेश प्रभो ॥1॥
(वीर छन्द)
निर्मल आनन्दधाम आप में, यदि मन अवगाहन करता ।
तेज अनन्तस्वरूप आपका, नाम मन्त्र है जो रहता॥
यदि आपके रत्नत्रयमय, मोक्षमार्ग में गमन अहो !
उस सज्जन को इष्ट प्राप्ति में, जग में क्या हो विघ्न प्रभो !

अन्वयार्थ : हे जिनेश! हे प्रभो! यदि सज्जनों का मन अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग मल से रहित होकर तत्त्वस्वरूप वास्तविक आनन्द के निधान आपका अवगाहन (आश्रय) करता है; यदि उनके मन में आपका नामस्मरणरूप अनन्तप्रभा का धारी महामन्त्र मौजूद है तथा यदि आपसे प्रगट किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूपी मोक्षमार्ग में उनका गमन है तो उन सज्जनों को अभीष्ट की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आ सकता ।

जिनेन्द्रदेव के द्वारा सेवित मार्ग का क्रम ही सर्वोत्कृष्ट

नि:सङ्गत्वमरागिताऽथ समता, कर्म-क्षयो बोधनं;
विश्व-व्यापि समं दृशा तदतुलाऽऽनन्देन वीर्येण च ।
ईदृग्देव! तवैव संसृति-परि,-त्यागाय जात: क्रम:;
शुद्धस्तेन सदा भवच्चरणयो:, सेवा सतां सम्मता ॥2॥
वीतरागता समता विधिक्षय, अपरिग्रह अरु वीर्य महान ।
सुख अनन्त अरु विश्व प्रकाशक, केवलदर्शन केवलज्ञान॥

यह प्रवृत्ति भव-मुक्ति हेतु है, मात्र आपकी हे जिनवर !
शुद्ध आप ही अत: सत्पुरुष, सेवन करते चरण-युगल॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्रदेव! संसार के त्याग हेतु परिग्रहरहितपना, रागरहितपना, समता, सर्वथा कर्मों का नाश तथा अनन्तसुख और अनन्तवीर्य के साथ समस्त लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान एवं केवलदर्शन - ऐसा क्रम आपके द्वारा ही हुआ है, किन्तु आपसे भिन्न किसी अन्य देव ने यह क्रम नहीं अपनाया है, इसलिए आप ही शुद्ध हैं तथा आपके चरणों की सेवा ही सज्जन पुरुषों को करने योग्य है ।

जिनेन्द्रदेव की सेवा करके संसाररूपी वैरी को जीतना आसान

यद्येतस्य दृढ़ा मम स्थितिरभूत्, त्वत्सेवया निश्चितं;
त्रैलोक्येश बलीयसोऽपि हि कुत:, संसारशत्रोर्भयम् ।
प्राप्तस्याऽमृत-वर्ष-हर्ष-जनकं, सद्यन्त्र-धारा-गृहं;
पंुस: किं कुरुते शुचौ खरतरो, मध्याह्नकालऽऽतप: ॥3॥
यदि निश्चय से मुझे आपकी, सेवा में दृढ़ता जिनराज ।
तो अतिशय बलवान मोह-शत्रु से भय क्यों मुझको नाथ ?
अमृत-वर्षा-कारक फव्वारे से युक्त सदन वासी ।
नर को क्या कर सकता है प्रभु! प्रखर सूर्य आताप दु:खी॥

अन्वयार्थ : हे तीन लोक के ईश! निश्चय से आपकी सेवा में यदि मेरा दृढ़पना है तो मुझे अत्यन्त बलवान संसाररूपी वैरी को जीतना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल की वर्षा से हर्ष को उत्पन्न करने वाला उत्तम फव्वारे सहित घर प्राप्त कर लिया है, उस पुरुष को जेठ मास की अत्यन्त तीक्ष्ण दोपहर की धूप कुछ भी दु:खी नहीं कर सकती ।

जगत् में सारभूत और असारभूत का विचार करना श्रेयस्कर

य: कश्चिन्निपुणो जगत्त्रयगता,ऽनर्थानशेषांश्चिरं;
साराऽसार-विवेचनैक-मनसा मीमांसते निस्तुषम् ।
तस्य त्वं परमेक एव भगवन्!, सारो ह्यसारं परं;
सर्वं मे भवदाश्रितस्य महती, तेनाऽभवन्निर्वृति: ॥4॥
कोई चतुर नर सार-असार, पदार्थ-विवेचक मन के द्वार ।
जग-त्रय के सारे पदार्थ का, हो निर्दोष करे सुविचार॥
भगवन्! उसके लिए आप ही, सारभूत हैं अन्य असार ।
अत: आपकी शरण प्राप्त कर, मुझको होता सौख्य अपार॥

अन्वयार्थ : 'यह पदार्थ सार है और यह असार है' - इस प्रकार सार-असार की परीक्षा में एकचित्त होकर जो कोई बुद्धिमान् मनुष्य तीनों लोक के समस्त पदार्थों का बाधारहित गहन दृष्टि से विचार करता है; उस पुरुष की दृष्टि में 'हे भगवन्! आप ही एक सारभूत पदार्थ हैं और आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असारभूत ही हैं'; अत: आपके आश्रय से ही मुझे परम सन्तोष होता है ।

सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञ परमात्मा का अन्तर्बाह्य से उत्कृष्टपना

ज्ञानं दर्शनमप्यशेष-विषयं, सौख्यं तथाऽत्यन्तिकं;
वीर्यं च प्रभुता च निर्मलतरा, रूपं स्वकीयं तव ।
सम्यग्योगदृशा जिनेश्वर! चिरात्, तेनोपलब्धे त्वयि;
ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ, प्राप्तं न किं योगिभि: ॥5॥

लोकालोक विलोक दर्शन-ज्ञान और सुख-वीर्य अनन्त ।
अतिशय निर्मल प्रभुतामय हे प्रभो! आपका रूप अनन्त॥
सम्यक् योगदृष्टि से जिनवर, यदि आपको प्राप्त किया ।
उस योगी ने क्या नहिं पाया, और नहीं क्या जान लिया॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! समस्त लोकालोक को एक साथ जानने वाला आपका ज्ञान है; समस्त लोकालोक को एक साथ देखने वाला आपका दर्शन है; आपके अनन्त सुख और अनन्त बल हैं; आपका प्रभुपना भी अतिशय निर्मल है और शरीर भी दैदीप्यमान है । इसलिए यदि योगीश्वरों ने समीचीन योगरूपी नेत्र से आपको प्राप्त कर लिया तो उन्होंने क्या नहीं जाना? क्या नहीं देखा? और क्या नहीं पा लिया?

जिनेन्द्र भगवान को मानने से ही सर्व प्रयोजन-सिद्धि

त्वामेकं त्रिजगत्पतिं परमहं, मन्ये जिनं स्वामिनं;
त्वामेकं प्रणमामि चेतसि दधे, सेवे स्तुवे सर्वदा ।
त्वामेकं शरणं गतोऽस्मि बहुना, प्रोक्तेन किंचिद्भवेत्;
इत्थं तद्भवतु प्रयोजनमतो, नाऽन्येन मे केनचित् ॥6॥
प्रभो! आप ही तीन लोक के, स्वामी मैं ऐसा मानूँ ।
अत: आपका ही वन्दन-स्तवन तथा मैं ध्यान करूँ॥
मात्र आपकी शरण गहूँ मैं, और अधिक कहने से क्या?
यही चाहता सिवा आपके, अन्य प्रयोजन नहिं मेरा॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! मैं आपको तीन लोक का स्वामी मानता हूँ , अष्ट कर्मों को जीतने वाला और अपना स्वामी मानता हूँ, केवल आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ और सदा आपका ध्यान करता हूँ, आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ तथा केवल आपको ही मैं अपना शरण मानता हूँ । अधिक कहने से क्या लाभ? यदि संसार में मुझे कुछ प्राप्त हो तो यही हो कि आपके सिवाय अन्य किसी से भी मेरा प्रयोजन न रहे ।

त्रिकालवर्ती पापों की कृत-कारित-अनुमोदना एवं तीनों योगों से निन्दा

पापं कारितवान् यदत्र कृतवान्, अन्यै: कृतं साध्विति;
भ्रान्त्याऽहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा, वाचा च कायेन च ।
काले सम्प्रति यच्च भाविनि नव,-स्थानोद्गतं यत्पुन:;
तन्मिथ्याऽखिलमस्तु मे जिनपते, स्वं निन्दतस्ते पुर: ॥7॥
हे जिन! मैंने भूतकाल में, भ्रान्ति से जो पाप किये ।
अन्य जनों से करवाये, अनुमोदन की, मन-वच-तन से॥
वर्तमान में भी होते, नव कोटि से आगे होंगे ।
प्रभो! आपके सन्मुख मुझ, निन्दक के वे सब मिथ्या हो॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश्वर! भूतकाल में भ्रमवश जो पाप, मैंने मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराये है, स्वयं किये हैं और दूसरों को पाप करते हुए अच्छा कहा है अर्थात् उसमें अपनी सम्मति दी है; वर्तमान में जो पाप, मैं मन-वचन-काय के द्वारा स्वयं करता हूँ, दूसरों से कराता हूँ और अन्य को करते हुए भला कहता हूँ; भविष्यकाल में जो पाप मैं मन-वचनकाय से स्वयं करूँगा, दूसरों से कराऊँगा और दूसरे को करते हुए अच्छा मानूँगा; वे समस्त पाप, आपके सामने अपनी निन्दा करने वाले मेरे, सर्वथा मिथ्या हों ।

प्रभु के द्वारा ज्ञात होने पर भी अपनी शुद्धि के लिए पापों की आलोचना

लोकाऽलोकमनन्त-पर्यय-युतं, काल-त्रयी-गोचरं;

त्वं जानासि जिनेन्द्र! पश्यसि तरां, शश्वत्समं सर्वत: ।
स्वामिन्! वेत्सि ममैकजन्मजनितं, दोषं न किंचित्कुतो;
हेतोस्ते परत: स वाच्य इति मे, शुद्ध्यर्थमालोचितुम् ॥8॥
कालत्रयी गोचर अनन्त, पर्याय सहित सब लोकालोक ।
शाश्वत युगपत् सर्व ओर से, आप जानते हैं जिनदेव॥
स्वामिन्! मेरे एक जन्म के, दोषों को क्या नहिं जानो ।
मैं निन्दक तव सन्मुख दोष, कहूँ शुद्धि के लिए अहो !

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! यदि तुम भूत, भविष्यत् व वर्तमान तीनों कालों की नाना पर्यायों सहित लोक तथा अलोक को चारों ओर से एक साथ जानते हो तथा देखते हो तो हे स्वामिन्! मेरे एक जन्म में होने वाले पापों को क्या तुम नहीं जानते हो ? इसलिए अपने को स्वयं निन्दित करता हुआ मैं, आपके सामने जो अपने दोषों का कथन (आलोचना) करता हूँ, वह केवल अपनी शुद्धि के लिए ही करता हूँ ।

माया-मिथ्या-निदान - इन तीन शल्यों के त्याग की प्रेरणा

आश्रित्य व्यवहारमार्गमथवा, मूलोत्तराख्यान् गुणान्;
साधोर्धारयतो मम स्मृतिपथं, प्रस्थायि यद्दूषणम् ।
शुद्ध्यर्थं तदपि प्रभो तव पुर:, सज्जोऽहमालोचितुं;
नि:शल्यं हृदयं विधेयमजडै:, भव्यैर्यत: सर्वथा ॥9॥
व्यवहाराश्रित मूल और, उत्तरगुणधारी मैं साधु ।
स्मृति-पथ पर जो भी आते, हैं वे सब मैं दोष कहूँ॥
शुद्धि हेतु हे प्रभु! तव सन्मुख, सावधान होकर बैठा ।
क्योंकि विवेकी भव्य जीव, निज हदय रखें नि:शल्य सदा॥

अन्वयार्थ : व्यवहारनय का आश्रय करके अथवा मूलगुण तथा उत्तरगुणों को धारण करने वाले मुझ मुनि को जिस दूषण का भलीभाँति स्मरण है, उस दूषण की शुद्धि के अर्थ आलोचना करने के लिए हे प्रभो! मैं आपके सामने सावधानी से बैठा हूँ क्योंकि भव्य जीवों को सदा अपना मन, माया-मिथ्या-निदान - इन तीनों शल्यों से रहित रखना चाहिए ।

जितने दोष, उतने प्रायश्चित्त के अभाव में प्रभु-समीप रहने मात्र से शुद्धि

सर्वोऽप्यत्र मुहुर्मुहुर्जिनपते, लोकैरसंख्यैर्मित-;
व्यक्ताऽव्यक्तविकल्पजालकलित:, प्राणी भवेत्संसृतौ ।
तत्तावद्भिरयं सदैव निचितो, दोषैर्विकल्पाऽनुगै:;
प्रायश्चित्तमियत्कुत: श्रुतगतं, शुद्धिर्भवत्सन्निधे: ॥10॥
व्यक्त-अव्यक्त विकल्प जाल हैं, असंख्य लोक प्रमाण प्रभो !
बार-बार ये जीव जगत् के, उनसे हों संयुक्त विभो !
उन विकल्पों के आश्रय से, होते हैं दोष सदा उत्पन्न ।
सबका प्रायश्चित नहिं श्रुत में, शुद्धि आपके पास जिनेन्द्र !

अन्वयार्थ : हे भगवन्! इस संसार में समस्त जीव, बार-बार असंख्यात लोकप्रमाण प्रकट तथा अप्रकट नाना प्रकार के विकल्पों से सहित हैं तथा उनसे उत्पन्न होने वाले उतने ही प्रकार के दोषों से भी सहित हैं; किन्तु जितने प्रकार के दोष हैं, उतने प्रायश्चित्त, शास्त्रों में नहीं हैं; इसलिए उन समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों तथा दोषों की शुद्धि, केवल आपके समीप में ही होती है ।

प्रभु की समीपता हेतु इन्द्रिय और मन का निग्रह आवश्यक

भावाऽन्त:करणेन्द्रियाणि विधिवत्, संहृत्य बाह्याश्रयात्;
एकीकृत्य पुनस्त्वया सह शुचि,-ज्ञानैकसन्मूर्तिना ।
नि:सङ्ग: श्रुतसारसंगतमति:; शान्तो रह: प्राप्तवान्;
यस्त्वां देव! समीक्षते स लभते, धन्यो भवत्सन्निधिम् ॥11॥
बाह्य पदार्थों से भावेन्द्रिय-मन को विधिवत् करें पृथक् ।
अद्वितीय शुचि ज्ञान मूर्तिमय, प्रभो! आपसे हों अपृथक॥
श्रुत रहस्य ज्ञाता परिग्रह बिन, शान्त चित्त बैठे एकान्त ।
भव्य आपको देखे जो वह, होता आप समीप सुधन्य॥
अन्वयार्थ : हे भगवान्! समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित, समस्त शास्त्रों को जानने वाला, क्रोधादि कषायों से रहित और एकान्तवासी - ऐसा जो भव्य जीव, समस्त बाह्य पदार्थों से मन तथा इन्द्रियों को हटा कर, अखण्ड और निर्मल सम्यग्ज्ञानरूपी मूर्ति के धारी आपमें स्थिर होकर, आपको देखता है; वह मनुष्य, आपकी समीपता को प्राप्त होता है ।

चित्त का बाह्य विषयों में दौड़-दौड़ कर जाना - खेद का विषय

त्वामाऽऽसाद्य पुराकृतेन महता, पुण्येन पूज्यं प्रभुं;
ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं, तल्लभ्यते निश्चितम् ।
अर्हन्नाथ! परं करोमि किमहं, चेतो भवत्सन्निधौ;
अद्याऽपि ध्रियमाणमप्यतितरा,-मेतद्बहिर्धावति ॥12॥
परम-पूज्य जिन महापुण्य से, आज आपका दर्शन पा ।
जो पद ब्रह्मादिक को दुर्लभ, वह पद निश्चित पा सकता॥
किन्तु आपमें बलपूर्वक यह, चित्त लगाने पर भी नाथ !
बाह्य वस्तु में दौड़ रहा मन, हे प्रभु! कहो करूँ मैं क्या ?
अन्वयार्थ : हे भगवन्! पूर्वभव में कष्ट से सञ्चय किए हुए बड़े भारी पुण्य से जिस मनुष्य ने तीन लोक द्वारा पूजनीय आपको पा लिया है, उस मनुष्य को उस उत्तम पद की प्राप्ति होती है, जिसको निश्चय से ब्रह्मा-विष्णु आदि भी नहीं पा सकते; परन्तु हे अर्हज्जिनेन्द्र! हे नाथ! मैं क्या करूँ? आपके समीप में लगा हुआ मेरा चित्त, प्रबल रीति से बाह्य पदार्थों की ओर ही दौड़ता है ।

कठोर व्रतों का पालन करने के बाद भी सिद्धि नहीं होने का कारण

संसारो बहु-दु:खद:, सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते;
त्यक्त्वाऽर्थादि तपोवनं वयमिता:, तत्रोज्झित: संशय: ।
एतस्मादपि दुष्करव्रतविधे:, नाद्याऽपि सिद्धिर्यतो;
वातालीतरलीकृतं दलमिव, भ्राम्यत्यदो मानसम् ॥13॥
यह संसार महादु:खमय है, सुखमय शाश्वत पद निर्वाण ।
उसके लिए संग-तज वन में, तप धारा छोड़ा सन्देह॥
अति कठोर व्रत करने पर भी, मोक्ष न अबतक प्राप्त हुआ ।
क्योंकि पवन प्रेरित पत्ते-सम, यह मन बाहर ही भ्रमता॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! यह संसार तो नाना प्रकार के दु:खों को देने वाला है और मोक्ष वास्तविक सुख का स्थान है अर्थात् वास्तविक सुख को देने वाला है । इसलिए उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमने समस्त धन-धान्य आदि परिग्रहों का त्याग किया, तपोवन को भी प्राप्त हुए, समस्त प्रकार का संशय भी छोड़ दिया, अत्यन्त कठोर व्रत भी धारण किये; किन्तु अभी तक उन कठिन व्रतों को धारण करने से भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि पवन के समूह से कम्पित हुए पत्तों के समान हमारा मन, रात-दिन बाह्य पदार्थों में ही भ्रमण करता है ।

मन के जीवित रहने पर मुनियों का भी कल्याण असम्भव

झम्पा: कुर्वदितस्तत: परिलसद्, बाह्यार्थलाभाद्दत्;
नित्यं व्याकुलतां परां गतवत:, कार्यं विनाप्यात्मन: ।
ग्रामं वासयदिन्द्रियं भवकृतो, दूरं सुहृत्कर्मण:;
क्षेमं तावदिहाऽस्ति कुत्र यमिनो, यावन्मनो जीवति ॥14॥
बाह्यार्थों की प्राप्ति हेतु जो, इधर उधर भ्रमता-फिरता ।
बिना प्रयोजन जो निज में, उत्पन्न करे नित व्याकुलता॥
इन्द्रिय-विषय में रमता भव-कारक कर्मों को लाता ।
यह मन जब तक जीवित मुनि का, कभी मुक्त नहिं हो सकता॥

अन्वयार्थ : हे भगवन्! जो बाह्य पदार्थों को मनोहर मान कर, उनकी प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ भटकता है, जो ज्ञानस्वरूपी आत्मा को भी बिना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल करता रहता है, जो इन्द्रियरूपी गाँव को बसाने वाला है अर्थात् इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों के विषयों में स्थिति होती है, जो संसार को पैदा करने वाले कर्मों को लाता रहता है - ऐसा यह मन, जब तक जीवित रहता है, तब तक मुनियों को कदापि कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

मोह के नष्ट होने पर ही शान्ति की प्राप्ति सम्भव

नूनं मृत्युमुपैति यातममलं, त्वां शुद्धबोधाऽऽत्मकं;
त्वत्तस्तेन बहिर्भ्रमत्यविरतं, चेतो विकल्पाऽऽकुलम् ।
स्वामिन् किं क्रियतेऽत्र मोहवशतो, मृत्योर्न भी: कस्य तत्;
सर्वाऽनर्थपरम्पराकृदऽहितो, मोह: स मे वार्यताम् ॥15॥
निर्मल शुद्ध ज्ञानमय तुमको, पाकर मन निश्चित मरता ।
अत: विकल्पाकुलित चित्त यह, बाहर ही भ्रमता रहता॥
हे स्वामी! क्या करें? मोह वश, सभी मृत्यु से डरते हैं ।
अत: अनर्थ-अहितकारी मम, मोह शीघ्र अब नष्ट करें॥

अन्वयार्थ : निर्मल तथा अखण्ड ज्ञानस्वरूप आपको पाकर मेरा मन, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है; इसलिए हे जिनेन्द्र! नाना प्रकार के विकल्पों से युक्त मेरा चित्त, आपसे बाह्य समस्त पदार्थों में ही निरन्तर घूमता फिरता है क्योंकि क्या किया जाए? मृत्यु से सर्व ही डरते हैं; अत: यह सविनय प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के अनर्थों को करने वाले तथा अहितकारी, इस मोह को शीघ्र नष्ट करो ।

मोह के प्रभाव से ही मन की चञ्चलता

सर्वेषामपि कर्मणामऽतितरां, मोहो बलीयानऽसौ;
धत्ते चंचलतां बिभेति च मृते:, तस्य प्रभावान्मन: ।
नो चेज्जीवति को म्रियेत क इह, द्रव्यत्वत: सर्वदा;
नानात्वं जगतो जिनेन्द्र! भवता, दृष्टं परं पर्ययै: ॥16॥
सब कर्मों में मोहकर्म यह, है अतिशय बलवान अरे !
मन चञ्चल इसके प्रभाव से, और मरण से सदा डरे॥
द्रव्यदृष्टि से कोई जग में, मरे न जीवे हे जिनदेव !
पर्यायार्थिकनय से विविध, प्रकार जगत को देखा देव !

अन्वयार्थ : ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों के मध्य में मोह ही अत्यन्त बलवान कर्म है । इसी के प्रभाव से यह मन, जहाँ-तहाँ चञ्चल होकर भ्रमण करता रहता है और मरण से डरता है । यदि यह मोह न होवे तो निश्चयनय से न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने

जो इस जगत् को अनेक प्रकार देखा है, वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देखा है, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नहीं; इसलिए हे भगवन्! मेरे इस मोह को सर्वथा नष्ट कीजिए ।

जगत् विनाशीक, अत: निर्विकार परमानन्द में ठहरने की प्रेरणा

वात-व्याप्त-समुद्र-वारि-लहरी,-संघातवत् सर्वदा;
सर्वत्र क्षणभंगुरं जगदिदं, संचिन्त्य चेतो मम ।
सम्प्रत्येतदऽशेष-जन्म-जनक, व्यापार-पार-स्थितं;
स्थातुं वाञ्छति निर्विकारपरमानन्दे त्वयि बह्मणि ॥17॥
व्याप्त पवन से जल की लहरें, उठते हुए समुद्र समान ।
क्षणभंगुर सर्वत्र जगत् यह, भलीभँाति मन करे विचार॥
अब समस्त भव-सन्तति-उत्पादक व्यापारों से हो पार ।
निर्मल आनन्द ब्रह्म आप में, रमने को यह है तैयार॥

अन्वयार्थ : पवन से व्याप्त जल-लहरी के समूह समान सर्व काल तथा सर्व क्षेत्रों में यह जगत् क्षणभर में विनाशीक है - ऐसा भलीभाँति विचार कर मेरा मन, इस समय समस्त संसार के उत्पन्न करने वाले व्यापारों से रहित होकर, निर्विकार परमानन्द परमब्रह्मस्वरूप आप में ही ठहरने की इच्छा करता है ।

परणति सब जीवनि की तीन भाँति वरणी.....

एन: स्याद्ऽशुभोपयोगत इत:, प्राप्नोति दु:खं जनो;
धर्म: स्याच्च शुभोपयोगत इत:, सौख्यं किमप्याश्रयेत् ।
द्वन्द्वं द्वन्द्वमिदं भवाऽऽश्रयतया, शुद्धोपयोगात् पुन:;
नित्याऽऽनन्दपदं तदत्र च भवान,ऽर्हन्नहं तत्र च ॥18॥
अशुभोपयोग से पापोत्पत्ति, जिससे जीव दु:खी होते ।
शुभोपयोग से धर्मपरिणति, जिससे जीव सुखी होते॥
पाप-पुण्य दोनों भव-आश्रित, अत: शुद्धभावों द्वारा ।
नित्यानन्द में आप विराजे, मैं भी नित रहना चाहता॥

अन्वयार्थ : जिस समय अशुभोपयोग रहता है, उस समय पाप की उत्पत्ति होती है, उससे जीव नाना प्रकार के दु:खों को प्राप्त होते हैं तथा जिस समय शुभोपयोग रहता है, उस समय धर्म (व्यवहारधर्म) की उत्पत्ति होती है, उससे जीवों को किंचित् सुख मिलता है, किन्तु ये दोनों पाप-पुण्यरूपी द्वन्द्व, संसार के ही कारण हैं अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता है तथा शुद्धोपयोग से अविनाशी तथा आनन्दस्वरूप पद की प्राप्ति होती है । हे जिनेन्द्र! आप ऐसे पद में निवास करते हैं, अत: मैं भी उसी शुद्धोपयोग में रहना चाहता हूँ ।

आत्मस्वरूप उत्कृष्ट तेज का अस्ति-नास्ति से स्वरूप

यन्नान्तर्न बहि: स्थितं न च दिशि, स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्;
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां, प्राप्तं न यल्लाघवम् ।
कर्म-स्पर्श-शरीर-गन्ध-गणना,-व्याहार-वर्णोज्झितं;
स्वच्छज्ञानदृगेकमूर्ति तदहं, ज्योति: परं नाऽपरम् ॥19॥
जो नहिं भीतर-बाहर और, दिशाओं में नहिं सूक्ष्म-स्थूल ।
स्त्री-पुरुष-नपंुसक भी नहिं, नहिं लघु अथवा नहीं गुरु॥
कर्म-स्पर्श-शरीर-गन्ध-संख्या अरु वचन-वर्ण-विरहित ।

स्वच्छ-ज्ञान-दृग-एक-मूर्ति मैं, परम-ज्योति हूँ अन्य नहीं॥

अन्वयार्थ : जो आत्मस्वरूप तेज न भीतर स्थित है, न बाहर स्थित है और न दिशा में ही स्थित है तथा न मोटा है, न पतला है । आत्मरूपी तेज न तो पुल्लिंग है, न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसकलिंग भी नहीं है; न भारी है, न हल्का है । वह तेज, कर्म-स्पर्श-शरीर-गन्ध संख्या- वचन-वर्ण से रहित है । वह निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शनस्वरूप है । उसी उत्कृष्ट तेजस्वरूप मैं भी हूँ, आत्मस्वरूप उत्कृष्ट तेज से भिन्न मैं नहीं हूँ ।

कर्मशून्य अवस्था की अपेक्षा आपकी और मेरी आत्मा में समानता

एतेनैव चिदुन्नति-क्षय-कृता, कार्यं विना वैरिणा;
शश्वत्कर्मखलेन तिष्ठति कृतं, नाथाऽऽवयोरन्तरम् ।
एषोऽहं स च ते पुर: परिगतो, दुष्टोऽत्र नि:सार्यतां;
सद्रक्षेतर-निग्रहो नयवतो, धर्म: प्रभोरीदृश: ॥20॥
चेतन की उन्नति के घातक बिना प्रयोजन जो बैरी ।
मुझमें और आप में अन्तर किया दुष्ट कर्मों ने ही॥
मैं हूँ आप समक्ष अत: इन दुष्टों को प्रभु नष्ट करो॥
सज्जन-रक्षा दुष्ट-दण्ड यह नीतिवान का धर्म अहो॥

अन्वयार्थ : हे भगवन्! चैतन्य की उन्नति का नाश करने वाले और अकारण ही सदा वैरी बने इन दुष्ट कर्मों ने, आप में तथा मुझमें भेद डाल दिया है; किन्तु कर्मशून्य अवस्था की अपेक्षा जैसी आपकी आत्मा है, वैसी ही मेरी आत्मा है । इस समय ये कर्म, आपके सामने मौजूद हैं (आपको ज्ञात हो रहे हैं); इसलिए इस दुष्ट को हटा कर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभु का यही धर्म है कि वे सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें ।

वह सज्जनों की रक्षा करे तथा दुष्टों का नाश करे ।

आधि-व्याधि, जरा-मरण से रहित मेरी ज्ञानवान् आत्मा
आधि-व्याधि-जरा-मृति-प्रभृतय:,सम्बन्धिनो वर्ष्मण:;
तद्भिन्नस्य ममाऽऽत्मनो भगवत:, किं कर्तुमीशा जडा: ।
नानाऽऽकार-विकार-कारिण इमे, साक्षान्नभो-मण्डले;
तिष्ठन्तोऽपि न कुर्वते जलमुच:, तत्र स्वरूपाऽन्तरम् ॥21॥
आधि-व्याधि-जरा-मरणादिक, तन-सम्बन्धी रोग अरे !
इनसे भिन्न आत्म-भगवन् मैं, ये मेरा क्या कर सकते ?
नभ-मण्डल में मेघ करें ज्यों, विविध भाँति आकार-विकार॥
किन्तु न कुछ कर सकते नभ का, वह तो सदा रहे अविकार॥

अन्वयार्थ : हे भगवन्! नाना प्रकार के आकारों तथा विकारों को करने वाले मेघ आकाश में रहते हुए भी जिस प्रकार आकाश के स्वरूप का कुछ भी हेर-फेर नहीं करते; उसी प्रकार आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि मुझमें कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि ये समस्त शरीर के विकार जड़ हैं तथा मेरी आत्मा ज्ञानवान् और शरीर से भिन्न है ।

प्रभु के चरण-कमल में अपने मन को लगाने से सुख की प्राप्ति

संसाराऽऽतप-दह्यमान-वपुषा, दु:खं मया स्थीयते;
नित्यं नाथ! यथा स्थलस्थितिमता, मत्स्येन ताम्यन्मन: ।
कारुण्याऽमृत-संग-शीतलतरे, त्वत्पाद-पंकेरुहे;

यावद्देव समर्पयामि हृदयं, तावत्परं सौख्यवान् ॥22॥
भवाताप से जलता यह तन, धारण कर मैं दु:खी हुआ ।
यथा मत्स्य-जल के बाहर, भू पर रह कर अति दु:खी हुआ॥
करुणामृत के संग से शीतल, हे प्रभु! तेरे चरण-युगल ।
उनमें करूँ समर्पण अपना, हृदय करे सुख का अनुभव॥
अन्वयार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार जल से बाहर स्थल में पानी के बिना मछली तड़फती रहती है, उसी प्रकार संसाररूपी सन्ताप से जिसका शरीर जल रहा है - ऐसा मैं सदा दु:खी ही रहता हूँ; किन्तु जब करुणारूपी जल के संग से (कारण) अत्यन्त शीतल आपके चरणकमलों में मैं अपने मन को लगाता हूँ; तब मैं अत्यन्त सुखी होता हूँ ।

मन का बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध कर्म-बन्ध का कारण

साऽक्षग्राममिदं मनो भवति यत्, बाह्याऽर्थ-सम्बन्ध-भाक्;
तत्कर्म प्रविजृम्भते पृथगऽहं, तस्मात् सदा सर्वथा ।
चैतन्यात्तव तत्तथेति यदि वा, तत्राऽपि तत्कारणं;
शुद्धात्मन्! मम निश्चयात्पुनरिह, त्वय्येव देव! स्थिति: ॥23॥
बाह्य पदार्थों से जुड़ता है, इन्द्रियों से सहित ये मन ।
अत: कर्म बँधते हैं मुझमें, किन्तु सदा मैं उनसे भिन्न॥
प्रभो! आप भी चेतनमय हैं, अत: आप कर्मों से भिन्न ।
हे शुद्धात्मन! निश्चय से मैं, सदा आप में रहूँ विलीन॥
अन्वयार्थ : हे भगवन्! इन्द्रियों के समूह से सहित मेरा मन, बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध करता है; उसी कारण नाना प्रकार के कर्म, मेरी आत्मा के साथ आकर बँधते हैं; किन्तु वास्तविक रीति से मैं उन कर्मों से सर्व काल तथा सर्व क्षेत्र में जुदा ही हूँ । आपके चैतन्य से भी वे कर्म सर्वथा जुदे ही हैं । आपके उस चैतन्य से कर्मों का भेद करने में आप ही कारण हैं । इसलिए हे शुद्धात्म जिनेन्द्र! निश्चय से मेरी स्थिति आप ही में हैं ।

लोक, बाह्य द्रव्य, शरीर-इन्द्रिय-वचन आदि सभी पुद्गल की पर्यायें

किं लोकेन किमाऽऽश्रयेण किमुत, द्रव्येण कायेन किं;
किं वाग्भि: किमुतेन्द्रियै: किमसुभि:, किं तैर्विकल्पैरपि ।
सर्वे पुद्गल-पर्यया बत परे, त्वत्त: प्रमत्तो भवन्;
आत्मन्नेभिरभिश्रयस्यति तरा,-मालेन किं बन्धनम् ॥24॥
हे आत्मन् क्या तुम्हें प्रयोजन, लोक पराश्रय या तन से ?
वाणी-इन्द्रिय-प्राणों से क्या, काम विविध विकल्पों से ?
क्योंकि सभी पुद्गल-पर्यायें, तुम तो हो इनसे अति भिन्न ।
किन्तु खेद! क्यों हुए प्रमादी, व्यर्थ करो कर्मों का बन्ध ?
अन्वयार्थ : हे आत्मन्! न तो तुझे इस लोक से काम है और न दूसरे के आश्रय से काम है । न तुझे द्रव्य से प्रयोजन है और न शरीर से प्रयोजन है । वचन और इन्द्रियों से भी तुझे कुछ काम नहीं है, प्राणों से भी तेरा प्रयोजन नहीं है तथा नाना प्रकार के विकल्पों से भी तुझे कुछ काम नहीं है क्योंकि ये समस्त पुद्गलद्रव्य की ही पर्यायें हैं और तुझसे भिन्न हैं । तो भी बड़े खेद की बात है कि तू इनको अपना मान कर, इनका आश्रय करता रहता है; अत: क्या तू दृढ़ बन्धन को प्राप्त नहीं होगा?

धर्म-अधर्म-आकाश-काल आदि सहकारी, परन्तु पुद्गल ही मेरा वैरी

धर्माऽधर्म-नभांसि काल इति मे, नैवाहितं कुर्वते;
चत्वारोऽपि सहायतामुपगता:, तिष्ठन्ति गत्यादिषु ।
एक: पुद्गल एव सन्निधिगतो, नोकर्मकर्माऽऽकृति:;
वैरी बन्धकृदेष सम्प्रति मया, भेदाऽसिना खण्डित: ॥25॥
धर्म-अधर्माकाश-काल नहिं, मेरा कोई अहित करें ।
ये चारों गति-स्थिति आदि, में सहायता मुझे करें॥
किन्तु कर्म-नोकर्मरूप में, पुद्गल-बैरी पास रहें ।
बन्ध करें यह अत: ज्ञान से, मैंने उसके खण्ड किये॥

अन्वयार्थ : धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य - ये चार द्रव्य मेरा किसी प्रकार अहित करने वाले नहीं हैं; किन्तु ये चारों द्रव्य गति-स्थिति आदि कार्यों में सहकारी हैं, इसलिए यह मेरे सहायक होकर ही रहते हैं, लेकिन नोकर्म (तीन शरीर, छह पर्याप्ति) तथा कर्म है स्वरूप जिसका - ऐसा समीप में रहने वाला और बन्ध करने वाला एक पुद्गल ही मेरा बैरी है, अत: भेदज्ञानरूपी तलवार से मैंने उस पुद्गल के खण्ड-खण्ड कर दिये हैं ।

राग-द्वेषरूप पुद्गल-परिणामों से ही पौद्गलिक कर्म की उत्पत्ति

राग-द्वेष-कृतैर्यथा परिणमेत्, रूपाऽन्तरै: पुद्गलो;
नाऽऽकाशादिचतुष्टयं विरहितं, मूर्त्या तथा प्राणिनाम् ।
ताभ्यां कर्म-घनं भवेदऽविरतं, तस्मादियं संसृति:;
तस्यां दु:ख-परम्परेति विदुषा, त्याज्यौ प्रयत्नेन तौ ॥26॥
राग-द्वेषकृत परिणामों से, पुद्गल में परिणमन सदा ।
आकाशादि अमूर्तिक में नहिं, कर्मरूप परिणमन कदा ।
राग-द्वेष से प्रबल कर्म हों, जिनसे होता है संसार ।
इसमें जीव दु:खी रहता है, सुधी करें उनका परिहार॥

अन्वयार्थ : जीवों के नाना प्रकार से युक्त राग-द्वेष परिणामों से जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है; उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल - ये चार अमूर्तिक द्रव्य राग-द्वेष को करने वाले परिणामों से परिणमित नहीं होते । उन राग-द्वेष के द्वारा प्रबल कर्मों की उत्पत्ति होती है, उन कर्मों से संसार होता है । संसार में नाना प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं, इसलिए स्व-कल्याण की अभिलाषा करने वाले सज्जनों को चाहिए कि वे राग-द्वेष को सर्वथा छोड़ दें ।

स्त्री-पुत्रादि से राग-द्वेष छोड़ कर, शुद्धात्मा में निवास करने की प्रेरणा

किं बाह्येषु परेषु वस्तुषु मन:, कृत्वा विकल्पान् बहून्;
राग-द्वेष-मयान् मुधैव कुरुषे, दु:खाय कर्माऽशुभम् ।
आनन्दाऽमृत-सागरे यदि वसस्याऽऽसाद्य शुद्धात्मनि;
स्फीतं तत्सुखमेकतामुपगतं, त्वं यासि रे निश्चितम् ॥27॥
रे मन! बाह्य पदार्थों में क्यों, राग-द्वेषमय विविध विकल्प ।
करता है तू दु:खदायक इन, अशुभरूप कर्मों का बन्ध ?
आनन्दामृत सागर शुद्धात्मा में यदि तू हो एकाग्र ।
रमे उसी में तो निश्चित ही, शिवसुख होगा तुमको प्राप्त॥

अन्वयार्थ : हे मन! बाह्य तथा तुझसे भिन्न - स्त्री-पुत्रादि पदार्थ हैं, उनमें राग-द्वेषस्वरूप अनेक विकल्पों को करके तू क्यों व्यर्थ दु:खी होकर अशुभकर्म बाँधता है? यदि तू आनन्दरूपी अमृत के समुद्र में शुद्धात्मा को पाकर, उसमें निवास करेगा तो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी

सुख को अवश्य प्राप्त करेगा, इसलिए तुझे शुद्धात्मा में ही निवास करना चाहिए और उसी का ध्यान तथा मनन करना चाहिए ।

अध्यात्मरूपी तुला पर एक तरफ यह प्राणी, दूसरी तरफ कर्मरूपी वैरी

इत्याऽऽध्याय हृदि स्थिरं जिन भवत्, पादप्रसादात्सतीं;
अध्यात्मैक-तुला-मयं जन इत:, शुद्ध्यर्थमारोहति ।
एवं कर्तुममी च दोषिणमित:, कर्माऽरयो दुर्धरा:;
तिष्ठन्ति प्रसभं तदत्र भगवन्, मध्यस्थसाक्षी भवान् ॥28॥
प्रभु चरणों के ही प्रसाद से, इन बातों को मन में धार ।
शुद्धि हेतु अध्यात्म तुला पर, करते हैं जन-आरोहण॥
उन्हें दोषयुत करने बैठे, बलपूर्वक यह करमरिपु ।
इसी तुला पर हे भगवन्! तुम, साक्षी बन मध्यस्थ रहे॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपके चरण-कमलों की कृपा से पूर्वोक्त बातों का भलीभाँति मनन कर, जिस समय यह प्राणी, शुद्धि के लिए अध्यात्मरूपी तुला (तराजू) पर चढ़ता है; उस समय उसको दोषी बनाने के लिए कर्मरूपी भयंकर वैरी घुस जाते हैं, इसलिए हे भगवान्! ऐसी दशा में आप ही साक्षी हैं ।

सविकल्प ध्यान, संसार-स्वरूप और निर्विकल्प ध्यान, मोक्ष-स्वरूप

द्वैतं संसृतिरेव निश्चय-वशात्, अद्वैतमेवाऽमृतं;
संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिदं, पर्यन्त-काष्ठाऽऽगतम् ।
निर्गत्याद्य-पदाच्छनै: शबलितादऽन्यत्समालम्बते;
य: सोऽसंज्ञ इति स्फुटं व्यवहृते:, ब्रह्मादिनामेति च ॥29॥
निश्चय से संसार द्वैत है, अमृतरूप सदा अद्वैत ।
बन्ध-मोक्ष के बारे में यह, अन्तिम कथन किया संक्षेप॥
विविध विकल्प स्वरूप द्वैत तज, ले अद्वैत का आलम्बन ।
नामों से भी पार हुआ वह, जग देता ब्रह्मादिक नाम॥
अन्वयार्थ : वास्तविक रीति से द्वैतरूप सविकल्प ध्यान तो संसारस्वरूप है । अद्वैतरूप निर्विकल्प ध्यान मोक्षस्वरूप है - यह संसार तथा मोक्ष के सम्बन्ध में चरम सीमा को प्राप्त संक्षेप कथन है । जो मनुष्य, इन दोनों में से नाना विकल्प वाले द्वैत पद से हट कर, अद्वैत पद का आलम्बन करता है; वह पुरुष, वास्तविक रीति से नामरहित हो जाता है अथवा उसी पुरुष को व्यवहारनय से ब्रह्मा-विधाता आदि नाम से पुकारते हैं ।

आदि नाम से पुकारते हैं ।

कलिकाल में मुक्तिदायक चारित्र कठिन, परन्तु प्रभु भक्ति सरल
चारित्रं यदभाणि केवल-दृशा, देव त्वया मुक्तये;
पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे, काले कलौ दुर्धरम् ।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा, पुण्यै: पुरोपार्जितै:;
संसाराऽर्णवतारणे जिन तत:, सैवाऽस्तु पोतो मम ॥30॥
चारित्र को मुक्ति का कारण, कहे आपका केवलज्ञान ।
मुझ जैसों के लिए कठिन है, कलि में वह चारित्र महान॥
पूर्व पुण्य से प्रभो! आपके, प्रति दृढ़ भक्ति है मेरी ।

भव-समुद्र तरने हेतु है, दृढ़ जहाज भक्ति तेरी॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्रदेव! आपने, केवलज्ञानरूपी दृष्टि से, मुक्ति की प्राप्ति के लिए चारित्र का वर्णन किया है, उस चारित्र को इस भयंकर कलिकाल में मेरे समान मनुष्य, बड़ी कठिनता से धारण कर सकता है; किन्तु पूर्वकाल में सञ्चित पुण्य से आपमें जो मेरी दृढ़ भक्ति है, वही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है अर्थात् वही भक्ति, मुझे संसार-समुद्र से पार कर सकेगी ।

संसार में सभी पदवियाँ सुलभ, परन्तु रत्नत्रय-पदवी दुर्लभ

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा, मध्ये तथा योनय:;
संसारे भ्रमता चिरं यदऽखिला:, प्राप्ता मयाऽनन्तश: ।
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे, हित्वा विमुक्ति-प्रदां;
सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्तिपदवीं, तां देव पूर्णां कुरु ॥31॥
प्रभु निगोद से इन्द्रपना तक, मध्यवर्ति सारी पर्याय ।
प्राप्त हुई संसार-भ्रमण, करते-करते मुझको चिर काल॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित के, सिवा न कोई मुझे अपूर्व ।
मुक्ति-प्रदायी है यह पदवी, प्रभो! कीजिए इसको पूर्ण॥
अन्वयार्थ : हे भगवान्! इस संसार में भ्रमणपूर्वक मैंने इन्द्रपना निगोदपना तथा अन्य भी समस्त प्रकार की योनियाँ अनन्त बार प्राप्त की हैं; इसलिए इन पदवियों में से कोई भी पदवी मेरे लिए अपूर्व नहीं है; किन्तु मोक्ष को देने वाली सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी पदवी अभी तक नहीं मिली है; इसलिए हे भगवन्! यह प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की पदवी को ही पूर्ण करो अर्थात् वह मुझे प्राप्त होवे ।

सिद्धपद के उपदेश के सामने तीन लोक का साम्राज्य भी अप्रिय

श्रीवीरेण मम प्रसन्न-मनसा, तत्किंचिदुच्चै: पद-;
प्राप्त्यर्थं परमोपदेश-वचनं, चित्ते समारोपितम् ।
येनास्तामिदमेक-भूतल-गतं, राज्यं क्षणध्वंसि यत्;
त्रैलोक्यस्य च तन्न मे प्रियमिह, श्रीमज्जिनेश प्रभो !32॥
वीरनाथ ने मुझे दिया है, प्रसन्न मन से जो उपदेश ।
ऊँचे पद की प्राप्ति हेतु, मेरे मन में रोपा सन्देश॥
तत्प्रभाव से पृथ्वीतल के, क्षणभंगुर सुख की क्या बात? ।
हे जिनेन्द्र प्रभु! मुझे न प्रिय है, तीन लोक का भी साम्राज्य॥
अन्वयार्थ : बाह्य तथा अभ्यन्तर लक्ष्मी से शोभित श्री वीर भगवान ने प्रसन्न-चित्त से सबसे ऊँचे सिद्धपद की प्राप्ति के लिए मेरे चित्त को जो उपदेश दिया है; उस उपदेश के सामने तीन लोक का राज्य भी मुझे प्रिय नहीं है तो क्षणभर में विनाशीक - ऐसा पृथ्वी का राज्य तो कैसे प्रिय होगा? अर्थात् नहीं होगा ।

उपसंहार में इस आलोचना अधिकार के त्रिकाल पाठ का उपदेश

सूरै: पंकज-नन्दिन: कृतिमिमामाऽऽलोचनामर्हतां;
अग्रे य:पठति त्रि-सन्ध्यममल,-श्रद्धा-नताऽङ्गो नर: ।
योगीन्द्रैश्चिर-काल-रूढ-तपसा, यत्नेन यन्मृग्यते;
तत्प्राप्नोति परं पदं स मतिमानाऽऽनन्दसद्म ध्रुवम् ॥33॥

मङ्गलाचरण में आत्मतत्त्व का वचनातीतपना एवं जयवन्तपना

(शार्दूलविक्रीडित)

यज्जानन्नपि बुद्धिमानपि गुरु:, शक्तो न वक्तुं गिरा;
प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां, सम्माति चाकाशवत् ।
यत्र स्वानुभव-स्थितेऽपि विरला, लक्ष्यं लभन्ते चिरात्;
तन्मोक्षैक-निबन्धनं विजयते, चित्तत्त्वमत्यद्भुतम् ॥1॥

(वीर छन्द)

जिसे जान कर भी न कह सके, बृहस्पति जैसे मतिमान ।
कहें यदि तो भी जन-मन में, आ न सके आकाश समान॥
स्वानुभूति करके ही विरले, मुक्ति प्राप्त करते चिरकाल ।
अद्भुत आत्मतत्त्व जयवन्तो, यही मुक्ति का कारण जान॥

अन्वयार्थ : मोक्षरूपी सुख को देने वाले आत्मतत्त्व को भलीभाँति जानता हुआ बुद्धिमान बृहस्पति भी अपनी वाणी से उस तत्त्व का कुछ भी वर्णन नहीं कर सकता है । यदि किसी प्रकार वर्णन करें तो भी आकाश के समान अत्यन्त विस्तीर्ण होने के कारण मनुष्यों के हृदय में उसको समाविष्ट नहीं कर सकते । स्वानुभव में स्थित होकर विरले ही प्राणी, जिस आत्मतत्त्व का लक्ष्य करते हैं - ऐसा वह अत्यन्त आश्चर्ययुक्त आत्मतत्त्व इस लोक में जयवन्त है ।

आत्मतत्त्व का अनेकान्तस्वरूप एवं उसकी गहनता

नित्याऽनित्यतया महत्तनुतया,ऽनेकैक-रूपत्ववत्;
चित्तत्त्वं सदसत्तया च गहनं, पूर्णं च शून्यं च यत् ।
तज्जीयादखिलश्रुताश्रय-शुचि,-ज्ञान-प्रभा-भासुरो;
यस्मिन् वस्तु-विचारमार्गचतुरो, य: सोऽपि सम्मुह्यति ॥2॥
चेतनतत्त्व अनित्य-नित्य, गुरु-लघु है एक-अनेकस्वरूप ।
यह सत्-असत् स्वरूप तथा है, पूर्ण-शून्य अति गहनस्वरूप॥
श्रुताभ्यास से ज्ञान ज्योतिमय, वस्तु-विचार-प्रवीण सुजान ।
नर भी शंकित हो जाते हैं, जयवन्तो वह तत्त्व महान॥

अन्वयार्थ : जो चैतन्यरूपी आत्मतत्त्व, नित्य-अनित्य, गुरु-लघु, एक-अनेकरूप तथा सत्-असत्रूपपने से अत्यन्त गहन है । जो पूर्ण तथा शून्य भी है - ऐसा यह आत्मतत्त्व, इस लोक में सदा जयवन्त है । जिस आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में, समस्त शास्त्रों के अभ्यास से पायी हुई ज्ञान की प्रभा से दैदीप्यमान तथा वास्तविक पदार्थों का विचार करने में चतुर मनुष्य भी मुग्ध हो जाता है अर्थात् उसको भी इस चैतन्यतत्त्व का पता नहीं लग पाता ।

आत्मारूपी हंस और मोक्षरूपी हंसिनी

सर्वस्मिन्नणिमादि-पंकज-वने, रम्येऽपि हित्वा रतिं;
यो दृष्टिं शुचि-मुक्ति-हंस-वनितां, प्रत्यादराद्दत्तवान् ।
चेतो-वृत्ति-निरोध-लब्ध-परम,-ब्रह्म-प्रमोदाऽम्बुभृत्;
सम्यक्-साम्य-सरोवर-स्थितिजुषे, हंसाय तस्मै नम: ॥3॥
अणिमादिक सब ऋद्धि विभूषित, सुन्दर पंकजवन से प्रीति ।
तज कर निर्मल मुक्ति-हंसिनी, में जिसकी आदरमय दृष्टि॥
चित्तवृत्ति का कर निरोध, पाया जो परम ब्रह्म आनन्द ।

जल से भरे सरोवर में, जो रमे हंस उसको वन्दन॥

अन्वयार्थ : जो हंस अर्थात् आत्मा, अत्यन्त मनोहर अणिमा आदि महिमा वाले कमलवन से अपनी प्रीति को हटा कर, अत्यन्त पवित्र मोक्षरूपी हंसिनी में अपनी दृष्टि को लगाता है; वह अपनी चित्तवृत्ति को रोक कर, परब्रह्म के आनन्द से युक्त उत्तम जल से पूर्ण, अत्यन्त मनोहर समतारूपी सरोवर में स्थित है, उस हंस के लिए हमारा नमस्कार है ।

चैतन्यरूपी तेज की प्रगटता एवं कल्याणमयता

(रथोद्धता)

सर्व-भाव-विलये विभाति यत्,

सत्समाधि-भर-निर्भरात्मन: ।

चित्स्वरूपमभित: प्रकाशकं,

शर्म-धाम नमताऽद्भुतं मह: ॥4॥

सर्व विभाव-विलीन समाधि-स्वरूप महामुनि को प्रत्यक्ष ।

पूर्ण प्रकाश स्वरूप तेज यह, अद्भुत चिन्मय को वन्दन॥

अन्वयार्थ : चारों तरफ से प्रकाशरूप, नाना प्रकार के कल्याणों को देने वाला आश्चर्यकारी चैतन्य तेज, 'समीचीन समाधि से जिनकी आत्मा व्याप्त है' - ऐसे महामुनियों के समस्त राग-द्वेषादि विभावों का नाश होने पर प्रगट होता है, उस चैतन्यरूपी तेज को नमस्कार है ।

चैतन्यरूपी तेज, स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं प्रकाश का कारण

विश्ववस्तु-विधृतिक्षमं लसत्,

जालमन्त-परिवर्जितं गिराम् ।

अस्तमेत्यऽखिलमेकहेलया,

यत्र तज्जयति चिन्मयं मह: ॥5॥

सकल पदार्थ प्रकाशक शाश्वत, स्वयं प्रकाश-स्वरूप अहो !

वचन-अगोचर अविनाशी, चैतन्य तेज जयवन्त रहो॥

अन्वयार्थ : जो चैतन्यरूपी तेज, समस्त पदार्थों का प्रकाश करने वाला है, स्वयं प्रकाशरूप है, अन्त से रहित है तथा यदि समस्त वाणी युगपत् मिल भी जाए तो उसका वर्णन करने में असमर्थ है अर्थात् जो वाणी के अगोचर है - ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज, इस लोक में सदा जयवन्त है ।

चैतन्यरूपी तेज, मन से अगोचर तथा वचनातीत

नो विकल्प-रहितं चिदात्मकं,

वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरम् ।

कर्मजाऽऽश्रितविकल्परूपिण:,

का कथा तु वपुषो जडात्मन: ॥6॥

निर्विकल्प चैतन्य तेज, मन से भी ज्ञात न हो सकता ।

कैसे कर्मज जड़-विकल्प अरु, इन्द्रिय-गोचर हो सकता॥

अन्वयार्थ : समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित चैतन्यरूपी तेज, जब किसी भी प्रकार मन के द्वारा भी गोचर नहीं हो सकता; तब वह तेज, कर्मों से पैदा हुए नाना विकल्पात्मक तथा जड़स्वरूप शरीर के द्वारा गोचर कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता ।

चैतन्यरूपी तेज स्वानुभव से गोचर

चेतसो न वचसोऽपि गोचर:,

तर्हि नास्ति भविता खपुष्पवत् ।
शंकनीयमिदमऽत्र नो यत:,
स्वानुभूतिविषयस्ततोऽस्ति तत् ॥7॥
मन-वचनों से गम्य नहीं तो, चेतन है नभ-पुष्प समान ।
ऐसी शंका करो नहीं वह, स्वानुभूति-गोचर सत् जान॥
अन्वयार्थ : यदि कोई मनुष्य, इस बात की शंका करे कि चैतन्यरूपी तेज न मन गोचर है और न वचन गोचर है, इसलिए आकाश के फूल के समान उसका नास्तित्व ही जाएगा तो आचार्य समाधान देते हैं कि ऐसी शंका कदापि नहीं करना चाहिए क्योंकि वह चैतन्यरूपी तेज (तत्त्व) स्वानुभव से जाना जाता है, इसलिए नास्तित्व न होकर उसका अस्तित्व ही जानो ।

मन का डर - परमात्मा में स्थित होने पर उसका मरण

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं,
स्वान्तमन्तमुपयाति तद्बहि: ।
तं विहाय सततं भ्रमत्यद:,
को बिभेति मरणान्न भूतले ॥8॥
परमात्मा में थिर होने से, मन विनष्ट है हो जाता ।
अत: भ्रमे नित बाहर ही मन, कौन न मरने से डरता ?
अन्वयार्थ : जिस समय मन, परमात्मा में स्थित होता है, उस समय उस मन का नाश (मरण) हो जाता है; इसलिए यह मन, परमात्मा को छोड़ कर, यहाँ-वहाँ बाहर भ्रमण करता रहता है क्योंकि पृथ्वीतल में मरण से कौन नहीं डरता है? अर्थात् सब ही डरते हैं ।

चैतन्यस्वरूप वस्तु को अन्यत्र खोजना व्यर्थ

तत्त्वमात्म-गतमेव निश्चितं, योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते ।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नत:, कानने मृगयते स मूढधी: ॥9॥
तत्त्व आत्मा में ही बसता, बसे न किञ्चित् बाहर में ।
जो बाहर देखे वह खोजे, वस्तु हस्तगत को वन में॥
अन्वयार्थ : निश्चयनय से यह चैतन्यस्वरूपी तत्त्व, आत्मा ही है, वह आत्मा से भिन्न किसी भी स्थान में नहीं है; किन्तु जो मनुष्य, 'आत्मा से भिन्न किसी दूसरे स्थान में चैतन्यरूपी तत्त्व रहता है' - ऐसा जानते हैं; वे मूढ़बुद्धि मनुष्य, मुट्ठी में रखी हुई वस्तु को वन में जाकर ढूँढ़ने के समान कार्य करते हैं ।

आत्मा में आसक्त मनुष्य ही उत्कृष्ट ध्यान का पात्र

तत्पर: परम-योग-सम्पदां, पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गत: ।
नाऽपरेण चलित: यथेप्सित:, स्थानलाभविभवो विभाव्यते ॥10॥
आत्म-निष्ठ ही परम योग का, पात्र किन्तु पर-निष्ठ नहीं ।
अन्य मार्ग से चलने वाला, मंजिल पाता कभी नहीं॥
अन्वयार्थ : यदि कोई मनुष्य, यथार्थ मार्ग को छोड़ कर, दूसरे मार्ग से चले तो उसे अभीष्ट स्थान का लाभ कदापि नहीं हो सकता, किन्तु यदि वह यथार्थ मार्ग पर चले तो अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच सकता है; उसी प्रकार जो पुरुष, आत्मा में आसक्त हैं, वे ही उत्कृष्ट ध्यान के पात्र हैं तथा जो मनुष्य, आत्मा में आसक्त नहीं हैं, बाह्य पदार्थों में ही आसक्त हैं, वे उत्कृष्ट ध्यान के पात्र कदापि नहीं हैं और न ही हो सकते हैं । इसलिए उत्कृष्ट ध्यान के प्रेमी उत्तम पुरुषों को आत्मा में अवश्य आसक्त रहना चाहिए ।

चैतन्यतत्त्व में लक्ष्य नहीं देने वाले तपस्वी, जड़-अज्ञानी-नट के समान

साधु लक्ष्यमनवाप्य चिन्मये, यत्र सुष्ठु गहने तपस्विन: ।

अप्रतीति-भुवमाश्रिता जडा, भान्ति नाट्य-गतपात्रसन्निभा: ॥11॥

अतिशय गहन निजात्म तत्त्व का, जो न तपस्वी धरते ध्यान ।

अज्ञानी जड़ रहें सदा वे, शोभित नाटक-पात्र समान॥

अन्वयार्थ : जो तपस्वी, अत्यन्त गहन ऐसे चैतन्यरूपी तत्त्व का भलीभाँति लक्ष्य न देकर अज्ञानमयी भूमि के आश्रित हैं अर्थात् अज्ञानी बन रहे हैं, वे तपस्वी जड़ हैं और नाटक के पात्र समान शोभित होते हैं ।

अन्धे व्यक्ति द्वारा हाथी को स्पर्श करके जानना व्यर्थ

भूरिधर्म-युतमप्यबुद्धिमान्, अन्धहस्ति-विधिनाऽवबुध्य यत् ।

भ्राम्यति प्रचुरजन्मसंकटे, पातु व: तदतिशायि चिन्मह: ॥12॥

धर्म-अनन्तमयी चेतन को, जाने अन्ध-हस्ति विधि से ।

अत: चतुर्गति भ्रमण करे तो सबकी रक्षा तेज करे॥

अन्वयार्थ : अज्ञानी पुरुष, अन्ध-हस्ति-न्याय के समान अनेक धर्मों से सहित चैतन्य तत्त्व को जान कर भी अनेक जन्म-संकटों में भ्रमण करता है - ऐसा वह अत्यन्त अतिशय का भण्डार चैतन्यरूपी तेज हमारी रक्षा करें ।

अहो आश्चर्य! आत्मा कर्मबन्धन से सहित होने पर भी उससे रहित

कर्मबन्ध-कलितोऽप्यबन्धनो, रागद्वेष-मलिनोऽपि निर्मल: ।

देहवानपि च देहवर्जित:, चित्रमेतदखिलं चिदात्मन: ॥13॥

बँधा कर्म से किन्तु अबन्धक, राग-द्वेषयुत पर निर्मल ।

देही है पर देह रहित यह, आत्म-स्वरूप अहो! आश्चर्य॥

अन्वयार्थ : आत्मा कर्म-बन्धन से सहित होकर भी कर्म-बन्धन से रहित है; राग-द्वेष से मलिन होने पर भी निर्मल है और देहसहित होने पर भी देहरहित है; इसलिए आत्मा का स्वरूप आश्चर्यकारी है ।

अनेकान्त - सर्व विरोध का नाशक

निर्विनाशमपि नाशमाश्रितं, शून्यमप्यतिशयेन सम्भृतम् ।

एकमेव गतमप्यनेकतां, तत्त्वमीदृगपि नो विरुध्यते ॥14॥

अविनाशी पर नाशवान है, शून्य किन्तु सम्पूर्ण अहो !

एकरूप फिर भी अनेक है, किञ्चित् नहीं विरोध कहो॥

अन्वयार्थ : जो अनेकान्तात्मक तत्त्व, नाशरहित होने पर भी नाशसहित है, शून्य होने पर भी सम्पूर्ण है (भरा हुआ है) तथा एक होने पर भी अनेक है - ऐसा होने पर भी उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है ।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय

विस्मृताऽर्थपरिमार्गणं यथा, यस्तथा सहजचेतनाऽऽश्रित: ।

स क्रमेण परमेकतां गत:, स्वस्वरूपपदमाश्रयेद् ध्रुवम् ॥15॥

मूर्च्छित व्यक्ति होश में आकर, ज्यों भूली वस्तु खोजे ।

निजस्वभाव आश्रय ले भविजन, क्रम से निश्चित मुक्ति लहें॥

अन्वयार्थ : मूर्च्छित मनुष्य, जिस प्रकार सावधान होकर अपनी भूली हुई चीज को ढूँढता है; पश्चात् शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित

होता है; उसी प्रकार जो मनुष्य, अनादिकाल से भूले हुए अपने स्वाभाविक चैतन्य का आश्रय कर, क्रम से साम्यभाव को धारण करता है, वह मनुष्य, निश्चय से आत्मस्वरूप का आश्रय करता हुआ, आत्मस्वरूप की प्राप्ति करता है ।

समस्त उपाधि का नाश होने पर आत्मस्वरूप की प्राप्ति

यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्, तत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।
इत्युपाधि-परिहारपूर्णता, सा यदा भवति तत्पदं तदा ॥16॥
मन में जो विकल्प होते हैं, उनको तुम तत्काल तजो ।
जब सम्पूर्ण उपाधि विलय हों, तभी मुक्ति-पद प्राप्ति अहो !
अन्वयार्थ : जो-जो बात, मन में होवे (अर्थात् जिस-जिस बात की मन में इच्छा होवे), उस-उस बात को तत्काल छोड़ देवें । इस प्रकार जब समस्त उपाधि का नाश हो जाता है, तब आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है ।

आत्मा का उत्कृष्ट तेज, संसाररूपी वन के लिए भयंकर अग्नि के समान

संहृतेषु खमनाऽनिलेषु यद्, भाति तत्त्वममलात्मन: परम् ।
तद्गतं परमनिस्तरङ्गतां, अग्निरुग्र इह जन्मकानने ॥17॥
मन-इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वास, रुकने से प्रगटेआत्मस्वरूप ।
निश्चल आत्मतत्त्व शोभित यह, भववन को है अग्निस्वरूप॥
अन्वयार्थ : पाँचों इन्द्रिय, मन और श्वासोच्छ्वास के संकुचित होने पर, आत्मा का निर्मल तथा उत्कृष्ट स्वरूप उदित होकर शोभित होता है - ऐसा वह अत्यन्त निश्चल आत्मतत्त्व, संसाररूपी वन के लिए भयंकर अग्नि के समान है ।

निर्विकल्प पदवी का आश्रय करने वाला संयमी ही मोक्ष पद के योग्य

मुक्त इत्यपि न कार्यमंजसा, कर्मजाल-कलितोऽहमित्यपि ।
निर्विकल्प-पदवीमुपाश्रयन्, संयमी हि लभते परं पदम् ॥18॥
कर्मरहित या कर्मबद्ध हूँ, कोई विकल्प न साधु करें ।
निर्विकल्प पद के आश्रय से, अहो! संयमी मुक्ति लहें॥
अन्वयार्थ : 'मैं समस्त कर्मों से रहित मुक्त हूँ'ह्न ऐसा भी संयमियों को नहीं मानना चाहिए तथा 'मैं समस्त कर्मों से सहित संसारी हूँ' - ऐसा भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि निर्विकल्प पदवी का आश्रय करने वाला संयमी ही मोक्षपद को प्राप्त होता है ।

द्वैत और अद्वैत - दोनों प्रकार की बुद्धियाँ उपाधिजन्य

कर्म चाऽहमिति च द्वये सति, द्वैतमेतदिह जन्मकारणम् ।
एक इत्यपि मति: सती न यत्, साप्युपाधि-रचिता तदङ्गभृत् ॥19॥
'कर्म' और 'मैं' दोनों हैं, यह द्वैत, बन्ध का कारण है ।
'एकरूप मैं' - ऐसी चेतन, की मति भी औपाधिक है॥
अन्वयार्थ : हे जीव! 'कर्म' तथा 'मैं', दो हैं - इस प्रकार का द्वैत भी जीवों को संसार का कारण है क्योंकि इस प्रकार के द्वैत से भी जीवों को नाना प्रकार के भवों में भ्रमण करना पड़ता है तथा 'मैं एक हूँ' - यह बुद्धि भी ठीक नहीं हैं क्योंकि ये दोनों प्रकार की बुद्धियाँ उपाधिजन्य हैं ।

शुद्ध भावना से शुद्धता और अशुद्ध भावना से अशुद्धता की प्राप्ति

संविशुद्ध-परमात्मभावना, संविशुद्ध-पदकारणं भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो, लोहतश्च विकृतिस्तदाश्रिते ॥20॥

शुद्धभावना से मुक्तिपद, अशुद्धभावना से संसार ।
स्वर्ण-पात्र उत्पन्न स्वर्ण से, लोहे से हो लौह-कुपात्र॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार सुवर्ण से सुवर्ण-पात्र की उत्पत्ति होती है तथा लोह से लौह-पात्र की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार शुद्ध परमात्मा की भावना करने से शुद्ध मोक्षपद की प्राप्ति होती है तथा अशुद्ध भावना से अशुद्ध स्वर्ग-नरकादि पद की प्राप्ति होती है ।

योगी, सुख-दु:ख होने पर भी सुखी-दु:खी नहीं

कर्म भिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं, पश्यतो विशदबोधचक्षुषा ।
तत्कृतेऽपि परमात्मवेदिनो, योगिनो न सुखदु:खकल्पना ॥21॥
निर्मल ज्ञान-चक्षु से निज को, कर्म-रहित देखे योगी ।
कर्मजन्य सुख-दु:ख हों फिर भी, सुख-दु:ख अनुभव करें नहीं॥
अन्वयार्थ : 'समस्त कर्म मुझसे भिन्न हैं' - इस प्रकार निरन्तर अपने सम्यग्ज्ञानरूपी दिव्य चक्षु से देखने वाले तथा परमात्मा को भलीभाँति जानने वाले योगी, कर्म से उत्पन्न सुख-दु:ख के होने पर भी सुख-दु:ख की कल्पना नहीं करते ।

योगियों को सूर्य के समान निरालम्ब मार्ग अपनाने का उपदेश

मानसस्य गतिरस्ति चेन्निरा-,लम्ब एव पथि भास्वतो यथा ।
योगिनो दृगवरोधकारक:, सन्निधिर्न तमसां कदाचन ॥22॥
निरालम्ब पथ में योगी के, मन की गति हो सूर्य समान ।
तो योगी को सम्यग्दर्श-प्रभा-नाशक तम निकट न आन॥
अन्वयार्थ : यदि योगियों के मन की गति सूर्य के समान निरावलम्ब मार्ग में ही हो तो उनके सम्यग्ज्ञान की प्रभा को रोकने वाला अन्धकार कभी भी निकट नहीं आए ।

रोग, वृद्धावस्था आदि शरीर के विकार, आत्मा के नहीं

रुग्जरादि-विकृतिर्न मेऽञ्जसा, सा तनोरहमित: सदा पृथक् ।
मीलितेऽपि सति खे विकारिता, जायते न जलदैर्विकारिभि: ॥23॥
विविध बादलों के संग में भी नभ में किञ्चित् नहीं विकार ।
जरा-रोग-तन के विकार मैं, इनसे सदा पृथक् अविकार॥
अन्वयार्थ : नाना प्रकार के विकारों से सहित मेघों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जिस प्रकार आकाश में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता क्योंकि वे विकार मेघों के होते हैं; उसी प्रकार रोग, वृद्धावस्था आदि नाना प्रकार के विकार, शरीर के विकार हैं, मेरे (आत्मा के) विकार नहीं क्योंकि मैं शरीर से सदा अलग भिन्न तत्त्व हूँ ।

व्याधियों से शरीर की हानि, आत्मा की नहीं

व्याधिनाऽङ्गमभिभूयते परं, तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मक: ।
उत्थितेन गृहमेव दह्यते, वह्निना न गगनं तदाश्रितम् ॥24॥
रोगों से हो देह नष्ट, तद्गत चेतन अविनाशी है ।
ज्यों अग्नि से भवन जले, पर तद्गत नभ न विनाशी है॥
अन्वयार्थ : यदि किसी कारण से मकान में आग लग जाए तो उस आग से मकान ही जलता है, किन्तु उसके भीतर रहा हुआ आकाश नहीं जलता; उसी प्रकार शरीर में किसी कारण से व्याधि उत्पन्न हो जाए तो उस व्याधि से शरीर ही नष्ट होता है, उसके भीतर रहे हुए आत्मा का नाश नहीं होता ।

सम्यग्ज्ञानस्वरूप वस्तु में अपनापन, मोक्ष का कारण

बोधरूपमखिलैरुपाधिभि:, वर्जितं किमपि यत्तदेव न: ।
नाऽन्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशं, मोक्षहेतुरिति योगनिश्चय: ॥25॥
सर्व उपाधि-विहीन ज्ञानमय, वही हमारा वस्तु-स्वरूप ।
अन्य न किञ्चित् रूप हमारा, यह निश्चय शिवमार्ग स्वरूप॥

अन्वयार्थ : समस्त प्रकार की राग-द्वेष आदि उपाधियों से रहित, सम्यग्ज्ञानस्वरूप जो कोई वस्तु है, वही हमारी है; किन्तु इससे भिन्न किंचित् भी वस्तु हमारी नहीं है । इस प्रकार जो योग का निश्चय है, वही मोक्ष का कारण है; किन्तु इससे भिन्न योग का निश्चय, मोक्ष का कारण नहीं है ।

ध्यान का मार्ग अत्यन्त कठिन, गुरु-उपदेश से ही गम्य

योगतो हि लभते विबन्धनं, योगतो हि किल मुच्यते नर: ।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा, बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥26॥
योग बन्ध का कारण है अरु, योग मुक्ति का कारण है ।
योग-मार्ग है कठिन, मुमुक्षु गुरु-वचनों से प्राप्त करें॥

अन्वयार्थ : ध्यान से ही मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है तथा ध्यान से ही मोक्ष को प्राप्त होता है; इस प्रकार यह ध्यान का मार्ग अत्यन्त कठिन है, अत: जो भव्य जीव, मोक्ष के अभिलाषी हैं, उनको यह समस्त ध्यान का मार्ग, गुरु के उपदेश से समझना चाहिए ।

निर्मल सम्यग्ज्ञानस्वरूप वस्तु ही वास्तविक रमणीय स्थान

शुद्धबोध-मयमस्ति वस्तु यद्, रामणीयकपदं तदेव न: ।
स प्रमाद इह मोहज: क्वचित्, कल्प्यते यदपराऽपि रम्यता ॥27॥
शुद्ध ज्ञानमय वस्तु हमारे, लिए रमण के योग्य अहो !
अन्य वस्तु में रम्य-कल्पना, मोहोत्पन्न प्रमाद कहो॥

अन्वयार्थ : जो शुद्ध बोधस्वरूप अर्थात् निर्मल सम्यग्ज्ञानस्वरूप वस्तु है, वही हमारा रमणीय स्थान है; किन्तु जो मनुष्य, 'निर्मल सम्यग्ज्ञान से अतिरिक्त भी रमणीयता है' - इस बात को कहते हैं; वह वास्तविक रमणीयता नहीं, अपितु मोहनीयकर्म से उत्पन्न हुआ प्रमाद ही है ।

आत्मज्ञानस्वरूप तीर्थ में स्नान करने का महत्त्व

आत्मबोध-शुचितीर्थमद्भुतं, स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधा: ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभि:, क्षालयत्यपि मलं तदन्तरम् ॥28॥
आत्मज्ञान ही महातीर्थ शुचि, बुध उसमें स्नान करें ।
कोटि तीर्थ से भी न नष्ट हो, वह अन्तर्मल शीघ्र धुले॥

अन्वयार्थ : हे भव्य पण्डितों! यदि तुम अपने पापों का नाश करना चाहते हो तो अत्यन्त पवित्र तथा आश्चर्य के करने वाले इस आत्मज्ञानस्वरूप उत्तम तीर्थ में ही स्नान करो क्योंकि जो अन्तरङ्ग का मल, अन्य करोड़ों तीर्थों में स्नान करने पर भी नष्ट नहीं होता, वह इस आत्मज्ञानस्वरूप तीर्थ में एक समय स्नान करने पर ही नष्ट हो जाता है ।

चैतन्यरूपी समुद्र के किनारे सम्यग्दर्शनादि रत्नों की प्राप्ति

चित्समुद्र-तटबद्धसेवया, जायते किमु न रत्नसंचय: ।
दु:खहेतुरमुतस्तु दुर्गति:, किं न विप्लवमुपैति योगिन: ॥29॥

चित्-समुद्र अवगाहन करने, से न मिले क्या रत्न अहो !
क्या योगीजन को दुख-कारण, दुर्गति हो न विनष्ट कहो ?
अन्वयार्थ : जो पुरुष, बड़े उत्साह के साथ चैतन्यरूपी समुद्र के तीर की भलीभाँति सेवा करते हैं; क्या उनको सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की प्राप्ति नहीं होती है? इस पाये हुए रत्नसमूह से चैतन्यरूपी समुद्र की सेवा करने वाले मुनियों के द्वारा क्या नाना प्रकार के दु:खों को देने वाली नरकादि खोटी गतियों का नाश नहीं होता ?

निश्चयनय से सम्यग्दर्शन आदि तीनों की आत्मा से अभिन्नता

निश्चयाऽवगमनस्थितित्रयं, रत्नसंचितिरियं परात्मनि ।
योगदृष्टि-विषयीभवन्नसौ, निश्चयेन पुनरेक एव हि ॥30॥
परमात्मा का निश्चय-बोध-स्थिति दर्शन-ज्ञान-चरित्र ।
यो ग-दृष्टि का विषय आत्मा, निश्चय से है एक-स्वरूप॥
जो परमात्मा में निश्चय, ज्ञान और स्थिति है; उन्हीं को सम्यग्दर्शन,
अन्वयार्थ : सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र कहते हैं । केवली भगवान की दृष्टि में ये तीनों निश्चयनय से आत्मस्वरूप ही हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, आत्मा से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं है ।

सम्यग्दर्शनादि बाणों से कर्मरूपी वैरियों का नाश

प्रेरिता: श्रुतगुणेन शेमुषी-, कार्मुकेण शरवद् दृगादय: ।
बाह्यवेध्य-विषये कृतश्रमा:, चिद्रणे प्रहतकर्मशत्रव: ॥31॥
आगम-डोरी बुद्धि-धनुष से, प्रेरित रत्नत्रय के बाण ।
चिन्मय-रण में बाह्यार्थों का, वेधन कर हो कर्म-विनाश॥
अन्वयार्थ : चैतन्यरूपी संग्राम में, शास्त्ररूपी गुण (प्रत्यञ्चा) सहित अर्थात् उससे प्रेरित तथा श्रेष्ठ बुद्धिरूपी धनुष से बाह्य पदार्थों के वेधन करने में तत्पर ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी बाण, समस्त कर्मरूपी वैरियों का नाश करने वाले होते हैं ।

मुनियों को भी प्रमाद के कारण प्रवृत्ति में चंचलता

चित्तवाच्य-करणीयवर्जिता, निश्चयेन मुनिवृत्तिरीदृशी ।
अन्यथा भवति कर्मगौरवात्, सा प्रमादपदवीमुपेयुष: ॥32॥
मन-वच-तन वर्जित वृत्ति ही, मुनि की निश्चय से होती ।
कर्मोदय से हो प्रमाद तो, हो विरुद्ध वह मुनि-वृत्ति॥
अन्वयार्थ : निश्चय से मुनियों की जो प्रवृत्ति है; वह मन, वचन व काय की प्रवृत्ति (चंचलता) से रहित है; किन्तु वे मुनि, यदि प्रमादी बन जाएँ तो कर्म की गुरुता से उनकी प्रवृत्ति भी विपरीत अर्थात् मन, वचन व काय से सहित हो जाती हैं ।

योगियों का ज्ञानसमुद्र, समाधिरूपी चन्द्रमा से वृद्धि को प्राप्त

सत्समाधि-शशलाञ्छनोदयात्, उल्लसत्यमलबोधवारिधि: ।
योगिनोऽणुसदृशं विभाव्यते, यत्र मग्नमखिलं चराऽचरम् ॥33॥
सत्-समाधि-चन्द्रोदय से जो, ज्ञान-सिन्धु है उछल रहा ।
सकल चराचर जगत् ज्ञान में, अणु समान भासित होता॥
अन्वयार्थ : जिन योगियों के निर्मल ज्ञान में चर-अचर समस्त जगत्, परमाणु के समान ज्ञात होता है - ऐसा वह योगियों का ज्ञानरूपी समुद्र, श्रेष्ठ समाधिरूप चन्द्रमा के उदय से वृद्धि को प्राप्त होता है ।

भेदज्ञानरूपी अग्नि से कर्म भी सूखे तृणों के समान भस्मीभूत

कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतो-,ऽप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात् ।
भेदबोध-दहने हृदि स्थिते, योगिनो झटिति भस्मसाद्भवेत् ॥34॥
परम-समाधि-पवन से प्रेरित, भेद-ज्ञान की अग्नि जले ।
तो योगी-उर में सूखे, पत्तों-सम कर्म समूह जले॥
अन्वयार्थ : पवित्र समाधिरूपी पवन से उदय को प्राप्त भेदज्ञानरूपी अग्नि, जिन योगियों के हृदय में स्थित है, उनके प्रबल कर्म भी सूखे तृणसमूह के समान शीघ्र भस्मीभूत हो जाते हैं ।

मुनियों को वांछित फलदायक समाधिरूपी कल्पवृक्ष,

चित्तमत्तकरिणा न चेद्धतो, दुष्ट-बोध-वन-वह्निनाऽथवा ।
योगकल्प-तरुरेष निश्चितं, वांछितं फलति मोक्षसत्फलम् ॥35॥
मनरूपी मतवाले गज या, दुष्ट बोध-दावानल से ।
योग-कल्पतरु नष्ट न हो तो, वाञ्छित शिवफल शीघ्र फले॥
अन्वयार्थ : यदि यह समाधिरूपी कल्पवृक्ष, मनरूपी मतवाले हाथी से नष्ट न किया गया और दुष्ट ज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूपी वनाग्नि से भस्म न किया गया तो अवश्य ही वाञ्छित मोक्षरूपी श्रेष्ठ फल को देता है ।

परमात्मा का ज्ञान होने तक ही शास्त्रज्ञान उपयोगी

तावदेव मतिवाहिनी सदा, धावति श्रुतगता पुर: पुर: ।
यावदत्र परमात्म-संविदा, भिद्यते न हृदयं मनीषिण: ॥36॥
जब तक आत्मज्ञान से, ज्ञानी की परिणति नहिं भिद जाती ।
तब तक श्रुत के आगे-आगे, मन-सरिता दौड़ी जाती॥
अन्वयार्थ : जब तक यह चित्त, परमात्मा के ज्ञान से भेद (भेदज्ञान) को प्राप्त नहीं होता है, तब तक बुद्धिमान् पुरुष की बुद्धिरूपी नदी, सदा शास्त्रों में आगे-आगे दौड़ती जाती है ।

चैतन्यरूपी दीपक मोहरूपी अन्धकार का नाशक

य: कषाय-पवनैरचुम्बितो, बोधवह्निरमलोल्लसदृश: ।
किं न मोहतिमिरं विखण्डयन्, भासते जगति चित्प्रदीपक: ॥37॥
जिसे पवन ने छुआ नहीं है, ज्ञानरूप अग्नि जिसमें ।
निर्मल दशा युक्त चित्-दीपक, मोह-विनाशक है जग में॥
अन्वयार्थ : जिस चैतन्यरूपी दीपक का कषायरूपी पवन ने स्पर्श नहीं किया है, जिसमें सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि मौजूद है तथा जिसकी दशा निर्मल और दैदीप्यमान है - ऐसा चैतन्य रूपी दीपक, मोहरूपी अन्धकार को नाश करता हुआ क्या जगत् में प्रकाशमान नहीं है?

अपने घर से बाहर विचरण करने वाली स्त्री का दृष्टान्त

बाह्यशास्त्र-गहने विहारिणी, या मतिर्बहुविकल्पधारिणी ।
चित्स्वरूप-कुलसद्मनिर्गता, सा सती न सदृशी कुयोषिता ॥38॥
बहु विकल्प-धारक जो मति, बाह्य शास्त्र-वन में भ्रमती ।
सती नहीं वह कुलटा नारी, चेतन कुलगृह को तजती॥
अन्वयार्थ : जो बुद्धि, अपने चैतन्यरूपी कुलगृह से बाहर निकली हुई है, अतएव जो बाह्य शास्त्ररूपी वन में विहार करने वाली है और

अनेक प्रकार के विकल्पों को धारण करने वाली है, ऐसी वह बुद्धि, उत्तम बुद्धि नहीं; किन्तु कुलटा स्त्री के समान निकृष्ट है ।

हेय को छोड़ कर, उपादेय को ग्रहण करके ही मोक्ष की प्राप्ति

यस्तु हेयमितरच्च भावयत्, नाऽद्यतो हि परमाप्तुमीहते ।

तस्य बुद्धिरुपदेशतो गुरो:, आश्रयेत्स्वपदमेव निश्चलम् ॥39॥

हेय-ग्राह्य का चिन्तन करके, ग्राह्य-प्राप्ति का यत्न करे ।

गुरु-वचनों से उसकी बुद्धि, अविनाशी पद प्राप्त करे॥

अन्वयार्थ : जो भव्य जीव, हेय तथा उपादेय पदार्थों का रात-दिन चिन्तवन करता है और उन दोनों में त्यागने योग्य पदार्थों का त्याग करता है; उस जीव की बुद्धि, उत्तम गुरु के उपदेश से चैतन्यरूपी अविनाशी स्थिर पद को प्राप्त होती है; इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं ।

मोह-निद्रा में मग्न को सम्पूर्ण जगत् अपना

सुप्त एष बहुमोहनिद्रया, लंघित: स्वमबलादि पश्यति ।

जाग्रतोच्च-वचसा गुरोर्गतं, संगतं सकलमेव दृश्यते ॥40॥

गाढ़ मोह-निद्रा में मोही, पर-पदार्थ अपना माने ।

गुरु के उच्च स्वरों से जागृत, ज्ञानी क्षण-भंगुर जाने॥

अन्वयार्थ : गाढ़ मोहरूपी निद्रा ने जिसके ऊपर अपना प्रभाव डाल रखा है, जो मोहरूपी नींद में मग्न है, वह मनुष्य, अपने से भिन्न स्त्री-पुत्र आदि को भी अपना मानता है; लेकिन जो मनुष्य जाग रहा है, उस मनुष्य को तो उत्तम गुरु के उपदेश से समस्त जगत् संयुक्त (संयोग) मात्र क्षणभंगुर ही मालूम पड़ता है ।

समाधि की सिद्धि के लिए बाह्य पदार्थों में समता आवश्यक

जल्पितेन बहुना किमाऽऽश्रयेद्, बुद्धिमानऽमलयोगसिद्धये ।

साम्यमेव सकलैरुपाधिभि:, कर्मजाल-जनितैर्विवर्जितम् ॥41॥

बहुत कहें क्या बुद्धिमान जन, निर्मल योग-सिद्धि के हेतु ।

कर्मोत्पन्न उपाधि-रहित बस, साम्यभाव का लें आश्रय॥

बहुत कहाँ तक कहा जाए जो पुरुष बुद्धिमान हैं (जिन पुरुषों को इस बात का भलीभाँति ज्ञान है कि 'यह पदार्थ त्यागने योग्य है और यह पदार्थ

अन्वयार्थ : ग्रहण करने योग्य है'), उनको चाहिए कि वे निर्मल योग की सिद्धि के लिए नाना प्रकार के कर्मों से पैदा हुई नाना प्रकार की उपाधियों से सर्वथा रहित साम्यभाव का ही आश्रय करें ।

आत्मा का सिद्धि के लिए किया गया प्रयत्न ही सफल

नाममात्र कथया परात्मन:, भूरिजन्म-कृतपापसंक्षय: ।

बोध-वृत्त-रुचयस्तु तद्गता:, कुर्वते हि जगतां पतिं नरम् ॥42॥

परमातम के नाममात्र से, चिर-संचित अघक्षय होता ।

तद्गत दर्शन-ज्ञान-चरित से, नर भी त्रिभुवनपति होता॥

अन्वयार्थ : परमात्मा के नाममात्र कथन से ही अनेक जन्मों में संचय किया हुआ पापों का समूह पल भर में नष्ट हो जाता है तो उस आत्मा में विद्यमान सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसम् यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय तो मनुष्य को जगत् का पति ही बना देता है अर्थात् परमात्मपद प्राप्त करा देता है; इसमें क्या आश्चर्य है?

चैतन्यस्वरूप उत्तम पद में लगा हुआ योगी ही योगीश्वर

चित्स्वरूप-पदलीनमानसो, य: सदा स किल योगिनायक: ।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको, दर्शनीय इति चाऽऽत्मसन्निभ: ॥43॥
जिनका चित्त स्वरूप-लीन है, वे हैं योगिजनों में श्रेष्ठ ।
सभी जीव चेतन-स्वरूप हैं, अत: किसी में करें न भेद॥

अन्वयार्थ : जिस योगी का चित्त, चैतन्यरूपी मोक्षपद में लगा हुआ है, वही योगी समस्त योगियों में उत्तम योगी है अर्थात् योगियों का ईश्वर है । वह योगीश्वर, समस्त चैतन्यस्वरूप प्राणियों को अपने समान देखता है ।

समस्त जीव-जगत् को अपने समान देखने वाला मनुष्य ही श्रेष्ठ

अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोगत:, कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना ।
आसितव्यमनिशं प्रयत्नत:, स्वं परं सदृशमेव पश्यता ॥44॥
अन्तर्बाह्य योग से ही, योगी के कार्य सिद्ध होते ।
अत: निरन्तर समदृष्टि से, योगी निज-पर को देखे॥

अन्वयार्थ : समस्त कार्यों की सिद्धि अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग योग से होती है; इसलिए जो योगी, स्व तथा पर को समान देखने वाला है, उसे बड़े भारी प्रयत्न से रहना चाहिए ।

जड़स्वरूप संसार को देख कर भी योगी का मन परमशान्त

लोक एष बहुभावभावित:, स्वाऽर्जितेन विविधेन कर्मणा ।
पश्यतोऽस्य विकृतीर्जडात्मन:, क्षोभमेति हृदयं न योगिन: ॥45॥
स्वयं किये कर्मो से होने वाले विविध भावमय लोक ।
अत: जगत् जड़ देखें योगी, किन्तु न होता मन में क्षोभ॥

अन्वयार्थ : अपने द्वारा पैदा किये हुए नाना प्रकार के कर्मों से यह लोक अनेक भावरूप है; इसलिए इस जड़स्वरूप संसार को देखते हुए भी योगी का मन, कदापि क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ।

गाढ़ निद्रा में सुप्त लोक को जाग्रत करने का प्रयत्न

सुप्त एष बहुमोहनिद्रया, दीर्घकालमविरामया जन: ।
शास्त्रमेतदधिगम्य साम्प्रतं, सुप्रबोध इह जायतामिति ॥46॥
गाढ़ मोह-निद्रा में सोता, है अनादि से लोक अरे !
अब यह शास्त्र जानकर भविजन, जागृत दशा प्राप्त होवें॥

अन्वयार्थ : जिसका अन्त नहीं है - ऐसी गाढ़ मोहरूपी निद्रा में यह लोक, चिरकाल से सोया हुआ है, लेकिन अब इस शास्त्र को जान कर, जाग्रतदशा को प्राप्त हो ।

पद्मनन्दि मुनि के वचनों से उत्पन्न स्वसंवेदनगम्य रम्यता की प्रशंसा

चित्स्वरूप-गगने जयत्यसौ, एकदेश-विषयाऽपि रम्यता ।
ईषदुद्गतवच: करै: परै:, पद्मनन्दि-वदनेन्दुना कृता ॥47॥
पद्मनन्दि मुख-चन्द्र-किरण-वचनों से किञ्चित् उदित अहो !
स्वसंवेदनगम्य रम्यता, चेतन नभ में जयवन्तो॥

अन्वयार्थ : पद्मनन्दि मुनि का जो मुख, वही हुआ चन्द्रमा, उससे कुछ उदय को प्राप्त, ऐसी जो वचनरूपी उत्कृष्ट किरण, उनसे उत्पन्न की

गई और स्व-संवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा गोचर ऐसी यह रम्यता, चैतन्यस्वरूप आकाश में चिरकाल तक जयवन्त प्रवर्तो ।

मोक्ष को उत्पन्न करने वाली समस्त सामग्री होने पर भी मोह की कुटिलता

(शार्दूलविक्रीडित)
त्यक्ताऽशेष-परिग्रह: शम-धनो, गुप्तित्रयाऽलंकृत:;
शुद्धात्मानमुपाश्रितो भवति यो, योगी निराशस्तत: ।
मोक्षो हस्त-गतोऽस्य निर्मल-मते,-रेतावतैव ध्रुवं;
प्रत्यूहं कुरुते स्वभावविषमो, मोहो न वैरी यदि ॥48॥
सकल परिग्रह तज उपशम-धन, तीन गुप्ति से शोभित हैं ।
शुद्धात्माश्रित योगी को, पर से नहिं आशा किञ्चित् है ।
कुटिल स्वभावी मोह-शत्रु यदि, शिवपद में नहिं विघ्न करे ।
तो वह निर्मल-मति योगी! निज करतल में ही मोक्ष धरे॥
अन्वयार्थ : जिसने बाह्य तथा अभ्यन्तर के भेद से समस्त परिग्रहों का नाश कर दिया है, जिसके शान्ति ही धन है, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति - इन तीन प्रकार की गुप्तियों से जो शोभित है, जिसे शुद्धात्मा की प्राप्ति हो गई है और जो निराश है अर्थात् जिसकी किसी भी पदार्थ में अंशमात्र भी इच्छा नहीं रही है - ऐसा यह योगी है । इसलिए निर्मल है बुद्धि जिसकी - ऐसे उस योगी के, यदि स्वभाव से ही कुटिल मोहरूपी वैरी, उस मोक्ष की प्राप्ति में विघ्न न करे तो परिग्रह आदि के रहितपने आदि कारणों से ही मोक्ष निश्चय से हस्तगत हो जाए अर्थात् उसकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो जाए ।

चैतन्यतत्त्व ही समस्त अभिलाषा-भय-भ्रम-दु:ख आदि का नाशक

त्रैलोक्ये किमिहाऽस्ति कोऽपि स सुर:, किं वा नर: किं फणी;
यस्माद्धीर्मम यामि कातरतया, यस्याऽऽश्रयं चाऽपदि ।
उक्तं यत्परमेश्वरेण गुरुणा, नि:शेष-वाञ्छा-भयं;
भ्रान्तिक्लेशहरं हृदि स्फुरति चेत्, चितत्त्वमत्यद्भुतम् ॥49॥
जब तक अति अद्भुत निर्वाञ्छक, भय-भ्रम एवं दु:ख-विहीन ।
चेतनतत्त्व श्री गुरु-भाषित, उसमें चित्त निरन्तर लीन॥
तब तक त्रिभुवन में सुर नर या, सर्प कौन है हो सकता ।
जिससे डर कर या संकट में, मैं उसका आश्रय लेता॥
अन्वयार्थ : जो चैतन्यतत्त्व, समस्त प्रकार की अभिलाषा-भय-भ्रम तथा दु:खों को दूर करने वाला है और अत्यन्त आश्चर्य का करने वाला है - ऐसा परमेश्वर श्रीगुरु द्वारा कहा गया चैतन्यरूपी तत्त्व, यदि मेरे हृदय में स्फुरायमान है, मौजूद है तो तीन लोक में न कोई ऐसा देव है, जिससे मुझे भय होवे और न कोई ऐसा पुरुष या सर्प ही है, जिससे मैं डरूँ और कातर होकर, आपत्ति में किसी का सहारा ग्रहण करूँ ।

उपसंहार में 'सद्बोधचन्द्रोदय' नाम की सार्थकता

तत्त्वज्ञान-सुधार्णवं लहरिभि:, दूरं समुल्लासयन्;
तृष्णापत्र-विचित्र-चित्तकमले, संकोच-मुद्रां दधत् ।
सद्विद्याश्रित-भव्य-कैरवकुले, कुर्वन् विकासश्रियं;
योगीन्द्रोदयभूधरे विजयते, सद्बोध-चन्द्रोदय: ॥50॥
तत्त्वज्ञानमय सुधा-सिन्धु की, लहरों को उलसित करता ।
तृष्णा-पत्तों से विचित्र, चित्-कमल संकुचित कर देता॥

भव्यरूप कुमुदों को विकसित, करे सद्बोध-चन्द्रोदय ।
योगीन्द्रोदय पर्वत पर, होती है इसकी सदा विजय॥

अन्वयार्थ : श्रेष्ठ ज्ञानरूपी चन्द्रमा अथवा 'सद्बोध-चन्द्रोदय' नामक अधिकार, इस संसार में योगियों के जो इन्द्र अर्थात् बड़े-बड़े योगी, वे ही हुए उदयाचल, उनमें सदा जयवन्त है, यह 'सद्बोध-चन्द्रोदय' तत्त्वज्ञानरूपी जो समुद्र, उसको अपनी कल्लोलों से दूर तक उछालने वाला है; तथा तृष्णारूपी हैं पत्र जिसमें, ऐसे जो नाना प्रकार चित्तरूपी कमल, उनको संकुचित करने वाला है तथा श्रेष्ठ ज्ञान का आधारभूत जो भव्य जीवरूपी 'कैरव कुल' अर्थात् रात्रि-विकासी कमलों का समूह, उसका विकास करने वाला है ।

'निश्चय पञ्चाशत्' अधिकार का मङ्गलाचरण

(आर्या)
दुर्लक्ष्यं जयति परं, ज्योतिर्वाचां गण: कवीन्द्राणाम् ।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥1॥
कवि प्रवरों की वाणी से भी, गोचर है जो ज्योति नहीं ।
जैसे जल बाहर ही रहता, करे न वज्र प्रवेश कभी॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार जल, हीरा नामक रत्न के अन्दर प्रवेश नहीं करता है और बाहरी भाग में ही रह जाता है; उसी प्रकार जिस चैतन्यस्वरूप ज्योति में बड़े-बड़े कवियों की वाणी भी प्रवेश नहीं कर सकती और बाहरी भाग में ही रह जाती है - ऐसा वह चैतन्यस्वरूपी तेज, संसार में दुर्लक्ष्य है अर्थात् उसे बड़ी कठिनाई से भी नहीं देख सकते ।

चैतन्यरूपी तेज हमारी रक्षा करे

मनसोऽचिन्त्यं वाचा,-मगोचरं यन्महस्तनोर्भिन्नम् ।
स्वानुभव-मात्र-गम्यं, चिद्रूपममूर्त व्याद्व: ॥2॥
जो अचिन्त्य है मन से, वचन अगोचर तेज देह से भिन्न ।
सबकी रक्षा करे अमूर्तिक, चेतन मात्र स्वानुभव-गम्य॥

अन्वयार्थ : जिस चैतन्यरूपी तेज का मन से चिन्तवन नहीं कर सकते हैं, वाणी से भी वर्णन नहीं कर सकते हैं तथा जो शरीर से सर्वथा भिन्न और केवल स्वानुभव से ही जाना जाता है - ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज हम लोगों की रक्षा करें ।

चैतन्यस्वरूपी ज्योति लोक में जयवन्त वर्तो

वपुरादिपरित्यक्ते, मज्जत्यानन्दसागरे मनसि ।
प्रतिभाति यत्तदेकं, जयति परं चिन्मयं ज्योति: ॥3॥
देहादिक से मोह-त्याग, मन आनन्द-सागर में डूबे ।
भासित होता एक चिदातम, तेज जगत् जयवन्त रहे॥

अन्वयार्थ : शरीर, धन, धान्य आदि से रहित होने पर जिस समय चित्त, आनन्द-सागर में डूबता है; उस समय जो ज्योति मालूम पड़ती है, वह एक तथा चैतन्यस्वरूप उत्कृष्ट ज्योति इस संसार में जयवन्त रहे ।

मोहान्धकार को दूर करनेवाले सच्चे गुरुओं को नमस्कार

स जयति गुरुर्गरीयान्, यस्यामलवचनरश्मिभिर्झगिति ।
नश्यति तन्मोहतमो, यदविषयो दिनकरादीनाम् ॥4॥
रवि-शशि भेद सकें न जिसे वह, मोह-तिमिर हो शीघ्र विनष्ट ।
जिनकी वचन-किरण से वे, उत्तम गुरु जग में हैं जयवन्त॥

अन्वयार्थ : जिन गुरुओं के निर्मल वचनरूपी किरणों से, जिसको सूर्य-चन्द्र आदि भी नाश नहीं कर सकते - ऐसा प्रबल मोहरूपी

अन्धकार, बात ही बात में नष्ट हो जाता है; ऐसे वे उत्तम गुरु, सदा इस लोक में जयवन्त हैं अर्थात् ऐसे गुरुओं को मैं नमस्कार करता हूँ ।

मोक्ष की दु:साध्यता

आस्तां जरादिदु:खं, सुखमपि विषयोद्भवं सतां दु:खम् ।
तन्मन्यते सुखं यत् तन्मुक्तौ सा च दु:साध्या ॥5॥
जरा आदि तो दु:ख ही हैं, बुध विषयानन्द में दु:ख मानें ।
सुख यथार्थ मुक्ति में भासे, किन्तु मुक्ति ही दुर्लभ है॥

अन्वयार्थ : संसार में जीवों को जन्म, जरा, मरणादि दु:ख तो दु:खरूप ही भासित होते हैं, परन्तु विषयों से उत्पन्न हुए सुख को जो जीव सुख मानते हैं, वह भी सुख नहीं, अपितु दु:ख ही है; अत: वास्तविक सुख, मोक्ष में ही है, परन्तु वह मोक्ष, अत्यन्त दु:साध्य है ।

विषयादिक सुख की सुलभता और मोक्ष की दुर्लभता

श्रुतपरिचितानुभूतं, सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम् ।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा, शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धि: ॥6॥
श्रुत परिचित अनुभूत सभी को, सबकी कथा सुलभ चिरकाल ।
किन्तु मुक्ति का कारण आतम-ज्योति हुई नहिं अब तक प्राप्त॥

अन्वयार्थ : जिनको चिर काल से सुना है, परिचय किया है तथा अनुभव किया है - ऐसे समस्त काम, क्रोध, भोग, विकथा आदि सर्व प्राणियों को जन्म से प्राप्त हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति तो सबको सुलभ रीति से हो सकती है, किन्तु-मुक्ति प्राप्ति के लिए शुद्ध आत्मज्योति की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ।

आत्मा का अनुभव करना अत्यन्त दु:साध्य

बोधोऽपि यत्र विरलो, वृत्तिर्वाचामगोचरो बाढम् ।
अनुभूतिस्तत्र पुन; दुर्लक्ष्यात्मनि परं गहनम् ॥7॥
आत्मज्ञान भी दुर्लभ ही है, वर्णन भी नहिं करे वचन ।
अनुभव तो अतिशय दुर्लभ है, आत्मज्योति अत्यन्त गहन॥

अन्वयार्थ : आत्मा का ज्ञान भी अत्यन्त दुर्लभ है और उसका वर्णन भी वाणी के अगोचर है (वाणी से उसका वर्णन नहीं कर सकते); अत: जब उसका वाणी से वर्णन ही नहीं कर सकते, तब उसका अनुभव तो अत्यन्त ही दुर्लक्ष्य है; इसलिए आत्म-ज्योति अत्यन्त गहन है ।

कर्मों का नाश करने वाले शुद्धनय का वर्णन

व्यवहृतिरबोधजन,-बोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनय: ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति, वक्ष्ये तदाश्रितं किञ्चित् ॥8॥
नय-व्यवहार अबुध सम्बोधन को नय-शुद्ध कर्मक्षयकार ।
अत: शुद्धनय से कहता हूँ, हे मुमुक्षु! निज स्वार्थ विचार॥

अन्वयार्थ : जो जीव अज्ञानी हैं, उनको समझाने के लिए व्यवहारनय है और कर्मों के नाश हेतु शुद्धनय है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाला मैं, अपने लिए शुद्धनय का आश्रय कर कुछ कहता हूँ अर्थात् शुद्धनय का वर्णन करता हूँ ।

निश्चयनय के अनुगामी पुरुष को ही मोक्ष-प्राप्ति

व्यवहारोऽभूतार्थो, भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनय: ।
शुद्धनयमाश्रिता ये, प्राप्नुवन्ति यतय: पदं परमम् ॥9॥
अभूतार्थ व्यवहार कहा है, कहा शुद्धनय है भूतार्थ ।

जो यति शुद्धनयाश्रय करते, उन्हें परमपद होता प्राप्त॥
अन्वयार्थ : व्यवहारनय तो असत्यार्थभूत और शुद्धनय सत्यार्थभूत कहा गया है; अत: जो मुनि, शुद्धनय के आश्रित हैं, वे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं ।

व्यवहारनय से तत्त्व वाच्य और निश्चयनय से अवाच्य

तत्त्वं वागतिवर्ति, व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम् ।
गुणपर्ययादिविवृते: प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥10॥
तत्त्व अगोचर है वाणी से, किन्तु कथन करता व्यवहार ।
गुण-पर्याय भेद से उसका, शत शाखा में हो विस्तार॥
अन्वयार्थ : निश्चयनय से तो तत्त्व, वाणी से अगोचर है अर्थात् वचन से उसके स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते; किन्तु वही तत्त्व, व्यवहारनय की अपेक्षा से वाच्य है (वचन से उसका कुछ वर्णन कर सकते हैं); वह तत्त्व गुण-पर्याय आदि के विवरण से सैंकड़ों शाखास्वरूप में परिणत हो जाता है ।

व्यवहारनय भी उपादेय

मुख्योपचारविवृतिं, व्यवहारोपायतो यत: सन्त: ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं, तत्त्वमिति व्यवहृति: पूज्या ॥11॥
नय व्यवहार मार्ग से ही, बुध जानें मुख्य और उपचार ।
इससे शुद्धतत्त्व का आश्रय, अत: पूज्य कहते व्यवहार॥
अन्वयार्थ : मुख्य जो शुद्धनय, उसमें उपचार से जिसका विवरण है - ऐसे व्यवहारनय की सहायता से सज्जन पुरुष, शुद्ध तत्त्व का आलम्बन करते हैं, अत: व्यवहारनय भी पूज्य ही है ।

निश्चय रत्नत्रय ही संसार का नाशक

आत्मनि निश्चयबोध,-स्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये ।
भूतार्थ-पथ-प्रस्थित,-बुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम् ॥12॥
आत्मदर्श-अवगम-स्थिति, रत्नत्रय ही भवक्षय करता ।
निश्चयपथ आश्रित आत्मा ही रत्नत्रयस्वरूप होता॥
अन्वयार्थ : आत्मा में जो निश्चयबोध-स्थितिरूप रत्नत्रय है अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्र है; वह संसार-नाश का कारण है । वह रत्नत्रय, कोई अन्य पदार्थ नहीं; किन्तु जिन भव्य जीवों की बुद्धि, भूतार्थ मार्ग में स्थित है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय का आश्रय करने वाली है, उन भव्य जीवों की आत्मा ही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रस्वरूप है ।

रत्नत्रय ही आत्मा का अखण्डरूप

सम्यक्सुखबोधदृशां, त्रितयमखण्डं परात्मनो रूपम् ।
तत्तत्र तत्परो य:, स एव तल्लब्धिकृतकृत्य: ॥13॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-सुख त्रय, अखण्ड हैं परमात्म स्वरूप ।
परमात्मा में लीन रहें जो, वे होते कृतकृत्य स्वरूप॥
अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र - ये तीनों, आत्मा के ही अखण्डरूप हैं; इसलिए जो पुरुष, परमात्मा में लीन हैं अर्थात् परमात्मा के आराधक हैं, उनको सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है और वे कृतकृत्य हो जाते हैं ।

रत्नत्रय का स्वरूप

अग्नाविवोष्णभाव:,सम्यग्बोधोऽस्ति दर्शनं शुद्धम् ।
ज्ञातं प्रतीतमाभ्यां, सत्स्वास्थ्यं भवति चारित्रम् ॥14॥
अग्नि उष्णता सम आत्म-ज्ञान - यह प्रतीति सम्यग्दर्शन ।
ऐसा सम्यक् बोध ज्ञान, इन सहित स्वस्थता है चारित॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान है - ऐसी दृढ़ प्रतीति का नाम सम्यग्दर्शन है; आत्मा का जो भलीभाँति ज्ञान, वही सम्यक्ज्ञान है तथा सम्यग्दर्शन- सम्यग्ज्ञानसहित आत्मा में समीचीन स्वस्थता ही सम्यक्चारित्र है ।

सम्यग्दर्शन से ही कर्मरूपी वैरियों का नाश

विहिताभ्यासा बहिरर्थ,-वेध्यसम्बन्धतो दृगादिशरा: ।
सफला: शुद्धात्म-रणे, छिन्दित-कर्मारि-संघाता: ॥15॥
दर्शनादि बाणों से करते, बाह्य **अर्थ** छेदन अभ्यास ।
कर्म शत्रु का घात करें वे, आतम-रण में होंय सफल॥
अन्वयार्थ : बाह्य जो पदार्थ, वे ही हुए वेध्य 'निशान', उनके सम्बन्ध से किया गया है अभ्यास जिनका - ऐसे सम्यग्दर्शनादि बाण हैं, वे शुद्धात्मारूपी संग्राम में समस्त कर्मरूपी वैरियों को नाश कर सफल होते हैं ।

सम्यग्ज्ञान से ही सिद्धत्व की प्राप्ति

हिंसोज्झित एकाकी, सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति, सम्यग्बोधादृते जातु ॥16॥
हिंसा त्याग बसे एकाकी, सर्व उपद्रव सहन करे ।
सम्यग्ज्ञान बिना वन में, तरुवत् नहिं सिद्धि प्राप्त करे॥
अन्वयार्थ : समस्त प्रकार की हिंसाओं से रहित, अकेला तथा समस्त उपद्रवों (विघ्नों) को सहन करने वाला मुनि, वृक्ष के समान वन में स्थित रहते हुए भी सम्यग्ज्ञान के बिना सिद्धत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

शुद्धनय में स्थित पुरुष का वर्णन

अस्पृष्टमबद्धमनन्य,-मयुतमविशेषमभ्रमोपेत: ।
य: पश्यत्यात्मानं, स पुान् खलु शुद्धनयनिष्ठ: ॥17॥
जो निज को देखे अबद्ध-अस्पृष्ट-अनन्य-अयुत-अविशेष ।
संशय-त्याग वही नर होता निश्चित परम शुद्धनय निष्ठ॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, भ्ररहित होकर, आत्मा को अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, अयुत (असंयुक्त), अविशेष मानता है; वही पुरुष, शुद्धनय में स्थित है - ऐसा समझना चाहिए ।

शुद्ध-अशुद्ध आत्मा के ध्यान से क्रमश: शुद्धता एवं अशुद्धता की प्राप्ति

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं, ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम् ।
जनयति हेम्नो हैं, लोहाल्लौहं नर: कटकम् ॥18॥
शुद्ध लखे जो शुद्ध लहे, ध्याये अशुद्ध तो लहे अशुद्ध ।
स्वर्ण-पात्र ही बने स्वर्ण से, लौह-पात्र हो लोहे से॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार मनुष्य, सुवर्ण से सुवर्णय आभूषण आदि को ही बनाता है और लौह से लौहमय बर्तन आदि को ही बनाता है; उसी प्रकार जो मनुष्य, शुद्धात्मा का ध्यान करता है, उसको शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और जो मनुष्य, अशुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, उसको अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है ।

चारित्रपूर्वक ही दर्शन-ज्ञान की शुद्धता

सानुष्ठान-विशुद्धे, दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म ।
उदितेगभस्तिमालिनि, किं न विनश्यति तमो नैशम् ॥19॥
सूर्योदय होने पर होता, अन्धकार का नाश स्वयं ।
चारित्र सहित दृग-ज्ञान विशुद्ध, तो कदापि न होय जनम॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार जिस जीव के सम्यक्चारित्रसहित सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन विशुद्ध होते हैं, उसका जन्म कदापि नहीं हो सकता ।

मन के नाश का उपाय

आत्मभुवि कर्मबीजात्, चित्ततरुर्यत्फलं फलति जन्म ।
मुक्त्यर्थिना स दाह्यो, भेद-ज्ञानोग्र-दावेन ॥20॥
आत्मभूमि में कर्मबीज से, मनोवृक्ष पर जन्म फले ।
भस्म करे वह बीज मुमुक्षु, भेदज्ञान-दावानल से॥

अन्वयार्थ : आत्मरूपी भूमि में कर्मरूपी बीज से उत्पन्न हुआ मनरूपी वृक्ष, संसाररूपी फल को फलता है, इसलिए जिनको जन्म से मुक्त होने की इच्छा है (जो मुमुक्षु हैं), वे भेदज्ञानरूपी जाज्वल्यमान अग्नि से उस चित्तरूपी वृक्ष को जलाएँ ।

स्व-पर ज्ञानरूपी कतकफल से आत्मतत्त्व की प्राप्ति

अमलात्मजलं समलं, करोति मम कर्मकर्दस्तदपि ।
का भीति: सति निश्चित,-भेदकरज्ञानकतकफले ॥21॥
कर्म-कीच मम अमल आत्मजल, मलिन करे तो भी क्या भय ?
स्व-पर भेद-विज्ञान कतकफल होने से मैं हूँ निर्भय॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त निर्मल आत्मा को कर्मरूपी कीचड़ मैला करे तो भी मुझे कोई भय नहीं है क्योंकि निश्चय से स्व-पर के भेद को करने वाला ज्ञानरूपी कतकफल (फिटकरी) मेरे पास मौजूद है ।

संसार में मेरा कुछ भी नहीं

अन्योऽहमन्यतेत्, शरीरमपि किं पुनर्न बहिरार्था: ।
व्यभिचारी यत्र सुत:, तत्र किमरय: स्वकीया: स्यु: ॥22॥
मैं तन से भी भिन्न सदा, तो बाह्य पदार्थों की क्या बात ?
यदि अपना सुत ही अनिष्ट तो, अन्य शत्रुओं की क्या आस॥

अन्वयार्थ : मैं अन्य हूँ तथा शरीर भी मुझसे अन्य है तो प्रत्यक्ष बाह्य स्त्री, पुत्रादि पदार्थ तो मुझसे अवश्य ही भिन्न हैं क्योंकि यदि संसार में अपना पुत्र ही अनिष्ट का करने वाला हो तो वैरी मेरे कैसे हो सकते हैं ?

शरीर में उत्पन्न रोगों से आत्मा को नुकसान नहीं

व्याधिस्तुदति शरीरं, न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम् ।
अग्निर्दहति कुटीरं, न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥23॥
जैसे अग्नि जलाती घर को, तद्वत नभ जलता न कभी ।
तन विनष्ट हो रोगों से मैं ज्ञान अमूर्तिक अविनाशी॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार किसी झोपड़ी में लगी हुई अग्नि, झोपड़ी को ही जलाती है, किन्तु उसके मध्य में रहे आकाश को नहीं; उसी

प्रकार शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, लेकिन वे रोग, उस शरीर को ही नष्ट करते हैं, किन्तु शरीर में स्थित निर्मल ज्ञानमयी आत्मा को नहीं ।

क्षुधादि समस्त दु:ख, शरीराश्रित

वपुराश्रितमिदमखिलं, क्षुधादिभिर्भवति किमपि यदसातम् ।
नो निश्चयेन तन्मे, यदहं बाधा-विनिर्मुक्त: ॥24॥
देहाश्रित सब दु:ख क्षुधादिक, जड़ तन में ही होते है ।
निश्चय से मैं देह नहीं हूँ , अत: नहीं बाधा मुझमें॥
अन्वयार्थ : भूख, प्यास आदि कारणों से दु:ख उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे समस्त दु:ख, मेरे शरीर में ही होते हैं; लेकिन निश्चयनय से यह शरीर मेरा नहीं है क्योंकि मैं समस्त प्रकार की बाधाओं से रहित हूँ ।

क्रोधादि कषाएँ, आत्मा के धर्म नहीं

नैवात्मनो विकार:, क्रोधादि: किन्तु कर्मसम्बन्धात् ।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्व,-माश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥25॥
क्रोधादिक हों कर्मोदय से, ये आतम के नहीं विकार ।
लाल फूल केआश्रय से ज्यों,स्फटिकमणि दिखता है लाल॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार लाल फूल के आश्रय से स्फटिक मणि लाल हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा में कर्म के सम्बन्ध से क्रोध आदि विकार पैदा हो जाते हैं; किन्तु वे क्रोधादि विकार आत्मा के विकार नहीं हैं ।

कर्म से उत्पन्न विकल्प भी शुद्ध आत्मा के नहीं

कुर्यात् कर्म विकल्पं, किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य ।
मुख-संयोगज-विकृते:, न विकारी दर्पणो भवति ॥26॥
शुद्धस्वरूपी मुझ आतम का, क्या कर सकते कर्म विकल्प ।
मुख मलीन दिखता दर्पण में, किन्तु न मैला हो दर्पण॥
अन्वयार्थ : मुख के संयोग से उत्पन्न हुए विकार से अर्थात् मलिन मुख के सम्बन्ध से जिस प्रकार दर्पण मलिन नहीं होता; उसी प्रकार कर्म चाहे कितने ही विकल्प क्यों न करें, किन्तु अत्यन्त शुद्धस्वरूप मुझ आत्मा का ये विकल्प, कुछ भी नहीं कर सकते ।

शरीरादि भी कर्म से ही उत्पन्न

आस्तां बहिरुपधिचय:, तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम् ।
कर्मकृतत्वान्मत्त:, कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥27॥
दूर रहे यह बाह्य उपाधि, तनवाणी अरु जालविकल्प ।
कर्मजन्य हैं अत: विशुद्ध, स्वभावी मेरे नहिं किञ्चित्॥
अन्वयार्थ : बाह्य स्त्री, पुत्र आदि उपाधि तो दूर रहो; किन्तु शरीर, वचन और विकल्प भी कर्म से किए गये हैं । मैं विशुद्ध हूँ, इसलिए मेरा कुछ भी नहीं है ।

कर्म एवं कर्मफल भी मुझसे भिन्न

कर्म परं तत्कार्यं, सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ, मोही विदधाति खलु नान्य: ॥28॥
कर्म और तज्जन्य सुखादिक, भी मुझसे हैं भिन्न सदा ।

मोही उनमें हर्ष-विषाद करें, नहिं ज्ञानी करें कदा॥

अन्वयार्थ : कर्म भिन्न है तथा जो कर्मों के सुख-दु:खादि कार्य हैं, वे भी मुझसे भिन्न ही हैं। कर्म के सुख-दु:खादि फलों में निश्चय से मोही जीव ही हर्ष-विषाद करता है, अन्य नहीं।

लोक में मोक्षाभिलाषी पुरुष ही सुखी

कर्म न यथा स्वरूपं, न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम्।

तत्रात्ममतिविहीनो, मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥29॥

जैसे कर्म भिन्न हैं वैसे, भिन्न कल्पना सुख-दु:खरूप।

इनमें जो नहिं करे अहं मति, वही मुमुक्षु सुखस्वरूप॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कर्म, आत्मा का स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार कर्म का सुख-दु:ख आदि कार्य, उनकी कल्पना, उनका समूह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए कर्म तथा कर्मफल, जो सुख-दु:ख आदि रूप हैं, उनमें जो मुमुक्षु भव्य जीव, आत्मबुद्धि नहीं करता, वही भव्य आत्मा, संसार में सुखी है।

कर्म की भिन्नता का वर्णन

कर्मकृतकार्यजाते, कर्मैव विधौ तथा निषेधे च।

नाहमतिशुद्धबोधो, विधूतविश्वोपधिर्नित्यम् ॥30॥

कर्मजन्य कार्यों के होने, या अभाव में कारण कर्म।

कर्मोपाधि-विहीन सदा मैं, निर्मल शुद्ध ज्ञान निष्कर्म॥

अन्वयार्थ : कर्म द्वारा किये हुए जो सुख-दु:खरूप कार्य, उन कार्यों के विधान में तथा निषेध में कर्म ही है अर्थात् कर्म ही कर्ता है; किन्तु मैं अत्यन्त निर्मल ज्ञान का धारी हूँ क्योंकि मैं सदैव समस्त प्रकार के कर्मोपाधियों से रहित हूँ।

मोही जीव, बाह्य विकारों में भी अपनापन मानने वाला

बाह्यायामपि विकृतौ, मोही जागर्ति सर्वदात्मेति।

किं नोपभुक्त-हेौ, हें ग्रावाणमपि मनुते ॥31॥

यथा धतूरा खाकर नर को, पत्थर भी सोना लगता।

वैसे मोही प्राणी को यह, बाह्य-जगत अपना लगता॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार कोई मनुष्य धतूरे को खा लेता है तो उसे पत्थर भी सोना मालूपड़ता है; उसी प्रकार जो मनुष्य मोही है अर्थात् जिसे हिताहित का ज्ञान नहीं है, वह मनुष्य बाह्य स्त्री-पुत्रादि विकृति को आत्मा ही मानता है।

मोक्षार्थी का विचार

सति द्वितीये चिन्ता, कर्म ततस्तेन वर्तते जन्म।

एकोऽस्मि सकलचिन्ता, रहितोऽस्मि मुमुक्षुरिति नियतम् ॥32॥

परद्रव्यों से चिन्ता, उससे कर्म और उनसे संसार।

'मैं हूँ एक सकल चिन्ता से रहित,' मुमुक्षु करें विचार॥

अन्वयार्थ : द्वितीय (अन्य) वस्तु के होने पर चिन्ता होती है, चिन्ता से कर्मों का आगमन होता है और कर्मों से संसार में जन्म होता है; इसलिए निश्चय से मोक्ष की इच्छा करने वाला मैं अकेला हूँ तथा समस्त प्रकार की चिन्ताओं से रहित हूँ।

मोक्षाभिलाषी को अन्य पदार्थों सम्बन्धी चिन्ता का अभाव

यादृश्यपि तादृश्यपि, परतश्चिन्ता करोति खलु बन्धम्।

किं मम तया मुमुक्षो:, परेण किं सर्वदैकस्य ॥33॥
परद्रव्यों की जैसी चिन्ता होती वैसे बँधते कर्म ।
मुझ मुमुक्षु को चिन्ता से क्या? मैं तो सदा एक निष्कर्म॥
अन्वयार्थ : जिस-जिस प्रकार की जो जो चिन्ता होती है, वह-वह उस-उस प्रकार के बन्ध को करने वाली होती है । मैं तो मोक्ष की इच्छा करने वाला हूँ, इसलिए मुझे उस चिन्ता से क्या प्रयोजन है? मैं तो सदा एक हूँ, अत: मुझे अन्य पदार्थों से भी क्या प्रयोजन है?

ज्ञानी को निर्मल आत्मस्वरूप का विचार

मयि चेत: परजातं, तच्च परं कर्म विकृतिहेतुरत: ।
किं तेन निर्विकार:, केवलमहममलबोधात्मा ॥34॥
पर से हुआ चित्त वह पर है, कर्म हेतु है विकृति का ।
मै अविकारी ज्ञान-स्वरूपी, मैं हूँ उनसे भिन्न सदा॥
अन्वयार्थ : मेरी आत्मा में जो मन है, वह मुझसे भिन्न है क्योंकि मन, पर-पदार्थ से उत्पन्न हुआ है । जिससे मन उत्पन्न हुआ है - ऐसा वह कर्म भी मुझसे भिन्न है क्योंकि वह विकार को करने वाला है । मैं तो निश्चय से विकाररहित और निर्मल ज्ञान का धारी हूँ ।

मोक्षाभिलाषियों को समस्त चिन्ताओं का त्याग करना आवश्यक

त्याज्या सर्वा चिन्तेति, बुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम् ।
चन्द्रोदयायते यत्, चैतन्यमहोदधौ झगिति ॥35॥
हेय सभी चिन्ता - ऐसी मति, उत्तम तत्त्व प्रगट करती ।
वह मति शीघ्र चेतनोदधि में, चन्द्रोदय सम आचरती॥
अन्वयार्थ : समस्त प्रकार की चिन्ता त्यागने योग्य है; जिस समय इस प्रकार की बुद्धि होती है, उस समय वह बुद्धि, उस तत्त्व को प्रकट करती है कि जो तत्त्व, चैतन्यरूपी प्रबल समुद्र में शीघ्र ही चन्द्रमा के समान आचरण करता है ।

चैतन्यस्वरूप का वर्णन

चैतन्यमसम्पृक्तं, कर्मविकारेण यत्तदेवाहम् ।
तस्य च संसृतिजन्म,-प्रभृतिन किञ्चित्कुतश्चिन्ता ॥36॥
कर्म-विकारों से अलिप्त, चैतन्य-स्वरूपी मैं ही हूँ ।
जन्म-मरण नहिं है चेतन के, फिर क्यों नहिं निश्चिन्त रहूँ ?
अन्वयार्थ : जो चैतन्य, कर्मों के विकारों से अलिप्त है, वही चैतन्य मैं हूँ और संसार में उस चैतन्य के जन्म-मरण आदि कुछ भी नहीं हैं, फिर किसकी चिन्ता करनी चाहिए?

मन को वश में रखने का उपदेश

चित्तेन कर्मणा त्वं, बद्धो यदि बध्यते त्वया तदत: ।
प्रतिबन्दीकृतमात्मन्, मोचयति त्वां न सन्देह: ॥37॥
मन द्वारा तू बँधा कर्म से, यदि तू बाँध रखे मन को ।
तो बन्दी आत्मन्! तू छूटेगा इसमें सन्देह नहीं॥
अन्वयार्थ : अरे आत्मन्! तू इस मन की कृपा से कर्मों से बँधा हुआ है । यदि तू इस मन को बाँध लेवे अर्थात् मन को वश में कर लेवे तो इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि कर्मों से बँधा हुआ भी तू अवश्य छूट जाएगा ।

तुझे मन को अवश्य ही बाँधना चाहिए ।

मन को समझाने की रीति
नृत्वतरोर्विषयसुखच्छायालाभेन किं मन:पान्थ !
भवदु:खक्षुत्पीड़ित, तुष्टोऽसि गृहाण फलममृतम् ॥38॥
रे मन पंथी! नरभव-तरु के, विषय-सुखों की छाया से ।
क्यों सन्तुष्ट हुआ? क्षुत् पीड़ित, तृप्ति लहो अमृत फलसे॥
अन्वयार्थ : संसार के दु:खरूपी क्षुधा से दु:खित अरे मनरूपी बटोही ! तू क्यों मनुष्यरूपी वृक्ष से विषय-सुखरूपी छाया के लाभ से सन्तुष्ट है? अमृत फल को ग्रहण कर!

मुनिराजों के चित्त में निरालम्ब मार्ग का ही अवलम्बन

स्वान्तं ध्वान्तमशेषं, दोषोज्झितमर्कबिम्बमिव मार्गे ।
विनिहन्ति निरालम्बे संचरदनिशं मुनीशानाम् ॥39॥
दोष-रहित मन मुनीश्वरों का, निरालम्ब पथ में गतिशील ।
सूर्य बिम्ब सम घोर तिमिर का, नाश करें वे मुनि सुशील॥
अन्वयार्थ : समस्त दोषों से रहित सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान मुनीश्वरों का मन निरालम्ब मार्ग में ही गमन करता है तथा निरालम्ब मार्ग में गमन करने के कारण वे समस्त जगत् के अन्धकार को दूर कर देते हैं ।

चैतन्यस्वरूप को देखने वाला योगी ही सिद्ध होने योग्य

संविच्छिखिना गलिते, तनूषाकर्मदनमयवपुषि ।
स्वमिव स्वं चिद्रूपं, पश्यन् योगी भवति सिद्ध: ॥40॥
तन-साँचे में कर्म-मोम-तन, ज्ञान-अग्नि से जब पिघले ।
नभवत् निज चैतन्यरूप को, लख कर योगी सिद्ध बनें॥
अन्वयार्थ : सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा जिस समय शरीररूपी मूषा (पात्र) में से कर्मरूपी मोस्वरूप शरीर पिघल कर निकल जाता है, उस समय आकाशवत् अपने चैतन्यरूप को देखने वाला योगी सिद्ध होता है ।

जीव स्वयं ही चैतन्यस्वरूप

अहमेव चित्स्वरूप:-चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव ।
नान्यत्किमपि जडत्वात्, प्रीति: सदृशेषु कल्याणी ॥41॥
मै ही चित् स्वरूप हूँ मेरा, आश्रय भी चैतन्यस्वरूप ।
अन्य सभी जड़ अत: न प्रीति, प्रीति श्रेष्ठ हो सदृश मैं॥
अन्वयार्थ : मैं ही चैतन्यस्वरूप हूँ और मेरे चैतन्यस्वरूप का आश्रय, चैतन्य ही है । चैतन्य से भिन्न वस्तुएँ, न चैतन्यस्वरूप हैं और न चैतन्य की आश्रय हैं, अपितु वे जड़ हैं; अत: मेरी प्रीति, उनमें नहीं हो सकती क्योंकि प्रीति, समानजातीय पदार्थों में ही कल्याण को करने वाली होती है ।

स्व-पर विवेक से ही सिद्धत्व की प्राप्ति

स्व-पर-विभागाऽवगमे, जाते सम्यक् परे परित्यक्ते ।
सहजैक-बोधरूपे, तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्ध: ॥42॥
निज-पर भेदज्ञान होने पर, त्याज्य वस्तु का त्याग करे ।
सहज ज्ञानमय एकरूप में, जम कर आत्मा मुक्ति लहे॥
अन्वयार्थ : जिस समय आत्मा में स्व-पर के विभाग का ज्ञान हो जाता है और त्यागने योग्य वस्तु का त्याग हो जाता है; उस समय

स्वाभाविक निर्मल ज्ञानस्वरूप जो अपना रूप है, उसमें आत्मा ठहरता है और स्वयं सिद्ध हो जाता है ।

निश्चय से आत्मा हेयोपादेय के विभाग से रहित

हेयोपादेयविभाग,-भावनाकथ्यमानमपि तत्त्वम् ।
हेयोपादेयविभाग, -भावना-वर्जित विद्धि ॥43॥
हेय-ग्राह्य सुविभाग भावना,-पूर्वक कहा गया यह तत्त्व ।
हेय-ग्राह्य सुविभाग भावना, रहित जानिए निश्चय तत्त्व॥

अन्वयार्थ : जो तत्त्व, हेय-उपादेय के विभाग की भावना से सहित कहा गया है, वह तत्त्व भी निश्चय से हेय-उपादेय के विभाग की भावना से रहित ही है - ऐसा समझना चाहिए ।

शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति मन से अगोचर

प्रतिपद्यमानमपि च, श्रुताद्विशुद्धं परात्मनस्तत्त्वम् ।
उररीकरोतु चेत:, तदपि न तच्चेतसो गम्यम् ॥44॥
यह विशुद्ध परमात्म-तत्त्व, जो शास्त्रों द्वारा है प्रतिपाद्य ।
मन से ग्रहण करो तो भी यह, कहा गया मन से नहिं ग्राह्य॥

अन्वयार्थ : शास्त्र के द्वारा भलीभांति कहे हुए भी अत्यन्त विशुद्ध परमात्मतत्त्व को चाहे मन से स्वीकार करो तो भी वह मन से गम्य नहीं है अर्थात् मन उसको जान नहीं सकता है ।

अद्वैत भावना से ही मोक्ष की प्राप्ति

अहमेकाक्यद्वैतं, द्वैतमहं कर्मकलित इति बुद्धे: ।
आद्यमनपायि मुक्ते,-रितरविकल्पं भवस्य परम् ॥45॥
'एकरूप मैं' यह अद्वैत, 'कर्म सहित'- यह द्वैत विचार ।
प्रथम बुद्धि ही शिवकारण है, इतर बुद्धि से है संसार॥

अन्वयार्थ : 'मैं अकेला हूँ'- इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह तो अद्वैतबुद्धि है और कर्मों से सहित हूँ - इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह द्वैतबुद्धि है । इन दोनों बुद्धियों में पहली जो अविनाशी अद्वैतबुद्धि है, वह तो मोक्ष की कारण है और दूसरी जो द्वैतबुद्धि है, वह संसार की कारण है ।

द्वैत-भावना से रहित होने पर मोक्ष की प्राप्ति

बद्धो मुक्तोऽहमथ, द्वैते सति जायते ननु द्वैतम् ।
मोक्षायेत्युभयमनो,-विकल्परहितो भवति मुक्त: ॥46॥
'मैं हूँ बँधा, मुक्त भी हूँ मैं ' - इस दुविधा में होता द्वैत ।
उभय विकल्पों से विहीन, योगीजन उनको होता मोक्ष॥

अन्वयार्थ : 'मैं बँधा हूँ तथा मैं मुक्त हूँ - इस प्रकार द्वैत के होने पर भी निश्चय से द्वैत होता है और इन दोनों विकल्पों से रहित जीव ही मुक्त होता है ।

निर्विकल्प चित्त से परमानन्द की प्राप्ति

गत-भावि-भवद्भावा,-ऽभाव-प्रतिभावभावितं चित्तम् ।
अभ्यासाच्चिद्रूपं, परमानन्दाऽन्वितं कुरुते ॥47॥
तीन काल के सब पदार्थ से, भेदज्ञान मम चित्त बसे ।

यही भावना होने से, चेतन में परमानन्द भरे॥

अन्वयार्थ : भूत-भविष्यत्-वर्तानकाल के पदार्थों के भाव-अभाव सम्बन्धी भेदज्ञान की भावना से भाया हुआ चित्त अभ्यास से चैतन्यस्वरूप को परमानन्द सहित करता है।

जो जैसा देखे, उसे वैसे ही आत्मतत्त्व की प्राप्ति

बद्धं पश्यन् बद्धो, मुक्तं मुक्तो भवेत् सदात्मानम्।
याति यदीयेन पथा, तदेव पुरमश्नुते पान्थ: ॥48॥
बँधा देखने से बँधता, जो मुक्त लखे मुक्ति लहे।
मार्ग चले जो जिस नगरी का, उसी नगर में जा पहुँचे॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार जो पथिक, जिस पुर (नगर) के मार्ग से गमन करता है, वह उसी पुर को प्राप्त होता है; उसी प्रकार जो जीव, आत्मा को सदा बँधा हुआ देखता है, वह कर्मों से बद्ध रहता है और जो पुरुष, आत्मा को कर्मों से रहित देखता है, वह मुक्त होता है।

मन को शिक्षा

मा गा बहिरन्तर्वा, साम्य-सुधा-पान-वर्धितानन्द !
आस्स्व यथैव तथैव च, विकारपरिवर्जित: सततम् ॥49॥
साम्य-सुधारस पीकर रे मन!, अन्तर-बाहर कहीं न जा।
सर्व विकार मिटें जिस विधि से, उसी विधि में थिर हो जा॥

अन्वयार्थ : समतारूपी अमृत के पीने से जिसका आनन्द बढ़ा है - ऐसे हे मन! तू बाहर तथा भीतर की ओर गमन मत कर! जिस रीति से तू समस्त प्रकार के विकारों से रहित हो, उसी प्रकार से रह।

चैतन्यरूपी तत्त्व, इस लोक में जयवन्त

तज्जयतियत्र लब्धे, श्रुतभुवि मत्यापगाऽतिधावन्ती।
विनिवृत्ता दूरादपि, झटिति स्वस्थानमाश्रयति ॥50॥
श्रुत-भूमि पर दौड़ रही, मति-सरिता शीघ्र दूर से ही।
निज घर लौटे, जिसे प्राप्त कर, चेतनतत्त्व महान विजयी॥

अन्वयार्थ : जिस चैतन्यरूप तत्त्व के प्राप्त होने पर शास्त्ररूपी भूमि में अत्यन्त दौड़ती हुई बुद्धिरूपी नदी दूर से ही लौट कर, शीघ्र ही अपने स्थान को प्राप्त हो जाती है - ऐसा वह चैतन्यरूपी तत्त्व, सदा इस लोक के जयवन्त रहे।

चैतन्यरूपी तेज को नमस्कार

तन्नमत गृहीताखिल,-कालत्रयगतजगत्त्रयव्याप्ति।
यत्रास्तमेति सहसा, सकलोऽपि हि वाक्परिस्पन्द: ॥51॥
तीन काल अरु तीन लोक में, व्याप्त हुआ जो चेतनतत्त्व।
जिसे प्राप्त कर वचन योग भी, हो विनष्ट है उसे नमन !

अन्वयार्थ : तीन काल और तीन जगत् की व्याप्ति जिसने ग्रहण की है तथा जिसके होने पर समस्त वाणी का परिस्पन्द शीघ्र नष्ट हो जाता है; उस चैतन्य को नमस्कार हो।

समस्त विकल्पजालरूपी वृक्ष को नष्ट करने वाले चैतन्यतत्त्व को नमस्कार

तन्नमत विनष्टाखिल,-विकल्पजालद्रुाणि परिकलिते।
यत्र वहन्ति विदग्धा, दग्ध-वनानीव हृदयानि ॥52॥

नष्ट हुए हैं सब विकल्प तरु, जैसे जला हुआ जंगल ।
चित्त गहें मुनिगण जिसको लख, उस चेतन को सदा नमन !

अन्वयार्थ : जिस चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति के होने पर जो मुनिगण, सर्वथा नष्ट हो गए हैं विकल्परूपी वृक्ष जिनसे - ऐसे हृदय को जले हुए वन के समान धारण करते हैं, उस चैतन्यतत्त्व को नमस्कार हो ।

समस्त नयों के पक्षपातरहित होने पर समयसारस्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति

बद्धो वा मुक्तो वा, चिद्रूपो नयविचारविधिरेष: ।
सर्वनयपक्षरहितो, भवति हि साक्षात्समयसार: ॥53॥
'चेतन बँधा हुआ या मुक्त,' अरे! नय से यह करो विचार ।
जो नय-पक्ष रहित होता वह, पाता पूर्ण समय का सार॥

अन्वयार्थ : चैतन्यस्वरूप आत्मा, कर्मों से बँधा हुआ भी है और कर्मों से रहित भी है - यह 'नय-विचार की विधि' है, किन्तु जो मुमुक्षु 'समस्त नयों के पक्ष से रहित' होता है, वही निश्चय से समयसार होता है ।

आत्मा, नय-प्रमाण आदि विकल्पों से भी रहित

नयनिक्षेपप्रमिति-प्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तम् ।
शुद्धानुभूति-गोचर-महमेकं धाम चिद्रूपम् ॥54॥
नय-प्रमाण-निक्षेप विकल्पों, से विहीन जो परम प्रशान्त ।
अनुभवगोचर मात्र एक मैं, चेतनरूप तेज सुखधाम॥

अन्वयार्थ : जिसमें नय, निक्षेप, प्रमिति आदि किसी प्रकार के विकल्प नहीं हैं, जो उत्कृष्ट है, शान्त है, शुद्धात्मानुभव के गोचर है तथा एक है; वह चैतन्यरूपी तेज ही मैं हूँ ।

दर्शन और ज्ञान, आत्मा से भिन्न नहीं

ज्ञाते ज्ञातमशेषं, दृष्टे दृष्टं च शुद्ध-चिद्रूपे ।
नि:शेष-बोध्य-विषयौ, दृग्बोधौ यन्न तद्भिन्नौ ॥55॥
शुद्ध आत्मा ज्ञात हुआ तो, सब जाना अरु सब देखा ।
सकल वस्तुविषयी दृग-ज्ञान, न शुद्धातम से भिन्न कहा॥

अन्वयार्थ : चैतन्यस्वरूप तेज के जानने पर, समस्त वस्तु जानी जाती है और देखने पर समस्त वस्तु देखी जाती है क्योंकि समस्त ज्ञेय पदार्थ हैं विषय जिनके - ऐसे दर्शन और ज्ञान, आत्मस्वरूप ही हैं, आत्मा से भिन्न नहीं ।

आत्मतत्त्व का दर्शन होने पर बाह्य पदार्थों में प्रीति नहीं

भावे मनोहरेऽपि च, काचिन्नियता च जायते प्रीति: ।
अपि सर्वा: परमात्मनि, दृष्टे तु स्वयं समाप्यन्ते ॥56॥
रम्य वस्तुओं में हो जाती, है निश्चित ही किञ्चित् प्रीति ।
परमातम के दर्शन से, हो विनष्ट सब जग से प्रीति॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त मनोहर पदार्थों से कोई विचित्र निश्चित प्रीति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु जिस समय परमात्मा का दर्शन होता है, उस समय उन अन्य पदार्थों से प्रीति की समाप्ति हो जाती है ।

बुद्धिमान् पुरुषों से सम्बद्ध विद्यमान कर्म भी अविद्यमान के समान

सन्नप्यसन्निव विदां, जनसामान्योऽपि कर्मणो योग: ।

तरणपटूनामृद्धः, पथिकानामिव सरित्पूरः ॥57॥
कर्म उदय सबको पर बुध को, होने पर भी नहिं जैसा ।
कुशल तैरने में जो उसको, सरित्-पूर भी नहिं जैसा॥
अन्वयार्थ : कर्मों का सम्बन्ध, सभी संसारी प्राणियों के लिए समान होने पर भी बुद्धिमान पुरुष के लिए वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान के समान ही है । जिस प्रकार तैरने में चतुर तैराक को बढ़ा हुआ नदी का प्रवाह, विद्यमान होने पर भी अविद्यमान के समान ही है ।

तत्त्वज्ञानियों को ही हेयोपादेय का ज्ञान आवश्यक

मृगयमाणेन सुचिरं, रोहणभुवि रत्नमीप्सितं प्राप्य ।
हेयाऽहेय-श्रुतिरपि, विलोक्यते लब्ध-तत्त्वेन ॥58॥
बहुत देर तक रत्न खोजने, पर हो दैव-योग से प्राप्त ।
तत्त्व प्राप्त करने पर वैसे, हेय ग्राह्य का करो विचार॥
अन्वयार्थ : रोहण पर्वत की भूमि में चिर काल से रत्न को ढूँढने वाला मनुष्य, दैवयोग से इष्ट रत्न को पाकर भी जिस प्रकार 'यह रत्न, हेय है अथवा उपादेय है' - इस बात का विचार करता है; उसी प्रकार जिस मनुष्य को वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति हो गई है, उसको भी 'यह तत्त्व, हेय है अथवा उपादेय है' - ऐसा विचार करना चाहिए ।

तत्त्वज्ञानी का विचार

कर्मकलितोऽपि मुक्तः, सश्रीको दुर्गतोऽप्यहमतीव ।
तपसा दुःख्यपि च सुखी, श्रीगुरुपादप्रसादेन ॥59॥
कर्मसहित हूँ किन्तु मुक्त हूँ, मैं दरिद्र पर लक्ष्मीवान् ।
तप से दुःखी किन्तु मैं सुखिया, गुरुचरणों की कृपा महान्॥
अन्वयार्थ : यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मों से मेरी आत्मा संयुक्त है तो भी मैं श्रीगुरु के चरणारविन्द की कृपा से सदा मुक्त हूँ । यद्यपि मैं अत्यन्त दरिद्री हूँ तो भी मैं श्रीगुरु के चरणों के प्रसाद से लक्ष्मी से सहित हूँ । यद्यपि मैं तप से दुःखी हूँ तो भी श्रीगुरु के चरणों की कृपा से मैं सदा सुखी ही हूँ अर्थात् मुझे संसार में किसी प्रकार का भी दुःख नहीं है ।

दृष्टिगोचर कार्यों में कर्म ही कारण

बोधादस्ति न किञ्चित्, कार्यं यद्दृश्यते मलात्तन्मे ।
आकृष्टयन्त्रसूत्रात्,-दारुनरः स्फुरति नटकानाम् ॥60॥
नहीं ज्ञान से कार्य जगत् में, जो दिखता वह कर्म करे ।
क्योंकि यन्त्र का सूत्र खींचने, से ही पुतली नृत्य करे॥
अन्वयार्थ : जो कुछ मेरे कार्य मौजूद है अर्थात् जो कुछ कार्य मैं कर रहा हूँ, वह कर्म की ही कृपा से कर रहा हूँ, ज्ञान से कुछ भी कार्य नहीं हो रहा क्योंकि नट के द्वारा खींचे हुए यन्त्र के सूत्र से ही पुतली नाचती है ।

आचार्यदेव द्वारा स्वयं की लघुता का प्रदर्शन

निश्चयपञ्चाशत्, पद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वशक्तिसूचित,-वस्तुगुणैर्विरचितेऽयमिति ॥61॥
पद्मनन्दि आचार्य निमित्त, एवं स्व-शक्ति से किया प्रगट ।
वस्तुतत्त्व किञ्चित् शब्दों ने, रचा सुनिश्चय पंचाशत्॥
अन्वयार्थ : श्री पद्मनन्दि आचार्य के आश्रित तथा अपनी शक्ति से प्रकट किया है वस्तु का गुण जिन्होंने - ऐसे अनेक शब्दों द्वारा इस

'निश्चय पञ्चाशत्' की रचना की गई है ।

'निश्चय पञ्चाशत्' अधिकार का उपसंहार

(वसन्ततिलका)

तृणं नृपश्री: किमु वच्मि तस्यां; न कार्यमाखण्डल-सम्पदोऽपि ।

अशेष-वाञ्छा-विलयैक-रूपं; तत्त्वं परं चेतसि चेन्ममास्ति ॥62॥

यदि समस्त इच्छा-विहीन, यह तत्त्व बसे मेरे मन में ।

राज-लक्ष्मी का क्या कहना, सुरपति वैभव भी तृण है॥

अन्वयार्थ : समस्त प्रकार की इच्छाओं को दूर करने वाला चैतन्यरूपी तत्त्व, यदि मेरे मन में मौजूद है तो समस्त राजलक्ष्मी मेरे लिए तृण के समान है; इसलिए मैं उस विषय में क्या कहूँ? अरे! इन्द्र की सम्पदा भी मेरे लिए किसी काम की नहीं है ।

'ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति' अधिकार का मङ्गलाचरण

(शार्दूलविक्रीडित)

भ्रूक्षेपेण जयन्ति ये रिपुकुलं, लोकाधिपा: केचन;

द्राक् तेषामपि येन वक्षसि दृढ, रोप: समारोपित: ।

सोऽपि प्रोद्गतविक्रम: स्मरभट:, शान्तात्मभिर्लीलया;

यै: शस्त्रग्रहवर्जितैरपि जित:, तेभ्यो यतिभ्यो नम: ॥1॥

भृकुटी टेढ़ी करके जिसने, रिपु-समूह को किया परास्त ।

उसके उर में भी दृढ़ता से, काम-बाण ने किया प्रहार॥

ऐसे पराक्रमी योद्धा को, खेल-खेल में शस्त्र-विहीन ।

शान्त चित्त जो मुनिवर जीतें, उन्हें नवाते हम निज शीश॥

अन्वयार्थ : संसार में अनेक राजा ऐसे भी हैं, जो अपनी भृकुटी के विक्षेप मात्र से ही वैरियों के समूह को जीत लेते हैं; उन राजाओं के हृदय में शीघ्र ही जिस कामदेवरूपी योद्धा ने दृढ़ता से बाण को समारोपित कर दिया है - ऐसे अत्यन्त पराक्रमी कामदेवरूपी सुभट को भी समस्त प्रकार के शस्त्रों से रहित तथा जिनकी आत्मा क्रोधादि कषायों का नाश होने से शान्त हो गई है - ऐसे यतियों ने जीत लिया है, उन यतियों को मेरा नमस्कार है अर्थात् वे यतीश्वर मेरी रक्षा करें ।

ब्रह्मचर्य का धारी कौन?

आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो, यत्तत्र चर्यं परं;

स्वाङ्गाऽसङ्गविवर्जितैकमनस:, तद्ब्रह्मचर्यं मुने: ।

एवं सत्यबला: स्वमातृभगिनी,-पुत्रीसमा: प्रेक्षते;

वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा, स ब्रह्मचारी भवेत् ॥2॥

भिन्न ज्ञानमय ब्रह्म आत्मा, ब्रह्मचर्य इसमें थिरता ।

तन में नहीं ममत्व जिन्हें, उन मुनि को ब्रह्मचर्य होता॥

ऐसा होने पर वृद्धादिक, नारी को जो मात-समान ।

अथवा बहन सुता सम देखे, वही जितेन्द्रिय पुरुष महान॥

अन्वयार्थ : जिनका मन शरीर की आसक्ति से रहित है अर्थात् जिनके मन में शरीर-विषयक कुछ भी आसक्तता नहीं है - ऐसे मुनि, समस्त पदार्थों से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप आत्मब्रह्म में लीन रहते हैं, एकाग्रता करते हैं, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं तथा जो वृद्धादि स्त्रियों को अपनी माता, बहन व पुत्री के समान देखता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है ।

मुनिराज को अतिचार लगने पर प्रायश्चित्त का विधान

स्वप्ने स्यादतिचारिता यदि तदा, तत्रापि शास्त्रोदितं;
प्रायश्चित्तविधिं करोति रजनी, भागानुगत्या मुनिः ।
रागोद्रेकतया दुराशयतया, सा गौरवात्कर्मणः;
तस्य स्याद्यदि जाग्रतोऽपि हि पुनः, तस्यां महच्छोधनम् ॥3॥
लगें स्वप्न में यदि अतिचार, मुनीश्वर को तो श्रुत अनुसार ।
रात्रि विभाग करके वे मुनि, प्रायश्चित्त विधि करते स्वीकार॥
रागोद्रेक दुराशय या फिर, तीव्र कर्मवश जागृति में ।
लगें यदि अतिचार उन्हें, तो करते भारी संशोधन॥

अन्वयार्थ : यदि किसी कारण से स्वप्न में मुनि को अतिचार लग जाए तो मुनि, रात्रि का विभाग कर, (शयनावस्था त्याग कर) शास्त्र में कहे हुए प्रायश्चित्त को स्वीकार करते हैं । यदि जाग्रत अवस्था में, राग के उद्रेक से, खोटे आशय से या कर्म की गुरुता से मुनि को अतिचार लग जाए तो उस अतिचारिता के होने पर वे बड़ा भारी संशोधन करते हैं ।

दृढ़ मन के संयम से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा

नित्यं खादति हस्तिसूकरपलं, सिंहो बली तद्रतिः;
वर्षेणैकदिने शिलाकणचरे, पारावते सा सदा ।
न ब्रह्मव्रतमेति नाशमथवा, स्यान्नैव भुक्तेर्गुणात्;
तद्रक्षां दृढ़ एक एव कुरुते, सार्धोनः संयमः ॥4॥
एक बार रति करे वर्ष में, सिंह निरन्तर माँस भखे ।
गज-शूकर का किन्तु कबूतर, कंकड़ खा रतिलीन रहे॥
भोजन करने या न करने, से व्रत का सम्बन्ध नहीं ।
ब्रह्मचर्य की रक्षा करता, मुनि-मन का दृढ़ संयम ही॥

अन्वयार्थ : भोजन के गुण से अर्थात् भोजन करने से ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट होता है तथा भोजन न करने से ब्रह्मचर्य व्रत पलता है - ऐसी बात नहीं है क्योंकि अत्यन्त बलवान सिंह, सदा हाथी तथा सूअर के माँस को खाता है, फिर भी वर्ष में एक ही बार रति करता है । जबकि कबूतर सदा पत्थर के टुकड़े खाता है तो भी वह सदैव रति करता रहता है अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन (रक्षा), एक मात्र साधु के मन का दृढ़ संयम ही करता है ।

संयम के दो प्रकार

चेतः संयमनं यथावदवनं, मूल-व्रतानां मतं;
शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां, बाह्यं मुनेर्ज्ञानिनः ।
तज्जन्यं पुनरान्तरं समरसी,-भावेन चिच्चेतसो;
नित्यानन्दविधायि कार्यजनकं, सर्वत्र हेतुर्द्वयम् ॥5॥
मूलगुणों की यथार्थ, रक्षा करना है मन का संयम ।
उत्तर-गुण की यथाशक्ति रक्षा, है मुनि का बाह्य संयम॥
चेतन और चित्त का समरस-भाव, यही अन्तः संयम ।
नित्यानन्द-विधायी कार्य-जनक हैं ये दोनों संयम॥

अन्वयार्थ : ज्ञानी मुनि के जीवन में मूलगुण का पालन यथावत् तथा उत्तरगुण का पालन यथाशक्ति होता हैं, उनका रक्षण करना, वह तो बाह्य मन का संयम है । उस संयम से उत्पन्न सदैव आनन्द को करने वाले चैतन्य के समरसी भाव से जो मन का संयम होता है, वह

अन्तरंग मन का संयम है । सर्वत्र यह दोनों प्रकार का संयम ही कारण है ।

स्त्री-संगति के त्याग हेतु व्रती को प्रयत्न करना आवश्यक

चेतोभ्रान्तिकरी नरस्य मदिरा,-पीतिर्यथा स्त्री तथा;
तत्सङ्गेन कुतो मुनेर्व्रतविधि:, स्तोकोऽपि सम्भाव्यते ।
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभि:, प्राप्तैस्तपोभूमिकां;
कर्तव्यो व्रतिभि: समस्तयुवति:, त्यागे प्रयत्नो महान् ॥6॥
जैसे मदिरा-पान पुरुष को, भ्रमित करे वैसे नारी ।
उसकी संगति से किञ्चित् भी, व्रत-विधान हो सके नहीं॥
अत: तपो भू प्राप्त यति-मति, जो भवसागर से भयभीत ।
करें महान प्रयत्न नारियों, को तजने का सभी व्रती॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार मदिरापान, मनुष्य के मन में भ्रान्ति को करने वाला होता है, उसी प्रकार स्त्री भी मनुष्य के चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली होती है, इसलिए ऐसी स्त्री-संगति से मुनि के थोड़े भी व्रत के विधान की सम्भावना नहीं रहती; अत: जिन मुनियों की मति, संसार में भ्रमण करने से भयभीत है और जो मुनि-भूमिका को प्राप्त हो गये हैं, उनको समस्त स्त्रियों के त्याग का बड़ा भारी प्रयत्न करना चाहिए ।

दृढ़तापूर्वक स्त्री-त्याग का आदेश

मुक्तेर्द्वारि दृढ़ार्गला भवतरो:, सेकेऽङ्गना सारिणी;
मोहव्याधविनिर्मिता नरमृगस्याबन्धने वागुरा ।
यत्संगेन सतामपि प्रसरति, प्राणातिपातादि तत्;
तद्वार्तापि यतेर्यतित्वहतये, कुर्यान्न सा किं पुन: ॥7॥
नारी मुक्ति-द्वार-अर्गला, भव-तरु-सिंचन की नाली ।
नर-मृगबन्धन हेतु मोहमय, व्याध-विनिर्मित दृढ़ जाली॥
जिसकी संगति में सज्जन भी, हिंसादिक से होते लिप्त ।
जिसकी वार्ता भी मुनित्व को, हने करे नहिं कौन अनिष्ट॥

अन्वयार्थ : स्त्री, मुक्ति-द्वार को रोकने वाली मजबूत अर्गला है, संसाररूपी वृक्ष को सींचने वाली नाली है, मनुष्यरूपी मृगों को बाँधने के लिए मोहरूपी व्याध द्वारा बनाया हुआ जाल है क्योंकि जिस स्त्री के संग से सज्जनों का भी जीवन नष्ट हो जाता है और जिसकी बात भी मुनियों के मुनिपने का नाश करने के लिए होती है; वह स्त्री, संसार में और क्या-क्या नहीं कर सकती? अर्थात् समस्त प्रकार के अनिष्टों को कर सकती है ।

प्रीतिपूर्वक स्त्री का मुख देखते ही समस्त व्रत-तप की समाप्ति

तावत्पूज्यपदस्थिति: परिलसत्, तवद्यशो जृम्भते;
तावच्छुभ्रतरा गुणा: शुचिमन:, तावत्तपो निर्मलम् ।
तावद्धर्मकथापि राजति यते:, तावत्स दृश्यो भवेत्;
यावन्न स्मरकारि हारि युवते, रागान्मुखं वीक्षते ॥8॥
तब तक उत्तम पद है यति का, तब तक शोभित यश बढ़ता ।
तब तक ही गुण निर्मल रहते, तप अरु मन निर्मल रहता॥
तब तक दर्शनीय है वह यति, सुन्दर उसकी धर्मकथा ।

जब तक कामोत्तेजक रमणी-मुख नहिं प्रीति सहित लखता॥

अन्वयार्थ : जब तक यति, प्रीति से काम को उद्दीपन करने वाले मनोहर स्त्री के मुख को नहीं देखते, तब तक ही वे यति पूज्यपद में अर्थात् उत्तमपद में स्थित रहते हैं, उन यति का ही शोभायमान यश, वृद्धि को प्राप्त होता है, उनके गुण ही निष्कलंक रहते हैं, उन यतीश्वर का मन ही पवित्र बना रहता है, उनका तप ही निर्मल रहता है, उनकी धर्मकथा ही शोभित रहती है, वे ही देखने योग्य बने रहते है; किन्तु उक्त स्त्री का मुख देखते ही ये समस्त बातें नहीं रहती, इसलिए यतियों को स्त्री का मुख कदापि नहीं देखना चाहिए ।

यतीश्वरों को सर्वथा स्त्री-त्याग आवश्यक

तेजोहानिमपूततां व्रतहतिं, पापं प्रपातं पथो;
मुक्ते रागितयाङ्गनास्मृतिरपि, क्लेशं करोति ध्रुवम् ।
तत्सान्निध्यविलोकनप्रतिवच:, स्पर्शादय: कुर्वते;
किं नानर्थपरम्परामिति यते:, त्याज्याबला दूरत: ॥9॥
राग सहित नारी-चिन्तन भी, तेज और व्रत नष्ट करे ।
पापों से अपवित्र करे नर, को शिवपथ से भ्रष्ट करे॥
तो उसका सान्निध्य विलोकन, वचनालाप और स्पर्श ।
क्या अनर्थ नहिं करे अत:, नारी का संग दूर से त्याज्य॥

अन्वयार्थ : स्त्री का रागसहित स्मरण भी तेज की हानि करता है, अपवित्रता करता है, व्रतों का नाश करता है, पाप की उत्पत्ति करता है, मोक्ष के मार्ग से मनुष्यों को गिराता है और निश्चय से नाना प्रकार के क्लेशों को उत्पन्न करता है तो उस स्त्री के समीप रहना, उसको देखना, उसके साथ वचनालाप और स्पर्शादि करना किस-किस अनर्थ को नहीं करेंगे?

यतियों को समस्त स्त्रियों के साथ प्रीति कष्टकारक

वेश्या स्याद्धनतस्तदस्ति न यते:, चेदस्ति सा स्यात्कुतो;
नात्मीया युवतिर्यतित्वमभवत्, तत्त्यागतो यत्पुरा ।
पुसोऽन्यस्य च योषितो यदि रति:, छिन्नो नृपात्तत्पते:;
स्यादापज्जनन-द्वयक्षयकरी, त्याज्यैव योषा यते: ॥10॥
वेश्या तो मिलती है धन से, निर्धन यति को कैसे प्राप्त ।
निज नारी भी मिले न उसको, क्योंकि किया पहले से त्याग॥
संग करें परनारी का तो, पति अरु राजा देंवें दण्ड ।
अत: उभय भवनाशक नारी, यति को पूर्णरूप से त्याज्य॥

अन्वयार्थ : यदि मुनि, वेश्या के लोलुपी बनें तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती क्योंकि वेश्या अधिक धन होने पर ही प्राप्त होती है और धन, यति के पास नहीं होता है । यदि कदाचित् धन होवे तो भी वेश्या उनको कैसे मिल सकती है? अपनी स्त्री भी यति को प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि प्रथम तो स्त्री-त्याग से ही यतिपना हुआ है । यदि दूसरे पुरुष की स्त्री के साथ यति रति करें तो वे राजा से छेदन आदि दण्ड को प्राप्त होते हैं तथा उस स्त्री के पति के द्वारा भी बहुत कष्टों को पाते हैं, इसलिए यतियों को दोनों जन्मों का नाश करने वाली स्त्री का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन

दारा एव गृहं न चेष्टकचितं, तत्तैर्गृहस्थो भवेत्;
तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं, स ब्रह्मचर्यं परम् ।
वैकल्यं किल तत्र चेत्तदपरं, सर्वं विनष्टं व्रतं;

पुंसस्तेन विना तदा तदुभय,-भ्रष्टत्वमापद्यते ॥11॥
घर न बने ईंटों से, रमणी से ही नर गृहस्थ होता ।
उसे त्यागने से यति निश्चय, ब्रह्मचर्य उत्तम धरता॥
यदि वह खण्डित हो जाए तो, अन्य सभी व्रत होते नष्ट ।
ब्रह्मचर्य बिन यतिपना अरु, श्रावकपन भी होय विनष्ट॥
अन्वयार्थ : ईंटों से व्याप्त घर, घर नहीं कहलाता, अपितु स्त्री का नाम ही घर है, उन स्त्रियों के कारण ही मनुष्य गृहस्थ कहलाता है तथा स्त्री के सर्वथा त्याग से ही यति, उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठ निश्चय ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं । यदि उस ब्रह्मचर्य में किसी कारण से विकलता हो जाए तो दूसरे समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना पुरुष का व्रतीपना तथा गृहस्थपना दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ।

स्त्री के लावण्य की विनाशीकता

सम्पद्येत दिन-द्वयं यदि सुखं, नो भोजनादेस्तदा;
स्त्रीणामप्यतिरूपगर्वितधिया,-मङ्गं शवाङ्गायते ।
लावण्याद्यपि तत्र चंचलमिति, श्लिष्टं तत्तद्गतां;
दृष्ट्वा कुंकुमकज्जलादिरचनां, मा गच्छ मोहं मुने !12॥
रूप-गर्विता नारी को यदि, दो दिन भी भोजन न मिले ।
तो मुर्दे जैसा हो जाए, तन उसका किञ्चित् न हिले॥
उसके तन की सुन्दरता भी, चंचल अरु क्षणभंगुर है ।
अत: यति लख कुंकुम-काजल की रचना मत मोह करो॥
अन्वयार्थ : रूप से अत्यन्त घमण्डयुक्त है बुद्धि जिनकी, ऐसी स्त्रियों को यदि दो दिन भी भोजनादि से सुख न मिले अर्थात् यदि वे दो दिन भी न खावें तो उनका शरीर, मुर्दे के शरीर समान जान पड़ता है । उन स्त्रियों के शरीर में मौजूद जो लावण्य है, वह भी चंचल अर्थात् क्षण भर में विनाशीक है; इसलिए हे मुनियों! उन स्त्रियों के शरीर में केसर, काजल आदि की रचना देख कर मोहित मत होओ ।

स्त्री के मृत शरीर की भयावहता

रम्भास्तम्भमृणालहे शशभृत्, नीलोत्पलाद्यै: पुरा;
यस्य स्त्रीवपुष: पुर: परिगतै:, प्राप्ता प्रतिष्ठा न हि ।
तत्पर्यन्तदशां गतं विधिवशात्, क्षिप्तं क्षतं पक्षिभि:;
भीतैश्छादितनासिकै: पितृवने, दृष्टं लघु त्यज्यते ॥13॥
केले का स्तम्भ कमल का तन्तु स्वर्ण अरु नीलकमल ।
चन्द्र आदि सब फीके हो जाते, हैं जिस तन के सन्मुख॥
मृतक दशा में उसे फेंक दे, पक्षी क्षत-विक्षत करते ।
हो भयभीत नॉक को ढाकें, पुरुष उसे तत्क्षण तजते॥
अन्वयार्थ : जिस स्त्री के शरीर के सामने केलों के स्तम्भ, कमल के तन्तु, बर्फ, चन्द्रमा और नीलकमल आदि ने भी पहले प्रतिष्ठा नहीं पाई थी; वह स्त्री का शरीर, जिस समय मृत हो जाता है और श्मशान भूमि में फेंक दिया जाता है तथा जब पक्षीगण, उसके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, उस समय वह देखा हुआ शरीर भी भयभीत तथा जिनकी नाक ढ़की हुई है - ऐसे मनुष्यों के द्वारा शीघ्र ही छोड़ दिया जाता है ।

स्त्री का शरीर, मूढ़बुद्धि पुरुषों को ही आनन्द देने वाला

अङ्गं यद्यपि योषितां प्रविलसत्, तारुण्यलावण्यवद्;
भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं, मूढात्मनां नो सताम् ।

उच्छूनैर्बहुभि: शवैरतितरां, कीर्णं श्मशानस्थलं;
लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो, नो राजहंसव्रज: ॥14॥
यद्यपि नारी अंग मनोहर, तरुण और लावण्य सहित ।
तो भी मूर्खों को प्रिय लगते, चतुर पुरुष को कभी नहीं॥
जैसे सड़े हुए मुर्दों से, व्याप्त श्मशान भूमि में जा ।
काले कौए ही खुश होते, राजहंस तो कभी नहीं॥

अन्वयार्थ : यद्यपि स्त्रियों का शरीर, मनोहर यौवनावस्था तथा लावण्य से सहित और अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित है; तथापि वह मूढ़बुद्धि पुरुषों को ही आनन्द देने वाला है, सज्जन पुरुषों को नहीं । जिस प्रकार सड़े हुए अनेक मुर्दों से व्याप्त श्मशान भूमि को प्राप्त होकर, काले काकों का समूह ही सन्तुष्ट होता है, राज-हंसों का समूह नहीं ।

स्त्री के शरीर में विद्वानों की अप्रीति का कारण

यूकाधाम कचा: कपालमजिना,-च्छन्नं मुखं योषितां;
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ, बाहू तते कीकसे ।
तुन्दं मूत्रमलादिसद्म जघनं, प्रस्यन्दिवर्चोगृहं;
पादस्थूणमिदं किमत्र महतां, रागाय सम्भाव्यते ॥15॥
केश जुओं के घर अरु मुख-कपाल चाम से ढके हुए ।
नेत्र छिद्र हैं, भुजा युगल लम्बी हड्डी, कुच माँस भरे॥
पेट मूत्र-मल का घर, जंघाओं के बीच बहे मल-धार ।
खंभे जैसे पैर कौन अंग, सज्जन को प्रिय करो विचार॥

अन्वयार्थ : स्त्रियों के बाल तो जुओं के साथ हैं, मुख तथा कपाल चाम से वेष्टित हैं, दोनों नेत्र उसके छेद हैं, स्तन माँस से भरे हुए हैं, दोनों भुजाएँ विस्तृत हड्डियाँ हैं, स्त्रियों का पेट मूत्र तथा मल का घर है, जाँघें बहती हुई विष्टा का घर है और स्त्रियों के चरण स्थूण के समान हैं; इसलिए न मालूम सज्जनों को स्त्रियों की कौन-सी चीज, राग का कारण बनती है ।

स्त्री के शरीर की अपवित्रता

कार्याकार्यविचारशून्यमनसो, लोकस्य किं ब्रू हे;
यो रागान्धतयादरेण वनिता,-वक्त्रस्य लालां पिबेत् ।
श्लाघ्यास्ते कवय: शशांकवदिति, प्रव्यक्तवाग्डम्बरै:;
चर्मानद्ध-कपालमेतदपि यै,-रग्रे सतां वर्ण्यते ॥16॥
अरे! राग में अन्धे होकर, नारी-मुख की लार पियें ।
योग्य-अयोग्य विवेक रहित नर, के बारे में क्या बोलें॥
वचनाडम्बर से जो कविगण, चन्द्रसमान कहें मुख को ।
सज्जन के सम्मुख वे कवि भी, नहीं कदापि प्रशंसा योग्य॥

अन्वयार्थ : राग से अन्धे होकर लोक बड़े आदर से स्त्री के मुख की लार का पान करते हैं । कार्य तथा अकार्य के विचार से रहित जिसका मन है - ऐसे लोक के विषय में हम क्या कहें? तथा वे कवि भी सराहना योग्य नहीं हैं कि जो सज्जनों के सामने चाम से ढका हुआ है कपाल जिसका' - ऐसे स्त्री-मुख को अपने प्रबल वाणी के आडम्बर से चन्द्रमा के समान कहते हैं ।

शृङ्गारपोषक कवियों की निन्दा

एष स्त्रीविषये विनापि हि पर,-प्रोक्तोपदेशं भृशं;

रागान्धो मदनोदयादनुचितं, किं किं न कुर्याज्जन: ।
अप्येतत्परमार्थबोधविकल:, प्रौढं करोति स्फुरत्;
श्रृङ्गारंप्रविधाय काव्यमसकृत्, लोकस्य कश्चित्कवि: ॥17॥
लोक, राग में अन्धा होकर, बिना मिले कोई उपदेश ।
कामातुर हो नारी के संग, क्या नहिं अनुचित कार्य करे ?
तो भी जो परमार्थ शून्य वे, कवि निरन्तर रचते काव्य ।
जन-जन को वे चतुर बनाते, भरते उसमें रस शृंगार॥

अन्वयार्थ : राग से अन्धा यह जगत्, परोपदेश के बिना ही कामोदय के वश होकर क्या-क्या अनुचित कार्य नहीं करता? अर्थात् समस्त अनुचित कार्यों को करता है । इतने पर भी जिसको अंश मात्र भी परमार्थ का ज्ञान नहीं - ऐसे कोई-कोई कवि, भली-भाँति शृंगार के वर्णन से युक्त काव्य बना कर, अन्य लोगों को निरन्तर चतुर (स्त्रियों के सेवन में प्रौढ़) बनाते रहते हैं ।

स्त्री तथा धन के त्यागी मुनिराज देवों के देव

दारार्थादिपरिग्रह: कृतगृह, व्यापारसारोऽपि सन्;
देव: सोऽपि गृही नर: परधन,-स्त्रीनिस्पृह: सर्वदा ।
यस्य स्त्री न तु सर्वथा न च धनं, रत्नत्रयालंकृतो;
देवानामपि देव एव स मुनि:, केनाऽत्र नो मन्यते ॥18॥
नारी-**अर्थ** का परिग्रह अरु, गृह-सम्बन्धी व्यापार जिसे ।
परधन-नारी से यदि निस्पृह, तो उसको भी देव कहें॥
नहीं सर्वथा धन-नारी संग, रत्नत्रय से भूषित हैं ।
देवों में भी देव मुनीश्वर, कौन नहीं उनको माने ?

अन्वयार्थ : जिस पुरुष को स्त्री का परिग्रह मौजूद है, धन का परिग्रह मौजूद है तथा जिसने समस्त गृह-सम्बन्धी व्यापार किया है - ऐसा गृहस्थ मनुष्य भी यदि पर-धन तथा पर-स्त्री में निस्पृह है तो वह भी देव कहा जाता है तो फिर जिस मुनि के न तो स्त्री है और न सर्वथा धन ही है तथा जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय से शोभित हैं, वे तो देवों के भी देव हैं और उन मुनि की सब ही प्रतिष्ठा करते हैं ।

सच्चा सुख कैसा है?

कामिन्यादि विनात्र दु:खहतये, स्वीकुर्वते तच्च ये;
लोकास्तत्र सुखं पराश्रिततया, तद्दु:खमेव धुरवम् ।
हित्वा तद्विषयोत्थमन्तविरसं, स्तोकं यदाध्यात्मिकं;
तत्तत्त्वैकदृशां सुखं निरुपमं, नित्यं निजं नीरजम् ॥19॥
कामजन्य दु:ख-नाश हेतु जो, करते नारी को स्वीकार ।
किन्तु पराश्रित होने से वह, सुख भी दु:ख है करो विचार॥
विषयोत्पन्न विरस किञ्चित् सुख, से विहीन जो आत्मानन्द ।
तत्त्वज्ञानियों को ही अनुपम, दोष-रहित वह नित्यानन्द॥

अन्वयार्थ : स्त्री आदि के बिना संसार में दु:ख होता है - यह समझ कर, लोग दु:ख को दूर करने के लिए स्त्री आदि को स्वीकार करते हैं; परन्तु स्त्री आदि में जो सुख है सो पराधीनता के कारण दु:ख ही है, इसलिए अन्त में विरस तथा जो विषय से उत्पन्न थोड़ा सुख है, उसको छोड़ कर, तत्त्वज्ञानियों का आत्म-सम्बन्धी सुख ही सच्चा सुख है । वही सुख उपमा रहित, सदाकाल रहने वाला, आत्मीक तथा निर्दोष है - ऐसा समझना चाहिए ।

पुण्यवान् मनुष्यों द्वारा भी यतीश्वरों को नमस्कार

सौभाग्यादिगुणप्रमोदसदनै:, पुण्यैर्युतास्ते हृदि;
स्त्रीणां ये सुचिरं वसन्ति विलसत्, तारुण्यपुण्यश्रियाम् ।
ज्योतिर्बोधमयं तदन्तरदृशा, कायात्पृथक् पश्यताम्;
येषां ता न तु जातु तेऽपि कृतिन:, तेभ्यो नम: कुर्वते ॥20॥
पुण्योदय से जिन्हें प्राप्त, सौभाग्य और आनन्द विलास ।
तरुण मनोहर सुन्दर नारी, के उर में चिरकाल निवास॥
ऐसे पुण्यात्मा मनुष्य भी, उन मुनियों को नमन करें ।
जिनके उर नहिं बसें नारियाँ, जो शरीर को भिन्न लखें॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य, सौभाग्यादि गुण तथा आनन्द के स्थानभूत पुण्य से सहित हैं । मनोहर यौवनावस्था से पवित्र शोभा के कारण स्त्रियों के मन में चिरकाल तक निवास करते हैं - ऐसे पुण्यवान् पुरुष, अपनी प्रसिद्ध अन्तर्दृष्टि से सम्यग्ज्ञानमय तेज को शरीर से जुदा देखते हैं और जिनके पास स्त्री फटकने तक नहीं पाती - ऐसे मुनीश्वरों को नमस्कार करते हैं ।

मनुष्य भव से ही मोक्ष की प्राप्ति

दुष्प्रापं बहुदु:खराशिरशुचि, स्तोकायुरल्पज्ञता-;
ऽज्ञातप्रान्तदिन: जराहतमति:, प्रायो नरत्वं भवे ।
अस्मिन्नेव तपस्तत: शिवपदं, तत्रैव साक्षात्सुखं;
सौख्यार्थीति विचिन्त्य चेतसि तप:, कुर्यान्नरो निर्मलम् ॥21॥
दुर्लभ नरभव दु:खसागर है, अशुचि और अल्पायु सहित ।
अल्पज्ञान है मरण अनिश्चित, वृद्धावस्था में मति-भ्रष्ट॥
ऐसे नरभव में ही तप है, जो अनन्त शिव-सुख-आधार ।
यह विचार कर सुखवाच्छक नर, निर्मल तप धर हों भवपार॥

अन्वयार्थ : इस संसार में नरभव, बहुत दु:खों का समूह है; इसमें अपवित्रता तथा आयु की कमी है । ज्ञान थोड़ा होने से अन्तिम दिन का निश्चय नहीं है अर्थात् 'मरण कब होगा?' - यह बात मालूम नहीं है तथा बुद्धि भी वृद्धावस्था से नष्ट है; तथापि उत्तम तप एवं मोक्षपद की प्राप्ति, इसी नरभव से होती है, वही साक्षात् सुख का कारण है; इसलिए अपने चित्त में भलीभाँति ऐसा विचार करो कि जो मनुष्य, उत्तम सुख की प्राप्ति के अभिलाषी हैं; उनको अवश्य ही निर्मल तप करना चाहिए ।

'ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति' अधिकार का उपसंहार

उक्तेयं मुनिपद्मनन्दिभिषजा, द्वाभ्यां युताया: शुभा:;
सद्वृत्तौषधिविंशतेरुचितवा,-गर्थाम्भसा वर्तिता ।
निर्ग्रन्थै: परलोकदर्शनकृते, प्रोद्यत्तपोवार्धकै:;
चेतश्चक्षुरनङ्गरोगशमनी, वर्ति: सदा सेव्यताम् ॥22॥
बाइस छन्दौषधि में घोले, योग्य वचन अरु **अर्थ** सुनीर ।
पद्मनन्दि मुनि वैद्य विनिर्मित, ब्रह्मचर्य की रक्षावर्ति ॥
सेवन करो! वर्ति यह शामक, चित्-चक्षु का काम-कुरोग ।
उत्तम तप से वृद्धिंगत, निर्ग्रन्थ करें दर्शन परलोक॥

अन्वयार्थ : श्री पद्मनन्दि नामक वैद्य द्वारा, दो से सहित विंशति (बीस) अर्थात् बाईस श्लोकों में उचित वचन तथा अर्थरूपी जल से श्रेष्ठ छन्दरूप औषधि से युक्त यह शुभ सलाई (ब्रह्मचर्य रक्षावर्ति अधिकार) बनाई है, इसलिए जो सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित निर्ग्रन्थ हैं

और उन्नत तप से वर्धान अर्थात् अत्यन्त तपस्वी हैं; उनको मनरूपी नेत्र में स्थित कामरूपी रोग को शान्त करने वाली यह सलाई, परलोक के दर्शन के लिए अवश्य ही सेवनीय है ।

'ऋषभ स्तोत्र' का मङ्गलाचरण

(गाथा)
जय उसह णाहिणंदण, तिहुवणणिलएक्कदीव तित्थयर ।
जय सयलजीववच्छल, णिम्मलगुणरयणणिहि णाह ॥1॥
जय ऋषभ! नाभिनन्दन! त्रिभुवननिलयैकदीप तीर्थंकर !
जय सकलजीववत्सल! निर्मलगुणरत्ननिधे नाथ !
नाभिराय के पुत्र ऋषभ, त्रिभुवन-दीपक तीर्थंकर जय !
सकल जीव-वत्सल के धारी,जयवन्तो गुणरत्न-निलय !
अन्वयार्थ : श्रीमान् नाभिराजा के पुत्र, ऊर्ध्वलोक-मध्यलोक-अधोलोकरूपी घर के दीपक तथा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हे ऋषभदेव भगवान! आप इस लोक में सदैव जयवन्त रहो । इसी प्रकार समस्त जीवों पर वात्सल्य को धारण करने वाले और निर्मल गुणरूपी रत्नों के आकर (खजाना) हे नाथ! आप सदैव इस लोक में जयवन्त रहो ।

जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करनेवाले मनुष्य ही धन्य!

सयलसुरासुरमणिमउड,-किरणकब्बुरियपायपीढ तुं ।
धण्णा पेच्छंति थुणंति, जवंति झायंति जिणणाह ॥2॥
सकलसुरासुरमणिमुकुट,-किरणै: कुर्वरितपादपीठ त्वां ।
धन्या: प्रेक्षन्ते स्तुवन्ति, जपन्ति ध्यायन्ति जिननाथ !
सकल सुरासुर मुकुट सुमणियों, से चित्रित जिनका आसन ।
दर्शन-स्तुति करें जाप अरु, ध्यान धरें जो नर वे धन्य !
अन्वयार्थ : समस्त सुर-असुरों के चित्र-विचित्र मणियों से युक्त मुकुटों की किरणों से कुर्वरित चित्र-विचित्र है सिंहासन जिनका - ऐसे हे जिननाथ! जो मनुष्य, आपको देखते हैं, आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं; वे मनुष्य धन्य हैं ।

जिनेन्द्र भगवान को देखने पर असीम आनन्द की प्राप्ति

चम्मच्छिणा वि दिट्ठे, तइ तइलोये ण माइ महहरिसो ।
णाणच्छिणा उणो जिण, ण याणिमो किं परिप्फुरइ ॥3॥
चर्माऽक्ष्णाऽपि दृष्टे, त्वयि त्रैलोक्ये न माति महाहर्ष: ।
ज्ञानाऽक्ष्णा पुनर्जिन!, न जानीम: किं परिस्फुरति॥
चर्म-चक्षु से लखें आपको, हर्ष समाये नहीं त्रिलोक ।
तो फिर ज्ञान-चक्षु से देखें, तो कितना आनन्द न हो॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! हे भगवान्! यदि हम आपको चर्म की आँख से देख लें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह तीन लोक में नहीं समाता; फिर यदि आपको ज्ञानरूपी नेत्र से देखें तो हम कह ही नहीं सकते कि हमें कितना आनन्द होगा?

जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की स्तुति

तं जिण णाणमणंतं, विसईकयसयलवत्थुवित्थारं ।
जो थुणइ सो पयासइ, समुद्दकहमवडसालूरो ॥4॥
त्वां जिन ज्ञानमनन्तं, विषयीकृतसकलवस्तुविस्तारं ।

य: स्तौति स प्रकाशयति, समुद्रकथामवटसालूर:॥
जिनका ज्ञान अनन्त और, जाननहारा है सब जग का ।
उनकी स्तुति करना मानो, मेंढक कहता सिन्धु-कथा॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जो पुरुष, 'नहीं है अन्त जिसका और जिसने समस्त वस्तुओं के विस्तार को विषय कर लिया है' - ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है, वह कुएँ के मेंढ़क के समान समुद्र की कथा का वर्णन करता है ।

जिनेन्द्र के स्मरणमात्र से ही अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी की प्राप्ति

अम्हारिसाण तुह गोत्त,-कित्तणेण वि जिणेस संचरइ ।
आएसं मग्गंती, पुरओ हियइच्छिया लच्छी ॥5॥
अस्मादृशानां तव, गोत्र-कीर्तनेनाऽपि जिनेश! संचरति ।
आदेशं मार्गयन्ति, पुरतो हृदयेप्सिता लक्ष्मी:॥
हे जिनेन्द्र! मुझ जैसे लघु-धी, करें आपका यदि गुणगान ।
मन-वाञ्छित लक्ष्मी भी सन्मुख, आज्ञा माँगे करे नमन॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आपके नामरूपी कीर्तन मात्र से ही, हम सरीखे मनुष्यों के सामने आज्ञा को माँगती हुई, मनोवाञ्छित लक्ष्मी गमन करती है ।

जिनेन्द्र के अवतरण के बाद स्वर्ग शोभाविहीन

जासि सिरी तइ संते, तुव अवयणमित्तिये णट्ठा ।
संके जणियाणिट्ठा, दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धा वि ॥6॥
आसीत् श्री: त्वयि सति, त्वयि अवतीर्णे नष्टा ।
शंके जनिताऽनिष्टा, दृष्टा सर्वार्थसिद्धावपि॥
प्रभु सर्वार्थसिद्धि से आकर, भूतल पर अवतार लिया ।
तो वियोग के दुख से नष्ट, हुई स्वर्गों की सब शोभा॥
अन्वयार्थ : हे सर्वज्ञ! हे जिनेश! जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे, उस समय उस विमान की जैसी शोभा थी, वह आपके इस पृथ्वीतल पर उतरने के बाद आपके वियोग से उत्पन्न हुए दु:ख से नष्ट हो गई - ऐसी मैं (ग्रन्थकार) शंका (अनुान) करता हूँ ।

इस पृथ्वीतल की शोभा अधिक बढ़ गई ।

पृथ्वी के 'वसुमति' नाम की सार्थकता
णाहिघरे वसुहारा, वडणं चं सुइरमहि तुहोयरणा ।
आसि णहाहि जिणेसर, तेण धरा वसुई जाया ॥7॥
नाभिगृहे वसुधारा,-पतनं यत् सुचिरं महीमवतरणात् ।
आसीत् नभसो जिनेश्वर! तेन धरा वसुती जाता॥
प्रभु ने जब अवतार लिया, तब नाभि नृपति के घर चिरकाल ।
धन-वर्षा होती थी नभ से, अत: वसुमति हुई धरा॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश्वर! जिस समय आप इस पृथ्वीतल पर उतरे थे, उस समय नाभिराजा के घर में बहुत काल तक आकाश से धनवर्षा हुई थी, जिसके कारण हे प्रभो! यह पृथ्वी 'वसुति' नाम से (वसु अर्थात् धन) प्रसिद्ध हुई है ।

माता मरुदेवी की महानता

सच्चियसुरणवियपया, मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे ।

पुरऊ पट्टो बज्झइ, मज्झे से पुत्तवंत्तीणं ॥8॥
शचिसुरनमितपदा, मरुदेवी प्रभो! स्थितोऽसि यद्गर्भे ।
पुरत: पट्टो बध्यते, मध्ये तस्या: पुत्रवतीनाम्॥
मरुदेवी के गर्भ रहे प्रभु, हुआ मात-पद शचि-सुर वन्द्य ।
जग की पुत्रवती महिलाओं, में उनका पद सर्वप्रथम॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र प्रभो! आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित हुए थे, इसलिए मरुदेवी माता, इन्द्राणी तथा देवों से नमस्कार योग्य हुई थीं; अत: जितनी पुत्रवती स्त्रियाँ हैं, उन सबमें मरुदेवी का ही पद सबसे प्रथम है ।

जन्मकल्याणक के समय इन्द्र द्वारा निर्निमेष प्रभु को निहारना

अंकत्थे तइ दिट्ठे, जंतेण सुरालयं सुरिंदेण ।
अणिमेसत्तबहुत्तं, सयलं णयणाण पडिवण्णं ॥9॥
अंकस्थे त्वयि दृष्टे, गच्छता सुरालयं सुरेन्द्रेण ।
अनिमेषत्वबहुत्वं, सफलं नयनानां प्रतिपन्नम्॥
प्रभो! आपको गोद बिठा कर, इन्द्र मेरु की ओर चला ।
तब नेत्रों का पलक रहितपन, अरु सहस्रपन सफल हुआ॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र प्रभो! जिस समय इन्द्र आपको लेकर मेरुपर्वत की ओर चला था और जब आपको अपनी गोद में बैठे हुए देखा था; उस समय उसके नेत्रों का निमेष (पलक) से रहितपना तथा बहुतपना (सहस्रपना) सफल हुआ था ।

मेरुपर्वत का तीर्थपना

तित्थत्तणमावण्णो, मेरू तुह जम्मण्हाणजलजोए ।
तत्तस्स सूरपमुहा, पयाहिणं जिण कुणंति सया ॥10॥
तीर्थत्वमापन्नो, मेरुस्तव जन्मस्नानजलयोगेन ।
तत् तस्य सूरप्रमुखा:, प्रदक्षिणां जिन! कुर्वन्ति सदा॥
प्रभु के जन्म-स्नान सुजल से, मेरु तीर्थ को प्राप्त हुआ ।
अत: मेरु की चन्द्र-सूर्य भी, करें निरन्तर प्रदक्षिणा॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जिस समय आपका जन्म-स्नान (जन्माभिषेक), मेरुपर्वत पर हुआ था, उस समय उस स्नान-जल के सम्बन्ध से मेरुपर्वत भी तीर्थपने को प्राप्त हुआ था अर्थात् तीर्थ बना था; इसी कारण हे जिनेन्द्र! उस मेरुपर्वत की सूर्य, चन्द्रमादि सभी ग्रह सदैव प्रदक्षिणा करते रहते हैं ।

मेरुपर्वत पर प्रभु के जन्माभिषेक का साक्षात् दृश्य

मेरुसिरे पडणुच्छलिय,-णीरताडणपणट्ठदेवाणं ।
तं वित्तं तुह ण्हाणं, तह जह णहमासियं किण्णं ॥11॥
मेरुशिरसि पतनोच्छलन-नीरताडनप्रनष्टदेवानाम् ।
तद्वृत्तं तव स्नानं, तथा यथा नभाश्रितं कीर्ण्॥
मेरु शीष पर स्नान हुआ तो, जल उससे गिर कर उछला ।
जल ताडित-पीड़ित देवों से, नभमण्डल सब व्याप्त हुआ॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र प्रभो! मेरुपर्वत के मस्तक पर आपका स्नान होने पर, जल-पतन से उछलते हुए जल के ताड़न से अत्यन्त दु:खी, उन देवों की ऐसी दशा हुई, मानों उनकी आवाज के कारण चारों ओर से आकाश ही व्याप्त हो गया हो ।

जन्माभिषेक के समय मेघों की क्षणभङ्गुरता का कारण

णाह तुह जम्मण्हाणे, हरिणो मेरुम्मि पणच्चमाणस्स ।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा, तह अज्जवि भंगुरा मेहा ॥12॥
नाथ! तव जन्मस्नाने, हरेर्मेरौ प्रनृत्यमानस्य ।
प्रलम्बभुजाभ्यां भग्ना:, तथा अद्यपि भंगुरा मेघा:॥
प्रभो! आपके जन्म-स्नान पर, सुरपति ने जो नृत्य किया ।
लम्बी-लम्बी भुजा फैलने, से क्षणभंगुर मेघ हुआ॥

अन्वयार्थ : हे प्रभो! आपके जन्म-स्नान के समय इन्द्र ने अपनी लम्बी भुजाओं को फैला कर नृत्य किया था, उन लम्बी भुजाओं से जो मेघ भग्न हुए थे, वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही हैं ।

कल्पवृक्षों के अभाव में प्रजाजनों की आजीविका कैसे?

जाण बहुएहिं वित्ती, जाया कप्पद्दुमेहिं तेहिं विणा ।
एक्केण वि ताण तए, पयाण परिकप्पिया णाह ॥13॥
यासां बहुर्भिवृत्ति:, जाता कल्पद्रुमै: तैर्विना ।
एकेनापि तासां, त्वया प्रजानां परिकल्पिता नाथ !
आजीविका प्रजा की होती थी प्रभु! कल्पवृक्ष द्वारा ।
जब वे नष्ट हुए तो होने, लगी आपके ही द्वारा॥

अन्वयार्थ : हे प्रभु! पूर्व में प्रजाजनों की आजीविका, बहुत से कल्पवृक्षों के माध्यम से होती थी; उन कल्पवृक्षों के अभाव में, उन प्रजाजनों की आजीविका आप अकेले ने ही की ।

पृथ्वी की सनाथता कब और कैसे?

पहुणा तए सणाहा, धरा सि तीए कहं णहो वूढो ।
णवघणसमयसमुल्लसिय,-सासछम्मेण रोंचो ॥14॥
प्रभुणा त्वया सनाथा, धरा आसीत् तस्या: कथमहोवृद्ध: ।
नवघनसमयसमुल्लसित,-श्वासच्छद्मना रोांच:॥
प्रभो! आपने ही पृथ्वी को, नहीं किया था यदि सनाथ ।
तो नव-मेघ काल में श्वासोच्छ्वास रूप में क्यों रोमाञ्च ?

अन्वयार्थ : हे जिनेश प्रभो! आपने ही यह पृथ्वी सनाथ की क्योंकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघ के समय होने वाले श्वासोच्छ्वास के बहाने इसमें रोांच कैसे हुए होते?

नीलाजंना के निमित्त से प्रभु का वैराग्य

विज्जुव्व घणे रंगे, दिट्ठपणट्ठा पणच्चिरी अमरी ।
जइया तइया वि तए, रायसिरी तारिसी दिट्ठा ॥15॥
विद्युदिव घने रंगे, दृष्टप्रणष्टा प्रनृत्यन्ती अमरी ।
यदा तदापि त्वया, राज्यश्री: तादृशी दृष्टा॥
रंगभूमि में विद्युत् सम, नर्तकी नष्ट होती देखी ।
प्रभु ने तत्क्षण राज्यलक्ष्मी, भी चञ्चल होती देखी॥

अन्वयार्थ : हे प्रभु! जिस प्रकार मेघ में बिजली प्रकट होते ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आपने नृत्य करती हुई नीलांजना नाम की

देवांगना को पहले देखा, पश्चात् नष्ट होते हुए भी देखा तथा उसी समय आपने राज्य-लक्ष्मी को भी उसके समान ही चञ्चल समझ लिया ।

नदी के बहने एवं कलकल करने का कारण

वेरग्गदिणे सहसा, वसुहा जुण्णं तिणं व जं मुक्का ।
देव!तए सा अज्ज वि, विलवइ सरिजलरवा वराई ॥16॥
वैराग्यदिने सहसा, वसुधा जीर्णतृणमिव यत् मुक्ता ।
देव!त्वया सा अद्यापि, विलपति सरिज्जलमिषेण वराकी॥
प्रभु को जब वैराग्य हुआ, जीरण तृण-सम वसुधा त्यागी ।
तबसे अब तक दीन हीन भू, सरिताओं के मिस1 रोती॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश प्रभो! जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था, उसी दिन से आपने यह पृथ्वी पुराने तृण के समान छोड़ दी थी; अत: तबसे यह बेचारी दु:खी पृथ्वी, इस समय भी नदी के बहाने से विलाप कर रही है ।

प्रभु की कायोत्सर्ग मुद्रा से धर्म का सम्बन्ध

अइसोइओ सि तइया, काउस्सग्गट्ठिओ तुं णाह ।
धम्मिक्कघरारंभे, उज्झीकय मूलखंभो व्व ॥17॥
अतिशोभितोऽसि तदा, कायोत्सर्गस्थितस्त्वं नाथ !
धर्मैकगृहारम्भे, ऊर्ध्वीकृत मूलस्तम्भ इव॥
अतिशय शोभित हुए नाथ! जब, कायोत्सर्ग सहित राजे ।
धर्म-सदन निर्माण हेतु प्रभु, मूलस्तम्भ समान हुए॥
अन्वयार्थ : हे भगवान्! जिस समय आप कायोत्सर्ग सहित विराजमान थे, उस समय धर्मरूपी घर के निर्माण में उन्नत मूलस्तम्भ के समान आप अत्यन्त सुशोभित होते थे ।

देखो जी, आदीश्वर स्वामी! कैसा ध्यान लगाया है

हियत्थझाणसिहिओज्झमाण सहसा सरीरधूो व्व ।
सोहइ जिण तुह सीसे, महुयरकुलसंणिहो केसभरो ॥18॥
हृदयस्थ-ध्यान-शिखि-दह्यमान-शीघ्रं शरीर-धूरवत् ।
शोभते जिन! तव शिरसि, मधुकरकुलसन्निभ: केशसमूह:॥
ध्यान-अग्निजल रही हृदय में, जिससे प्रभो! शरीर जला ।
भ्रमर समान केश मस्तक पर, शोभित मानो उड़े धुँआ॥
अन्वयार्थ : हे प्रभु!आपके मस्तक पर भौंरों के समूह समान काला, जो केशसमूह है, वह हृदय में स्थित ध्यानरूपी अग्नि से शीघ्र जलाये हुए शरीर के धुएँ समान शोभित होता है ।

निर्मल समाधि के प्रभाव से सर्वज्ञता की प्राप्ति

कम्मकलंकचउक्के, णट्ठे णिम्मलसमाहिभूईए ।
तुह णाणदप्पणेच्चिय, लोयालोयं पडिप्फलियं ॥19॥
कर्मकलंकचतुष्के नष्टे निर्मलसमाधिभूत्या ।
तव ज्ञानदर्पणेऽर्च्य! लोकालोकं प्रतिबिम्बितम्॥
नाथ! हुए निर्मल समाधि से, कर्म-कलंक चतुष्टय नष्ट ।
तभी आपके ज्ञान-मुकुर में, लोकालोक हुए बिम्बित॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश! निर्मल समाधि के प्रभाव से चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर, आपके सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पण में यह लोकालोक प्रतिबिम्बित हो रहा है ।

घातियाकर्मों के नष्ट हो जाने पर अघातिया कर्मों की स्थिति

आवरणाईणि तए, समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण ।
कम्मचउक्केण मुअं, व णाह भीऐण सेसेण ॥20॥
आवरणादीनि त्वया, समूलमुन्मूलितानि दृष्ट्वा ।
कर्मचतुष्केण मृतवत्, नाथ! भीतेन शेषेण॥
प्रभो! आपने चार घातिया, कर्म समूल विनष्ट किये ।
उन्हें देख कर भय से कर्म, अघाती मृतक समान हुए॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जिस समय आपने ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का जड़ सहित सर्वथा नाश कर दिया था; उस समय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मों को देख कर, शेष चार अघातिया कर्म भी भय के कारण आपकी आत्मा में मृतदेह के समान स्थित रहे ।

समवसरण में मुनियों के बीच प्रभु की विद्यमानता

णाणामणिणिम्माणे, देव ठिओ सहसि समवसरणम्मि ।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो, जियाण जोईण सव्वाणं ॥21॥
नानामणिनिर्माणे, देव! स्थित: शोभते समवसरणे ।
उपरि इव सन्निविष्ट:, यावतां योगिनां सर्वेषाम्॥
प्रभु! नाना मणियों से निर्मित, समवसरण में शोभित हैं ।
जितने मुनिवर समवसरण में, उनमें सर्वोपरि बैठे॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! जिस समवसरण की रचना, चित्र-विचित्र मणियों से की गई थी, उस समवसरण में विद्यमान जितने भी मुनि थे, उन समस्त मुनियों के ऊपर विराजमान आप अत्यन्त शोभा को प्राप्त होते थे ।

समवसरण की लोकोत्तर शोभा

लोउत्तरा वि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये ।
लहिऊण लहइ महिमं, रविणो णलिणिव्व कुसुमट्ठा ॥22॥
लोकोत्तराऽपि सा, समवशरणशोभा जिनेश! तव पादौ ।
लब्ध्वा लभते महिमानं, रवे: नलिनीव कुसुस्था॥
यथा कमल में रवि-किरणों से, आती है अतिशय शोभा ।
प्रभु के चरण-कमल को पाकर, समवसरण की श्रेष्ठप्रभा॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो ! जिस प्रकार पुष्प में स्थित कमलिनी, सूर्य की किरणों को पाकर और भी अधिक महिमा को प्राप्त होती है; उसी प्रकार समवसरण की शोभा, स्वभाव से ही लोकोत्तर होती है, तथापि हे जिनेन्द्र! आपके चरण-कमलों को पाकर वह और भी अत्यन्त महिमा को धारण करती है ।

प्रभु की निर्दोषता एवं निष्कलंकता, फिर भी चन्द्रमा की उपमा

णिद्दोसो अकलंको, अजडो चंदोव्व सहसि तं तहवि ।
सीहासणायलत्थो, जिणंद कयकुवलयाणंदो ॥23॥
निर्दोष: अकलंक:, अजड: चन्द्रवत् शोभते तथापि ।
सिंहासनाचलस्थ:, जिनेन्द्र! कृतकुवलयानन्द:॥

प्रभो! आप निर्दोष अजड़, अकलंक किन्तु हो चन्द्र समान ।
शोभित अचल सिंहासन पर, भूमण्डल को देते आनन्द॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र प्रभो! आप यद्यपि निर्दोष, अकलंक और अजड़ हैं तो भी अचल सिंहासन में स्थित कुवलय को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा के समान शोभित होते हैं ।

प्रभु के समीप वृक्ष भी अशोक

अच्छंतु ताव इयरा, फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा ।
होइ असोहो रुक्खो, वि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥24॥
आस्तां तावत् इतरा, स्फुरितविवेका: नम्रशिर: शिखरा: ।
भवति अशोको वृक्ष:, अपि नाथ! तव सन्निधानस्थ:॥
नतमस्तक हो नमन करें, उन भव्य ज्ञानियों की क्या बात ?
अति आश्चर्य कि प्रभु समीप में, जड़तरु भी अशोक हो जात॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जिन भव्य जीवों की ज्ञान-ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते हैं, वे तो दूर ही रहें, किन्तु हे भगवन्! आपके समीप रहता हुआ जड़ वृक्ष भी अ-शोक हो जाता है, 'अशोक' कहलाता है ।

प्रभु दर्शन के समय भव्य जीवों के अश्रुपात का कारण

छत्तत्तयमालंबिय,-णिम्मल मुत्ताहलच्छला तुज्झ ।
जणलोयणेसु वरिसइ, अमयं पि व णाह बिंदूहिं ॥25॥
छत्रत्रयमालम्बित,-निर्मलमुक्ताफलच्छलात् तव ।
जनलोचनेषु वर्षति, अमृतमिव नाथ! बिन्दुभि:॥
तीन छत्र में लटक रहे जो, निर्मल मुक्ताफल अनुपम ।
अमृत-वर्षा करें भव्य-लोचन में - ऐसा हो मालूम॥
अन्वयार्थ : हे भगवान्! आपके ऊपर लटकते हुए ये तीनों छत्र, निर्मल मुक्ताफल के बहाने मनुष्यों की आँखों में बिन्दुओं (अश्रुओं) से अमृत की वर्षा करते हैं - ऐसा लगता है ।

प्रभु के ऊपर इन्द्रों द्वारा चँवर ढोरने का अतिशय

कयलोयलोयणुप्पल,-हरिसाइ सुरेसहत्थचलियाइं ।
तुह देव सरयससहरकिरणकयाइव्व चमराय ॥26॥
कृतलोकलोचनोत्पल,-हर्षाणि सुरेशहस्तचलितानि ।
तव देव! शरच्छशधर,-किरणकृतानि इव चमराणि॥
प्रभो! ढोरते चँवर इन्द्र, जिनसे हर्षित जन-नेत्र-कमल ।
शरद ऋतु की चन्द्र-किरण से, मानो निर्मित हुए चँवर॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जिन चँवरों को देखने से समस्त लोक के नेत्ररूपी कमल अत्यन्त हर्षित हुए हैं और जिनको बड़े-बड़े इन्द्र ढ़ोरते हैं - ऐसे आपके चँवर, शरदऋतु के चन्द्रमा की किरणों से बनाये गये हैं - ऐसा मालूम होता है ।

कामदेव द्वारा पुष्पबाण-त्याग के माध्यम से मानो पुष्पवृष्टि

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण! तुम्मि काऊण ।
अमरकयपुप्फविट्ठी, छला इव बहु मुअइ कुसुसरो ॥27॥
विफलीकृतपंचशर:, पंचशरो जिन! त्वयि कृत्वा ।

अमरकृतपुष्पवृष्टिच्छलाद् इव बहून् मुञ्चति कुसुशरान्॥
प्रभो ! आपने किया काम के, पाँचों बाणों को असफल ।
पुष्पवृष्टि से भासित होता, काम त्याग करता निजबाण॥
अन्वयार्थ : हे भगवान् जिनेन्द्रदेव! आपके सामने जिस कामदेव के पाँचों बाण विफल हो गये हैं - ऐसा वह कामदेव, देवों द्वारा आपके ऊपर की हुई जो पुष्पों की वर्षा, उसके बहाने से मानो अपने पुष्पबाणों का त्याग कर रहा है - ऐसा मालूम होता है ।

दुन्दुभि-नाद की घोषणा

एस जिणो परमप्पा, णाणोण्णाणं सुणेह मा वयणं ।
तुह दुंदुही रसंतो, कहइ व तिजयस्स मिलियस्स ॥28॥
एष जिन: परमात्मा, नान्योऽन्येषां श्रुणुत मा वचनम् ।
तव दुन्दुभि: रसन्, कथयति इव त्रिजगत: मिलितस्य॥
त्रिभुवन को एकत्रित कर, कह रही दुन्दुभी यह मानो ।
जिन-परमात्मा अन्य नहीं, तो नहीं अन्य के वचन सुनो॥
अन्वयार्थ : हे भगवन्! आपकी बजती हुई दुन्दुभि (नगाड़ा) तीनों लोक में यह बात कहती है कि ''हे जीवों! वास्तविक परमात्मा तो भगवान आदिनाथ ही हैं; इनसे भिन्न कोई परमात्मा नहीं है, इसलिए तुम दूसरे का उपदेश मत सुनो, इन्हीं का उपदेश सुनो ।''

प्रभु का प्रभासमूह, सन्ताप एवं जड़ता, दोनों का नाशक

रविणो संतावयरं, ससिणो उण जड्डयाअरं देव ।
संतावजडत्तहरं, तुम्हच्चिय पहु पहावलयं ॥29॥
रवे: सन्तापकरं, शशिन: पुन: जडताकरं देव !
सन्तापजडत्वहरं, तवार्चितं प्रभो प्रभावलयम्॥
सूर्य-प्रभा सन्ताप करे अरु, चन्द्र-प्रभा जड़ता करती ।
किन्तु आपकी प्रभा, ताप अरु जड़ता, दोनों को हरती॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश्वर प्रभो! सूर्य का प्रभासमूह तो मनुष्यों को सन्ताप करने वाला है तथा चन्द्रमा का प्रभासमूह, जड़ता करने वाला है; किन्तु हे पूज्यवर! आपका प्रभासमूह, सन्ताप व जड़ता, दोनों का ही नाश करने वाला है ।

प्रभु की वाणी, संसाररूपी विष की नाशक

मंदरमहिज्जमाणांबु,-रासिणिग्घोससण्णिहा तुज्झ ।
वाणी सुहा ण अण्णा, संसारविसस्स णासयरी ॥30॥
मन्दरमथ्यमानाम्बु-राशिनिर्घोषसन्निभा तव ।
वाणी शुभा नान्या, संसारविषस्य नाशकरी॥
मन्दरगिरि से मथन किये, सागर की गर्जन सम प्रभु वाणी ।
प्रभु की ही शुभ अन्य नहीं, संसार नाश करने वाली॥
अन्वयार्थ : हे भगवान् जिनेश! मन्दराचल से मन्थन किये गये समुद्र के निर्घोष (बड़े भारी शब्द) के समान आपकी वाणी ही शुभ है, अन्य वाणी नहीं क्योंकि आपकी वाणी ही संसाररूपी विष का नाश करने वाली है, जबकि अन्य वाणी, संसार-विष का नाश नहीं करती ।

वाणी-श्रवण के प्रभाव से अज्ञानियों को भी उत्तम फल की प्राप्ति

पत्ताण सारणिं पिव, तुज्झ गिरं सा गई जडाणं पि ।
जा मोक्खतरुट्ठाणे, असरिसफलकारणं होइ ॥31॥

प्राप्तांना सारिणीमिव, तव गिरं सा गति: जड़ानामपि ।
या मोक्षतरुस्थाने, असदृशफलकारणं भवति॥
हे प्रभु! क्यारी के समान, तव वाणी पाकर अज्ञानी ।
जीवों को भी शिवतरु में, अत्युत्तम फल प्राप्ति होती॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! जो अज्ञानी जीव, आपकी वाणी प्राप्त करते हैं, उन अज्ञानी जीवों की भी वही गति होती है, जो मोक्षरूपी वृक्ष के स्थान में अत्युत्तम फल प्राप्ति का कारण होती है ।

प्रभु के वचनों की श्रद्धा के प्रभाव से संसार-सागर पार

पोयं पिव तुह पवयणम्मि, संलीणा फुडमहो कयजडोहं ।
हेलाए च्चिय जीवा, तरंति भवसायरमणंतं ॥32॥
पोत इव तव प्रवचने, संल्लीना स्फुटहो कृतजलौघम् ।
हेलयार्चित जीवा:, तरन्ति भवसागरमनन्तम् ॥
बहु जलराशि समान अनन्त, भवोदधि को नर पार करें ।
पोत-समान प्रभु-वचनों पर, बैठ बात ही बात में॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार उत्तम जहाज में बैठा हुआ मनुष्यों का समूह, गम्भीर समुद्र को शीघ्रता से तिर जाता हैं; उसी प्रकार हे जिनेश! जो मनुष्य, आपके वचनों में लीन हैं अर्थात् आपके वचनों पर सम्यक्श्रद्धा करते हैं, वे मनुष्य क्षणमात्र में ही संसार-सागर तिर जाते हैं ।

प्रभु के वचन ही अनेकान्तवाद के द्योतक

तुह वयणं चिय साहइ, णूणमणेयंतवायवियडपहं ।
तह हिययपईवअरं, सव्वत्तणमप्पणो णाह ॥33॥
तव वचनमेव साधयति, नूनमनेकान्तवादविकटपथम् ।
तथा हृदयप्रदीपकरं, सर्वज्ञत्वमात्मनो नाथ !
अनेकान्त के विकट मार्ग को, वचन आपके ही साधें ।
हे प्रभु! केवलज्ञान आपका, भविजन हृदय प्रदीप्त करे॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! वास्तव में आपके वचन ही अनेकान्तवाद रूपी विकट मार्ग को सिद्ध करते हैं तथा आपका सर्वज्ञपना ही समस्त मनुष्यों के हृदय का प्रकाश करने वाला है ।

केवली के वचनों की परीक्षा करने में मति-श्रुतज्ञानी असमर्थ

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइबलेण केवलिणो ।
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंत,-पक्खिगणणेवि सो अंधो ॥34॥
विप्रतिपद्यते यस्तव गिरि मतिश्रुतिवलेन केवलिन: ।
वरदृष्टिदृष्टनभोयात,-पक्षिगणनेऽपि सोऽन्ध:॥
अपने मति-श्रुत ज्ञान कुबल से जिन वचनों में करें विवाद ।
ज्यों अन्धे पक्षी गिनने में, दृष्टिवन्त से करें विवाद॥
अन्वयार्थ : हे भगवान्! जो मनुष्य, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के बल से आप केवली के वचनों में विवाद करता है; वह मनुष्य, अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा आकाश में की गई पक्षियों की गणना में अन्धे व्यक्ति के समान संशय करता है ।

प्रभु के नयों की कुनयवादियों पर विजय

भिण्णाण परणयाणं, एक्केक्कमसंगया णया तुज्झ ।

पावंति जयम्मि जयं, मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं ॥35॥
भिन्नानां परनयानां, एकमेकमसंगता: नया: तव ।
प्राप्नुवन्ति जगत्त्रये जयं, मध्ये रिपूणां किं चित्रम्॥
प्रभो! आपके एक-एक नय, विजयी होते त्रिभुवन में ।
परवादी के असम्बद्ध नय, हारें क्या अचरज इसमें ?
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र भगवान्! आपके नय, परस्पर में सम्बन्ध नहीं रखने वाले भिन्न-भिन्न ऐसे परवादियों के नय (कुनय) रूपी वैरियों के मध्य तीनों जगत् में विनय को प्राप्त होते हैं; इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

प्रभु का वर्णन करने में बृहस्पति भी असमर्थ

अण्णस्स जए जीहा, कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ ।
जत्थ जिण ते वि जाया, सुरगुरुपमुहा कई कुंठा ॥36॥
अन्यस्य जगति जिह्वा, कस्य सज्ञानस्य वर्णने तव ।
यत्र जिन! तेऽपि जाता:, सुरगुरुप्रमुखा: कवय: कुण्ठा:॥
प्रभो! आपके ज्ञान-कथन में, सक्षम है जिह्वा किसकी ।
क्योंकि बृहस्पति आदि कवि भी, हो जाते हैं कुण्ठित मति॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! संसार में ऐसा कौन पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा, उत्तम ज्ञान के धारक आपका वर्णन करने में समर्थ हो? क्योंकि बृहस्पति आदि जो उत्तम कवि हैं, वे भी आपका वर्णन करने में मन्दबुद्धि सिद्ध होते हैं ।

आज भी रत्नत्रय के बल पर निर्विघ्नतया मोक्ष की प्राप्ति

सो मोहथेण रहिओ, पयासिओ पहु सुपहो तए तइया ।
तेणज्जवि रयणजुआ, णिव्विग्घं जंति णिव्वाणं ॥37॥
स मोहचौररहित:, प्रकाशित: प्रभो! सुपथ: त्वया तदा ।
तेनाऽद्यापि रत्नयुता:, निर्विघ्नं यान्ति निर्वाणम्॥
मोह-चोर से रहित मार्ग का, प्रभो! आपने किया प्रकाश ।
अत: आज भी रत्नत्रय, धारी निर्विघ्न करें शिव-प्राप्त॥
अन्वयार्थ : हे प्रभु जिनेन्द्रदेव! आपने मोह-चोर से रहित उत्तम मार्ग का प्रकाश किया; इसलिए सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र के धारी भव्य जीव, इस समय भी उसी मार्ग का अवलम्बन करके बिना क्लेश के मोक्ष को चले जाते हैं ।

मोक्षरूपी खजाने को देख कर, अन्य राज्य आदि निधानों का परित्याग

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु, मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए ।
केहिं ण जुणतिणा इव, इयरणिहाणाइ भुवणम्मि ॥38॥
उन्मुद्रिते तस्मिन्, मोक्षनिधाने गुणनिधान त्वया ।
कैर्न जीर्णतृणानीव, इतरनिधानानि भुवने॥
हे गुणनिधि भगवन्! जब तुमने, खोल दिया है मोक्ष-निधान ।
कौन भव्य नहिं तजे अन्य निधि, त्रिभुवन में जीरण तृण जान॥
अन्वयार्थ : हे गुणनिधान! जिस समय आपने मोक्षरूपी खजाने को खोल दिया था, उस समय भव्य जीवों ने सड़े तृण के समान दूसरे राज्यादि निधानों को भी छोड़ दिया था ।

वीतरागी देव को छोड़ कर, अन्य कुदेवादि चेतना-प्राप्ति में बाधक

मोहमहाफणिडक्को, जणो विरायं तुं पमुत्तूण ।
इयराणाए कह पहु, विचेयणो चेयणं लहइ ॥39॥
मोहमहाफणिदृष्टो, जनो विरागं त्वां प्रमुच्य ।
इतराज्ञया कथं प्रभो, विचेतनो चेतनां लभते॥
मोह-सर्प ने जिसको काटा, वह नर वीतराग को छोड़ ।
अन्य कुदेवों की आज्ञा से, कैसे उसे चेतना हो॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश! जो पुरुष, मोहरूपी प्रबल सर्प से काटा गया है अर्थात् जो अत्यन्त मोही है; वह मनुष्य, समस्त प्रकार के राग से रहित आप वीतराग को छोड़ कर, अन्य कुदेवों की आज्ञा से कैसे चेतना को प्राप्त कर सकता है? अर्थात् वह कैसे ज्ञानी बन सकता है?

प्रभु का धर्म संसार-समुद्र में गिरने से बचाने वाला

भवसायरम्मि धम्मो, धरइ पडंतं जणं तुहच्चेव ।
सवरस्स व परमारण-कारणमियराण जिणणाह ॥40॥
भवसागरे धर्मो, धरति पतन्तं जनं तवैव ।
शबरस्येव परमारण-कारणमितरेषां जिननाथ !
भव-सागर में पतितजनों को, धर्म आपका ही तारे ।
अन्य धर्म तो भील-धनुष सम, अज्ञानी जन को मारे॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश ! आपका धर्म ही संसाररूपी समुद्र में गिरते हुए जीवों को धारण करता है; किन्तु आपसे भिन्न जितने भी धर्म हैं, वे भील के धनुष के समान दूसरों को मारने में ही कारण हैं ।

प्रभु के नख-केश भी वृद्धि से रहित

अण्णो को तुह पुरओ वग्गइ गुरुयत्तणं पयासंसो ।
जम्मि तइ परमियत्तं केसणहाणं पि जिण जायं ॥41॥
अन्य: क: तव पुरतो, वल्गति गुरुत्वं प्रकाशयन् ।
यस्मिन् त्वयि प्रमाणत्वं, केशनखानामपि जिन! जातम्॥
कौन पुरुष? प्रभु! तव सन्मुख, अपनी गुरुता बतला सकता ।
क्योंकि आपके केश और नख, नहीं बढ़ें लख तव गुरुता॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जब आपके सामने केश तथा नख भी परिमित हैं अर्थात् बढ़ते नहीं, तब ऐसा कौन है कि जो आपके सामने अपनी गुरुता को प्रकाशित करता हुआ कुछ बोलने की सामर्थ्य रखता हो?

प्रभु के शरीर की नील कमलों के माध्यम से महिमा

सोहइ सरीरं तुह पहु, तिहुयणजणणयणबिंबविच्छुरियं ।
पडिसमयमच्चियं च, चारुतरलणीलुप्पलेहिं व ॥42॥
शोभते शरीरं तव प्रभो! त्रिभुवनजननयनबिम्बविच्छुरितं ।
प्रतिसमयमर्चितं च, चारुतरलनीलोत्पलैरिव॥
त्रिभुवन प्रभु के नयनों के, प्रतिबिम्बों से तन चित्र-विचित्र ।
ऐसा लगता मानो चञ्चल, नील-कमल से हैं पूजित॥

अन्वयार्थ : हे प्रभु! तीन लोक के जीवों के नेत्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्बों से चित्र-विचित्रमय आपका शरीर ऐसा जान पड़ता है, मानो सुन्दर

एवं चञ्चल नीलकमलों से प्रतिसमय पूजित ही है ।

इन्द्र द्वारा प्रभु के चरण-कमलों में भक्ति-भाव का प्रदर्शन

अहमहमिआए णिवडंति, णाह छुहियालिणोव्व हरिचक्खू ।
तुज्झ च्चिय णहपहसर, मज्झट्ठियचलणकमलेसु ॥43॥
अहमहमिकया निपतन्ति, नाथ! क्षुधितालय इव हरिचक्षूंषि ।
तव अर्चितनखप्रभासरो, -मध्यस्थितचरणकमलेषु॥
पूज्य नखों की प्रभा-सरोवर, में स्थित तव चरण-कमल ।
'मैं पहले' कह उन पर गिरते, क्षुधित भ्रमर से इन्द्र-नयन॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश! हे प्रभो ! आपके पूजित जो नख, उनकी जो प्रभा (कान्ति), वही हुआ सरोवर, उसके मध्य में स्थित जो चरण-कमल, उनमें भूखे भ्ररों के समान इन्द्रों के नेत्र अहम्-अहम् (मैं-मैं) इस रीति से गिरते हैं ।

प्रभु का आकाशमार्ग से गमन होने पर स्वर्ण-कमलों की रचना

कणयकमलाणमुवरिं, सेवातुह विबुहकप्पियाण तुहं ।
अहियसिरीणं तत्तो, जुत्तं चरणाण संचरणं ॥44॥
कनककमलानामुपरि, सेवातुरविबुधकल्पितानां तव ।
अधिकश्रीणां तत्तो, जुत्तं चरणानां संचरणं॥
प्रभो! आपके चरण-कमल हैं, अतिशय शोभा से संयुक्त ।
अत: भक्तिवश देव-विनिर्मित, स्वर्ण-कमल पर गमन सुयुक्त॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपके चरण, अत्यन्त उत्तम शोभा से संयुक्त हैं; इसलिए भक्तिवश देवों द्वारा रचित सुवर्ण-कमल के ऊपर उनका गमन करना युक्त ही है ।

चन्द्रमा के बिम्ब पर हिरण के दिखाई देने का कारण

सइहरिकयकण्णसुहो, गिज्जउ अमरेहिं तुह जसो सग्गे ।
मण्णे तं सोउमणो, हरिणो हरिणंकसल्लीणो ॥45॥
शचीन्द्रकृतकर्णसुखं, गीयते अमरैस्तव यश: स्वर्गे ।
मन्ये तच्छ्रोतुना:, हरिण: हरिणांकसल्लीन:॥
शची-इन्द्र के कानों को प्रिय, देव सदा तव यश गाते ।
मानो उसके श्रवण हेतु ही, हिरण चन्द्र की गोद बसे॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जिसके बारे में सुनने से इन्द्र-इन्द्राणी के कानों को सुख होता है - ऐसा आपका यश, सदैव स्वर्ग में देवता लोग गाया करते हैं, इसलिए ऐसा लगता है कि उस यश को सुनने के लिए ही मृग (हिरण) चन्द्रमा में जाकर लीन हो गया है ।

प्रभु के चरण-कमलों को नमस्कार करने वाले लक्ष्मीपति क्यों?

अलियं कमले कमला, कमकमले तुह जिणिंद सा वसइ ।
णहकिरणणिहेण घडंति, णयजणे से कडक्खछडा ॥46॥
अलीकं कमले कमला, क्रमकमले तव जिनेन्द्र!सा वसति ।
नखकिरणनिभेन घटते, नतजने तस्या: कटाक्षच्छटा:॥
कमला नहीं रहे कमलों में वह रहती तव चरण-कमल ।
क्योंकि नखों की किरणों से करती कटाक्ष जब भविजन नत॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश! लक्ष्मी, कमल में रहती है - यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि वह तो आपके चरण-कमलों में रहती है, जब भव्य जीव, आपको सिर झुका कर नमस्कार करते हैं तो आपके नख-किरण के बहाने उस लक्ष्मी का कटाक्ष-पात प्रतीत होता है ।

प्रभु के निमित्त से समस्त भूमण्डल पर आनन्द ही आनन्द

जे कयकुवलयहरिसे, तुम्मि विद्देसिणो स ताणं पि ।
दोसो ससिम्मिव्वा, आहयाण जह वाहिआवरणं ॥47॥
ये कृतकुवलयहर्षे, त्वयि विद्वेषिण: स तेषामपि ।
दोष: शशिनि इव, आहतानां यथा बाह्यावरणम्॥
भूमण्डल प्रभु हर्षित करते, द्वेष करे तो उसका दोष ।
यथा चन्द्र से द्वेष करे तो, दोष उसी का, शशि निर्दोष॥

अन्वयार्थ : चन्द्रमा, सदैव पृथ्वी (रात्रि-विकासी कमलों) को आनन्द ही देने वाला है; किन्तु जो मनुष्य, रोग-ग्रस्थ हैं, वे चन्द्रमा से घृणा करते हैं । जिस प्रकार चन्द्रमा के घृणा करने में उनके बाह्य आवरण कर्म (उनके रोग) का दोष है, चन्द्रमा का नहीं; उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! आप तो समस्त भूण्डल को आनन्द ही देने वाले हैं । यदि ऐसा होने पर भी कोई मूर्ख, आपसे विद्वेष करे तो वह उसी का दोष है, इसमें आपका कोई दोष नहीं ।

प्रभु की स्तुतिरूप नदी, मरणरूपी दावाग्नि को बुझाने में समर्थ

को इह हि उव्वरंतो, जिण जयसंहरणमरणवणसिहिणो ।
तुह पयथुइणिज्झरणी, वारणमिणमो ण जइ होंति ॥48॥
क इह हि उद्धरेत्, जिन! जगत्संहरणमरणवनशिखिन: ।
तव पादस्तुतिनिर्झरिणी, वारणमिदं न यदि भवति॥
जग-संहारक मरण-विपिन की, अग्नि से जग का उद्धार !
कैसे होता यदि न बुझाये, प्रभु-स्तवन-नदीया की धार॥

अन्वयार्थ : हे भगवान्! आपके चरणों की स्तुतिरूप नदी के जल से समस्त संसार का संहार करने वाली मरणरूपी दावाग्नि बुझ गई, सो अच्छा ही हुआ । ऐसा लगता है, मानो उसका उद्धार हो गया ।

प्रभु के सामने हाथ जोड़ कर, उन्हें मस्तक पर रखने से सफलता की प्राप्ति

करजुवलकमलमउले, भालत्थे तुह पुरो कए वसइ ।
सग्गापवग्गकमला, कुणंति तं तेण सप्पुरिसा ॥49॥
करयुगलकमलमुकुले, भालस्थे तव पुरत: कृते वसति ।
स्वर्गापवर्गकमला, कुर्वन्ति तत् तेन सत्पुरुषा:॥
प्रभु के सन्मुख हाथ जोड़ कर, भविजन निज मस्तक धरते ।
इसीलिए वे सज्जन नर तब, स्वर्ग-मोक्षलक्ष्मी पाते॥

अन्वयार्थ : हे देव! जिस समय जीव, आपके सामने दोनों हाथरूपी कमलों को मुकुलित कर अर्थात् हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखते हैं; उस समय उन्हें स्वर्ग तथा मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है; इसीलिए उत्तम पुरुष, प्रभु के सन्मुख हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखते हैं ।

प्रभु के आगे मस्तक झुकाने से मोह-ठग द्वारा स्थापित मोहन-धूलि का नाश

वियलइ मोहणधूली, तुह पुरओ मोहठगपरिट्ठविया ।
पणवियसीसाउ तओ, पणवियसीसा बुहा होंति ॥50॥
विगलति मोहनधूलि:, तव पुरतो मोहठकस्थापिता ।

प्रणमितशीर्षान् तत:, प्रणमितशीर्षा बुधा भवन्ति॥
शीष नवा प्रभु को वन्दन से, मोह -प्रवंचक मोहन-धूल ।
प्रभु सन्मुख हो नष्ट अत:, सुधी करें उनको वन्दन॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! जो भव्य जीव, आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते हैं, उनकी मोह-ठग के द्वारा मस्तक पर स्थापित मोहन-धूलि आपके सामने मस्तक झुकाने से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है; इसीलिए विद्वान् पुरुष आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते हैं ।

ऋषभ भगवान् को ही ब्रह्मा, विष्णु आदि सार्थक नाम

बंभप्पमुहा सण्णा, सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स ।
ससिजोण्णा खज्जोए, जडेहि जोडिज्जए तेहिं ॥51॥
ब्रह्मप्रमुखा: संज्ञा:, सर्वा: तव ये भणन्ति अन्यस्य ।
शशिज्योत्स्ना खद्योते, जडै: युज्यते तै:॥
ब्रह्मादिक सब नाम, आपके ही जो, औरों के कहते ।
मूढ़ पुरुष वे, चन्द्र-ज्योत्स्ना, को जुगनू जैसा कहते॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! ब्रह्मा, विष्णु आदि जो संज्ञाएँ सुनने में आती हैं; वे सब आपकी ही हैं अर्थात् आप ही बह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं और आप ही बुद्ध हैं । जो मनुष्य, ब्रह्मा विष्णु आदि संज्ञाएँ दूसरों की मानते हैं; वे मूढ़ मनुष्य, चन्द्रमा की चाँदनी की खद्योत (जुगनू) के साथ तुलना करते हैं - ऐसा लगता है ।

प्रभु ही जन्म-जरा-मरण के नाशक निष्कारण वैद्य

तं चेव मोक्खपयवी, तं चिय सरणं जणस्य सव्वस्स ।
तं णिक्कारणविद्दो, जाइजरामरणवाहिहरो ॥52॥
त्वं चैव मोक्षपदवी, त्वं चैव शरणं जनस्य सर्वस्य ।
त्वं निष्कारणवैद्य:, जातिजरामरणव्याधिहर:॥
नाथ! आप ही शिवपद एवं, सकल जनों के शरणागार ।
बिन कारण हो वैद्य आप ही, जन्म-जरा-मृतु नाशनहार॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! आप ही मोक्ष का मार्ग हैं । समस्त प्राणियों के आप ही शरण हैं और जन्म, जरा, मरणादि रोगों को नाश करने वाले आप ही निष्कारण वैद्य हैं ।

प्रभु ही योगियों की कृतकृत्यता के कारण

किच्छाहि समुवलद्धे, कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति ।
तं परमकारणं जिण, ण तुाहिंतो परो अत्थि ॥53॥
कृच्छ्रात्समुपलब्धे, कृतकृत्या यस्मिन् योगिनो भवन्ति ।
तत्परमपदकारणं जिन! न त्वत्त: परोऽस्ति॥
बड़े कष्ट से पाकर तुमको, योगीजन होते कृतकृत्य ।
अत: आपके सिवा परमपद, का कारण नहिं कोई अन्य॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! बड़े कष्टों से आपको प्राप्त करके योगीजन, कृतकृत्य हो जाते हैं अर्थात् संसार में उनको दूसरा कोई भी काम बाकी नहीं रहता; इसलिए आपसे भिन्न अन्य कोई भी परमपद (मोक्षपद) का कारण नहीं है ।

प्रभु में एक साथ सूक्ष्मता और गुरुता का प्रदर्शन

सुहमोसि तह ण दीससि, जह पहु परमाणुपेच्छएहिं पि ।

गुरवो तह बोहमए, जह तइ सव्वं पि संमायं ॥54॥
सूक्ष्मोऽसि तथा न दृश्यसे, यथा प्रभृति परमाणुप्रेक्षिभिरपि ।
गरिष्ठस्तथा बोधमये, यथा त्वयि सर्वपि सम्मातम्॥
महा सूक्ष्म हो इतने कि, परमाणुदर्शि नहिं देख सकें ।
ज्ञानस्वरूपी गुरु इतने कि, सकल पदार्थ समाये हैं॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! परमाणुरूप पदार्थ को प्रत्यक्ष देखने वाले भी आपको देख नहीं सकते, अत: आप अत्यन्त सूक्ष्म हो तथा आप इतने गुरु भी हैं कि सम्यग्ज्ञानस्वरूप आप में यह समस्त पदार्थसमूह समाया हुआ है अर्थात् आपका ज्ञान, आकाश से भी अनन्तगुना अधिक है, इसलिए आकाशादि समस्त पदार्थ, आपके ज्ञान में झलक रहे हैं ।

विवेक बुद्धियों की दृष्टि में प्रभु ही एकमात्र सारभूत

णिस्सेसवत्थुसत्थे, हेयमहेयं निरूवमाणस्स ।
तं परमप्पा सारो, सेसमसारं पलालं वा ॥55॥
निश्शेषवस्तुसार्थे, हेयमहेयं निरूप्यमाणस्य ।
त्वं परमात्मा सार:, शेषमसारं पलालं वा॥
सकल-पदार्थों के समूह में, हेय-ग्राह्य को जो लखते ।
प्रभो! आप ही सार, अन्य सब, सूखे तृण-सम हेय दिखें॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! जो मनुष्य समस्त वस्तुओं के समूह में हेय तथा उपादेय को देखने वाला है, उस पुरुष की दृष्टि में हे परमात्मा! आप ही सार हैं और आपसे भिन्न समस्त पदार्थ, सूखे तृण के समान असार हैं ।

प्रभु के विस्तृत ज्ञान के समक्ष सम्पूर्ण आकाश भी परमाणु के समान

धरइ परमाणुलीलं, जं गब्भे तिहुयणंपि तंपि णह ।
अंतो णाणस्स तुह, इयरस्स न एरिसी महिमा ॥56॥
धरति परमाणुलीलां, यद्गर्भे त्रिभुवनमपि तदपि नभ: ।
अन्तो ज्ञानस्य तव, इतरस्य न ईदृशी महिमा॥
जिसमें यह त्रिभुवन परमाणुवत् भासित हो वह नभ भी ।
अणु समान है ज्ञान-ज्योति में, ऐसी महिमा कहीं नहीं॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! जिस आकाश के गर्भ में ये तीनों भुवन, परमाणुमात्र लीला को धारण करते हैं अर्थात् परमाणु के समान भासित होते हैं; वह सम्पूर्ण आकाश, आपके ज्ञान में परमाणु के समान ही जान पड़ता है - ऐसी महिमा आपके ज्ञान की है, किन्तु आपसे भिन्न किसी अन्य देव के ज्ञान में ऐसी महिमा नहीं है ।

प्रभु के गुण-वर्णन करने में सरस्वती की असमर्थता

भुवणत्थुय थुणइ जइ, जए सरस्सई संतयं तुहं तहवि ।
ण गुणंतं लहइ तहिं, को तरइ जडो जणो अण्णो ॥57॥
भुवनस्तुत्य स्तौति यदि, जगति सरस्वती सततं त्वां तथापि ।
न गुणान्तं लभते तर्हि, कस्तरति जडो जनोऽन्य:॥
प्रभो! जगत् में सरस्वती भी, करे निरन्तर तव गुणगान ।
पा सकती नहिं अन्त गुणों का, कैसे पा सकते जन अन्य ?
अन्वयार्थ : हे तीन भुवन के स्तुति के पात्र! संसार में 'सरस्वती' आपकी स्तुति करती है, किन्तु वह भी आपके गुणों के अन्त को प्राप्त

नहीं कर सकती है; तब अन्य जो मूर्ख पुरुष हैं, वह यदि आपके गुणों की स्तुति करें तो कैसे आपके गुणों का अन्त पा सकेंगे?

आकाश समान प्रभु के गुण-वर्णन करने में वाणी-पक्षिणी की असमर्थता

खयरिव्व संचरंती, तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि ।
दुरं पि गया सुइरं, कस्स गिरा पत्तपेरंता ॥58॥
खचरीव संचरती, त्रिभुवनगुरो तव गुणौघगगने ।
दूरमपि गता सुचिरं, कस्य गो: प्राप्तपर्यन्ता॥
हे त्रिभुवन गुरु! गुण-समूहरूपी नभ में जो गमन करे ।
किसकी वाणीरूप पक्षिणी, उड़े दूर तक अन्त लहे॥
अन्वयार्थ : हे त्रिभुवन गुरु! आपके गुणसमूहरूपी आकाश में गमन करने वाली तथा दूर तक पहुँची ऐसी किसकी वाणीरूपी पक्षिणी है, जो उसके अन्त को प्राप्त हो सके?

प्रभु-स्तवन करने में आचार्य की लघुता

जत्थ असक्को सक्को, अणीसरो ईसरो फणीसो वि ।
तुह थोत्ते तत्थ कई, अहममई तं खमिज्जासु ॥59॥
यत्राशक्त: शक्तोऽनीश्वर: ईश्वर: फणीश्वरोऽपि ।
तव स्तोत्रे तत्र कवि:, अहममति: तत्क्षमस्व॥
इन्द्र-फणीन्द्र-महेश आदि भी, प्रभु-गुण-वर्णन में असमर्थ ।
अत: क्षमा कर दो हे प्रभुवर! मैं मति-हीन रचूँ स्तोत्र॥
अन्वयार्थ : हे गुणागार प्रभो! जब आपकी स्तुति करने में इन्द्र, महादेव और शेषनाग भी अशक्त हैं, तब आपकी स्तुति करने में मैं अल्पबुद्धि कवि क्या वस्तु हूँ? इसलिए मैंने जो भी आपकी स्तुति की है, उसे क्षमा करें ।

प्रभु के चरण-कमलों से अन्तिम प्रार्थना

तं भव्वपोणंदी, तेयणिही णेसरुव्व णिद्दोसो ।
मोहंधयारहरणे, तुह पाया मम पसीयंतु ॥60॥
त्वं भव्यपद्मनन्दी, तेजोनिधि: सूर्यवन्निर्दोष: ।
मोहान्धकारहरणे, तव पादौ मम प्रसीदेताम्॥
तेज-निधि निर्दोष सूर्य, आनन्दित करते भव्य-कमल ।
मोह-तिमिर के नाश हेतु, होवें प्रसन्न तव चरण-युगल॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! आप भव्य कमलों को आनन्द देने वाले, तेज के निधान, निर्दोष सूर्य हैं; इसलिए मोहरूपी अन्धकार का नाश करने हेतु आपके चरण सदा प्रसन्न रहें ।

'श्री जिनेन्द्र स्तवन' अधिकार का मङ्गलाचरण

(गाथा)
दिट्ठे तुम्मि जिणवर, सहलीहूआइं मज्झ णयणाइं ।
चित्तं गत्तं च लहुं, अमिएण व सिंचियं जायं ॥1॥
(आर्या)
दृष्टे त्वयि जिनवर! सफलीभूतानि मम नयनानि ।
चित्तं गात्रं च लघु, अमृतेनैव सिंचितं जातम्॥

प्रभो! आपके दर्शन करने, से होते मम नेत्र सफल ।
तन-मन शान्त हुए हैं ऐसे, मानो अमृत का सिंचन॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! आपको देखने पर मेरे नेत्र सफल हो गये हैं; मेरा मन और शरीर अमृत से सींचा हुआ प्रतीत होता है ।

प्रभु-दर्शन से मोहरूपी अन्धकार नष्ट

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण ।
तह णट्ठं जइ दिट्ठं, जहट्ठियं तं मए तच्चं ॥2॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! दृष्टिहराशेषमोहतिमिरेण ।
तथा नष्टं यथा दृष्टं, यथास्थितं तन्मया तत्त्वम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से यह, मोह-तिमिर ऐसा विघटा ।
जैसा वस्तु-स्वरूप जगत् का, वैसा मैंने देख लिया॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको देखने पर दृष्टि को रोकने वाला मोहरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् मैंने यथार्थ वस्तुस्वरूप देख लिया है ।

प्रभु-दर्शन से चित्त को मोक्षसुख की प्राप्ति

दिट्ठे तु म्मि जिणवर, परमाणंदेण पूरियं हिययं ।
मज्झ तहा जह मण्णे, मोक्खं पि व पत्तमप्पाणं ॥3॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! परमानन्देन पूरितं हृदयम् ।
मम तथा यथा मन्ये, मोक्षमपि वा प्राप्तमात्मानम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से है, मन में परमानन्द भरा ।
मानो मुझे आज ही हे प्रभु! मुक्तिपद साक्षात् मिला॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको देखने से परमानन्द से भरे हुए मेरे मन में ऐसा लगता है, मानो मैं ही साक्षात् मोक्ष को प्राप्त हो गया हूँ ।

प्रभु-दर्शन से सूर्योदय के समान अन्धकाररूपी प्रबल पाप नष्ट

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, णट्ठं चिय मण्णयं महापावं ।
रविउग्गमे णिसाए, ठाइ तमं कित्तियं कालं ॥4॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! नष्टमिव मन्ये महापापम् ।
रव्युद्गमे निशाया:, तिष्ठेत् तम: कियन्तं कालम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से ही, नष्ट हो गए सारे पाप ।
सूर्योदय होने पर निशि का, रहे अँधेरा कितने काल ?
अन्वयार्थ : हे जिनवर! आपको देखने मात्र से प्रबल पाप नष्ट हो गये हैं, सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य का उदय होने पर रात्रि का अन्धकार कितने काल तक रह सकता है?

प्रभु-दर्शन से तीर्थंकरादि उत्तम पुण्य समूह की प्राप्ति

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, सिज्झइ सो को वि पुण्णपब्भारो ।
होइ जणो जेण पहु, इहपरलोयत्थसिद्धीणं ॥5॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! सिध्यति स कोऽपि पुण्यप्राग्भार: ।
भवति जनो येन प्रभु:, इहपरलोकस्थसिद्धीनाम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से, बँधता वह उत्तम पुण्य समूह ।

जिससे भविजन पा लेते हैं, उभय लोक का सिद्धि समूह॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको देखने मात्र से मनुष्य को उस उत्तम पुण्य समूह की प्राप्ति होती है, जिसकी कृपा से वह इहलोक-परलोक की सिद्धियों का स्वामी हो जाता है ।

प्रभु-दर्शन से अविनाशी मोक्ष की प्राप्ति

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहं ।
होही सो जेणासरिस,-सुहणिही अक्खओ मोक्खो ॥6॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! मन्ये तमात्मन: सुकृतलाभम् ।
भविष्यति येनासदृश,-सुखनिधि: अक्षयो मोक्ष:॥
प्रभो! आपके दर्शन से, मानूँ मैं ऐसा पुण्य सुलाभ ।
जिससे अनुपम सुखनिधि एवं, अविनाशी हो शिवपद प्राप्त॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र प्रभो! आपको देखने का पुण्य-लाभ यह है कि उससे असाधारण सुखनिधि तथा अविनाशी - ऐसे मोक्षपद की प्राप्ति होती है ।

प्रभु-दर्शन से इन्द्रादि के ऐश्वर्य की तृष्णा से रहित सन्तोष की प्राप्ति

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, संतोसो मज्झ तह परो जाओ ।
इदंविहवो पि जणइ, ण तण्हालेसं पि जह हियए ॥7॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! सन्तोषो मम तथा परो जात: ।
इन्द्रविभवोऽपि जनयति, न तृष्णालेशमपि यथा हृदये॥
प्रभो! आपके दर्शन से, होता मुझको उत्तम सन्तोष ।
इन्द्र-विभूति भी मुझको, तृष्णा उत्पन्न करे नहिं लेश॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको देखने मात्र से इन्द्र का ऐश्वर्य भी मेरे हृदय में लेश मात्र तृष्णा को उत्पन्न नहीं कर सकता - ऐसा वह उत्तम सन्तोष मुझे प्राप्त हुआ है ।

प्रभु-दर्शन से जन्म-मरण के नाशक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, वियारपडिवज्जिए परमसंते ।
जस्स ण हिट्ठी दिट्ठी, तस्स ण णियजम्मविच्छेओ ॥8॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! विकारपरिवर्जिते परमशान्ते ।
यस्य न हृष्टा दृष्टि:, तस्य न निजजन्मविच्छेद:॥
प्रभो! आपके दर्शन से, जिसको उत्पन्न न हो आनन्द ।
निर्विकार अरु परमशान्त नहिं, लखे उसे नहिं भव का अन्त॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको समस्त प्रकार के विकारों से रहित एवं परमशान्त देख कर, जिस मनुष्य की दृष्टि को आनन्द नहीं होता है, उस मनुष्य के अपने जन्म-मरण का कभी नाश नहीं होता ।

प्रभु-दर्शन के बाद भी आकुलता का होना पूर्वोपार्जित कर्मों का दोष

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, जम्मह कज्जंतराउलं हिययं ।
कइयावि हवइ पुव्वज्जियस्स कम्मस्स सो दोसो ॥9॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! यन्मम कार्यान्तराकुलं हृदयं ।
कदापि भवति पूर्वार्जितस्य कर्मण: स दोष:॥

प्रभो! आपके दर्शन करके, भी मन में यदि आकुलता ।
अन्य कार्य की, तो यह मेरे, पूर्व-कर्म का दोष कहा॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको देख कर भी मेरा मन कभी-कभी दूसरे कार्यों में आकुलित हो जाता है, उसमें मेरे पूर्वोपार्जित कर्म ही दोषी हैं ।

प्रभु-दर्शन से इहभव में भी नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति

दिट्ठे तु म्मि जिणवर, अच्छउ जम्मंतरं ममेहावि ।
सहसा सुहेहिं घडियं, दुक्खेहिं पलाइयं दूरं ॥10॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! आस्तां जन्मान्तरं ममेहापि ।
सहसा सुखैर्घटितं, दु:खैश्च पलायितं दूरम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से, जन्मान्तर की क्या बात कहूँ
इस भव में ही नाना सुख, मिलते हैं, अघ सब दूर करूँ॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! आपके दर्शन से अन्य जन्मों की बात तो दूर रहो, किन्तु इस जन्म में भी मुझे नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है और मेरे समस्त पाप दूर भाग जाते हैं ।

प्रभु-दर्शन के बाद ही दिन उत्तम तथा सफल

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, बज्झइ पट्ठो दिणम्मि अज्जयणे ।
सहलत्तणेण मज्झे, सव्वदिणाणं पि सेसाणं ॥11॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! बध्यते पट्ठो दिनेऽद्यतने ।
सफलत्वेन मध्ये, सर्वदिनानामपि शेषाणाम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से, जीवन का आज दिवस उत्तम ।
और सफल हो गया जान कर, मैंने किया पट्ट बन्धन॥
अन्वयार्थ : हे जिनवर! आपके दर्शन के कारण समस्त दिनों में आज का दिन उत्तम तथा सफल है - ऐसा जान कर मैंने पट्ट बन्धन किया है, मानो आज मेरा राज-तिलक हो गया है ।

प्रभु-दर्शन के बाद उनका बहुमूल्य मन्दिर, लक्ष्मी के संकेत घर के समान ज्ञात

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, भवणमिणं तुज्झ मह महग्घतरं ।
सव्वाणं पि सिरीणं, संकेयघरं व पडिहाइ ॥12॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! भवनमिदं तव महत्हार्घ्यतरम् ।
सर्वासामपि श्रीणां, संकेतगृहमिव प्रतिभाति॥
प्रभो! आपके दर्शन से, ऐसा मालूम हुआ मुझको ।
यह मन्दिर बहुमूल्य आपका, लक्ष्मी का संकेत अहो !
अन्वयार्थ : हे जिनेश्वर! आपके देखने मात्र से आपका यह बहुमूल्य मन्दिर, मेरे लिए समस्त प्रकार की लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए संकेत घर के समान ज्ञात होता है ।

प्रभु-दर्शन से पुण्य-बीज के अंकुर, रोमाञ्चों के माध्यम से प्रस्फुटित

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, भत्तिजलोल्ल समासियं छेत्तं ।
जं तं पुलयमिसा पुण्णबीयमंकुरियमिव सोहइ ॥13॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! भक्तिजलौघेन समाश्रितं क्षेत्रम् ।

यत्तत्पुलकमिषात्, पुण्यबीजमंकुरितमिव शोभते॥
प्रभो! आपके दर्शन से, तन-खेत सिंचा भक्ति-जल से ।
रोमाञ्च हुए मुझको मानो, ये पुण्य-बीज के अंकुर हैं॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! आपको देखने से मेरा क्षेत्र (शरीररूपी खेत), भक्तिरूपी जल से समाश्रित होता हुआ (सिंचित होकर) रोंचों के बहाने से ऐसा शोभित होता है, मानो अंकुरस्वरूप से परिणत पुण्य-बीज ही हैं ।

सिद्धान्त-अमृत के समुद्र प्रभु के दर्शन से हिताहित का ज्ञान

दिट्ठे तु म्मि जिणवर, समयामयसायरे गहीरम्मि ।
रायाइदोसकलुसे, देवे को मण्णए सयाणे ॥14॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! समयामृतसागरे गम्भीरे ।
रागादिदोषकलुषे, देवे को मन्यते सज्ञान:॥
प्रभो! आपका दर्शन है, सिद्धान्तामृत सागर गम्भीर ।
रागादिक दोषों से कलुषित, देव कौन माने ज्ञानी ?
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! सिद्धान्तरूपी अमृत के गम्भीर समुद्र के समान आपको देखने पर ऐसा कौन होगा? जो रागादि दोषों से युक्त मलिन आत्माओं को देव मानेगा? अर्थात् कोई नहीं ।

प्रभु-दर्शन से अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, मोक्खो अइदुल्लहो वि संपडइ ।
मिच्छत्तमलकलंकी, मणो ण जइ होइ पुरिसस्स ॥15॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! मोक्षोऽतिदुर्लभ: संप्रतिपद्यते ।
मिथ्यात्वमलकलंकित,-मनो न यदि भवति पुरुषस्य॥
प्रभो! आपके दर्शन से ही, होता दुर्लभ शिवपद प्राप्त ।
मन में हो यदि नहीं पुरुष के , किञ्चित् मल कलंक मिथ्यात्व॥
हे देव! यदि मनुष्य का मन, मिथ्यात्वरूपी कलंक से कलंकित नहीं हुआ हो
तो वह पुरुष, आपके दर्शन से अत्यन्त दुर्लभ मोक्षलक्ष्मी को भी शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ।
अन्वयार्थ : जिस मनुष्य का चित्त, मिथ्यात्वरूपी मल से ग्रस्त हो, उसे कभी मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि जिस प्रकार पित्तज्वर वाले को मीठा दूध जहर के समान कडुआ लगता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को आपका उपदेश तथा दर्शन विपरीत ही लगता है । जब वह आपके उपदेश को ही अच्छा न मानेगा, तब तो उसे वास्तविक पदार्थ का स्वरूप नहीं मालूम पड़ सकता और पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को न जानने से वह अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता; किन्तु जिस मनुष्य का मन, मिथ्यात्वरूपी कलंक से कलंकित नहीं है, वह आपके दर्शन से अत्यन्त कठिन मोक्ष को भी सुलभ रीति से प्राप्त कर लेता है ।

चर्म-नेत्रों से भी प्रभु-दर्शन की अद्भुत महिमा

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, चम्ममएणाच्छिण्णा वि तं पुण्णं ।
जं जणइ पुरो केवल,-दंसणणाणाइ णयणाइ ॥16॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! चर्म येनाक्ष्णापि तत्पुण्यं ।
यज्जनयति पुर: केवल,-दर्शनज्ञानानि नयनानि॥
प्रभो! आपके दर्शन करते चर्मचक्षु से यदि भविजन ।
पुण्य अपूर्व बँधे, जिससे हों केवलदर्शन-ज्ञान नयन॥

अन्वयार्थ : हे प्रभो! जो मनुष्य, इस चर्म-नेत्र से आपको देखता है, उस मनुष्य को अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है, जो आगे केवलदर्शन तथा केवलज्ञानरूपी नेत्रों को उत्पन्न करता है ।

प्रभु-दर्शन बिना संसार-समुद्र में मज्जन-उन्मज्जन

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, सुकयत्थो मण्णिओ ण जेणप्पा ।
सो बहुयबुड्डुणुब्बुड्डुणाइं भवसायरे काही ॥17॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! सुकृतार्थो मानितो न येनात्मा ।
स बहु मज्जनोन्मज्जनानि भवसागरे करिष्यति॥
प्रभो! आपके दर्शन से भी, जो नर नहिं कृतकृत्य हुआ ।
दीर्घ काल तक भव-सागर में, ऊपर-नीचे उतराता॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! जिस मनुष्य ने आपको देख कर भी अपनी आत्मा को कृतकृत्य नहीं माना, वह मनुष्य नियम से संसाररूपी समुद्र में मज्जन तथा उन्मज्जन ही करेगा अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य, समुद्र में उछलता-डूबता रहता है; उसी प्रकार यह भी संसार में जन्म-मरण करता हुआ परिभ्रण करता रहता है ।

प्रभु-दर्शन से वचन-अगोचर आनन्द की प्राप्ति

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, णिच्छयदिट्ठीए होइ जं किं पि ।
ण गिराए गोयरं तं, साणुभवत्थं पि किं भणिमो ॥18॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! निश्चयदृष्ट्या भवति यत्किमपि ।
न गिरां गोचरं तत्, स्वानुभवस्थमपि किं भणाम:॥
प्रभो! आपके दर्शन से, जो कुछ निश्चय आनन्द होता ।
यद्यपि स्वानुभूति-गोचर वह, वचन-अगोचर कहना क्या ?
अन्वयार्थ : हे प्रभो! वास्तविक दृष्टि से आपको देखने पर हमको जो आनन्द होता है, वह मन (अनुभव) में स्थित होते हुए भी वचन-अगोचर है, इसलिए हम क्या कहें?

प्रभु का केवलज्ञान स्वरूप देखने से दर्शन-विशुद्धि की प्राप्ति

दिट्ठे तु म्मि जिणवर, दट्ठव्वावहिविसेसरूवम्मि ।
दंसणसुद्धीए गयं, दाणिं मह णत्थि सव्वत्थ ॥19॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! दृष्टव्यावधिविशेषरूपे ।
दर्शनशुद्ध्या गतमिदानीं मम नास्ति सर्वार्थ:॥
प्रभो! आप हैं दर्शनीय, सकलार्थ जगत् के ज्ञान-स्वरूप ।
दर्श-विशुद्धि हुई है मुझको, बाह्य-पदार्थ नहीं मुझरूप॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! देखने योग्य पदार्थों की सीमा के विशेषस्वरूप अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप आपको देखने पर, समस्त बाह्य पदार्थों से भिन्न होकर मैं 'दर्शन विशुद्धि' को प्राप्त हुआ ।

प्रभु-दर्शन से दृष्टि सूर्य से भी अधिक निर्मल एवं सुखी

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, अहियं सुहिया समुज्जला होई ।
जणदिट्ठी को पेच्छइ, तद्दंसणसुहयरं सूरं ॥20॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! अधिक सुखिता समुज्ज्वला भवति ।
जनदृष्टि: क: प्रेक्षते, तद्दर्शनसुखकरं सूरम्॥

प्रभो! आपके दर्शन से, जन-दृष्टि होती अधिक सुखी ।
अति निर्मल भी होती तो फिर, सूर्य देखता कौन सुधी॥
अन्वयार्थ : हे देव! आपको देख कर, मनुष्यों की दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यन्त निर्मल हो जाती है, तो दर्शन एवं सुख को करने वाले सूर्य को कौन देखता है? अर्थात् कोई नहीं ।

प्रभु की महिमा जड़ एवं दोषाकार चन्द्रमा से कहीं अधिक

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, बुहम्मि दोसोज्झियम्मि वीरम्मि ।
कस्स किल रमइ दिट्ठी, जडम्मि दोसायरे खत्थे ॥21॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! बुद्धे दोषोज्झिते वीरे ।
कस्य किल रमते दृष्टि:, जडे दोषाकरे खस्थे॥
प्रभो! आपको देख ज्ञानमय, वीर और सब दोष-विहीन
किसकी दृष्टि करे दोषमय, नभ-गोचर जड़ शशि से प्रीति॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको समस्त दोषों से रहित, ज्ञानवान् और वीरता से युक्त देख कर, ऐसा कौन मनुष्य है; जिसकी दृष्टि जड़, दोषों की खान और आकाश में रहने वाले चन्द्रमा में प्रीति करेगी?

प्रभु-दर्शन के सामने चिन्तामणि कल्पवृक्ष भी प्रभारहित

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, चिंतामणिकामधेणुकप्पतरू ।
खज्जोयव्व पहाए, मज्झ मणे णिप्पहा जाया ॥22॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! चिन्तामणिकामधेनुकल्पतरव: ।
खद्योता इव प्रभाते, मम मनसि निष्प्रभा जाता:॥
प्रभो! आपके दर्शन से, चिन्तामणि कामधेनु सुरवृक्ष ।
प्रात:काल के जुगनू जैसे, मेरे मन में हैं निष्प्रभ॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार प्रात:काल में जुगनू प्रभारहित हो जाता है; उसी प्रकार आपको देखने पर चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष मेरे मन से प्रभारहित हो गये हैं ।

प्रभु-दर्शन से रहस्यमयी प्रेमरस आनन्दाश्रुओं सहित उत्पन्न

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, रहसरसो मह मणम्मि जो जाओ ।
आणंदंसुमिसा सो, तत्तो णीहरइ बहिरंतो ॥23॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! रहस्यरसो मम मनसि यो जात: ।
आनन्दाश्रुमिषात्, स ततो निस्सरति बहिरन्त:॥
प्रभो! आपके दर्शन से, जो हुआ प्रेम-रस मम उर में ।
आनन्दाश्रु बन कर भीतर, से निकला है बाहर में॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! आपको देखने से मेरे मन से उत्पन्न रहस्यमय प्रेरस, आनन्दाश्रुओं के बहाने भीतर से बाहर निकल रहा है - ऐसा मालूम होता है ।

प्रभु-दर्शन से कल्याणों की परम्परा

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, कल्लाणपरंपरा पुरो पुरिसे ।
संचरइ अणाहूया वि, ससहरे किरणमाल व्व ॥24॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! कल्याणपरम्परा पुर: पुरुषस्य ।

संचरति अनाहूताऽपि, शशधरे किरणमाला इव॥
प्रभो! आपके दर्शन से, कल्याण स्वयं आगे आये ।
बिना बुलाए, यथा चन्द्र के, आगे किरणावलि चले॥

अन्वयार्थ : हे प्रभो! जिस प्रकार चन्द्रमा के किरणों की पंक्ति आगे-आगे गमन करती है; उसी प्रकार आपके दर्शन से बिना बुलाये ही कल्याण की परम्परा आगे-आगे गमन करती है ।

प्रभु-दर्शन से प्रकृति की विचित्रता दृष्टिगोचर

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, दिसवल्लीओ फलंति सव्वाओ ।
इट्ठां अहुल्लिया वि हु, वरिसइ सुण्णं पि रयणेहिं ॥25॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! दिशवल्य: फलन्ति सर्वा: ।
इष्टमफुल्लिताऽपि खलु, वर्षति शून्योऽपि रत्नै:॥
प्रभो! आपके दर्शन से, बिन पुष्प! दिक्-लताएँ फलती ।
इष्ट-पदार्थों को देती अरु, नभ से रत्नवृष्टि होती॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश्वर! आपके दर्शन से, बिना पुष्पित भी समस्त दशों दिशाएँ इष्ट पदार्थों (फलों) को देती है तथा रत्नों से रहित आकाश भी रत्नों की वृष्टि करता है ।

प्रभु-दर्शन से भव्य जीवों के समस्त भय एवं मोह-निद्रा का पलायन

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, भव्वो भयवज्जिओ हवे णवरं ।
गयणिंदच्चिय जायइ, जोण्हापसरे सरे कुमुयं ॥26॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! भव्यो भयवर्जितो भवेन्नवरिम् ।
गतनिद्र एव जायते, ज्योत्स्नाप्रसरे सरसि कुमुदम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से, भवि मोहमुक्त भयहीन सुखी ।
जैसे सर में खिले कुमुदनी, चन्द्र-ज्योत्सना जब फैली॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार चाँदनी के विकसित होने पर रात्रि-विकासी कमल, सरोवर में शीघ्र ही प्रफुल्लित होते हैं; उसी प्रकार हे जिनेश! आपके दर्शन मात्र से ही भव्य जीव, समस्त भय एवं मोहरूपी निद्रा से रहित होकर सुखी हो जाते हैं ।

प्रभु-दर्शन से मेरे हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, हियएण मह सुहं समुल्लसियं ।
सरिणाहेणिव सहसा, उग्गमिए पुण्णिमा इंदे ॥27॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! हृदयेन महासुखं समुल्लसितं ।
सरिन्नाथेनेव सहसा, उद्गमिते पूर्णिमाचन्द्रे॥
प्रभो! आपके दर्शन से, मेरा मन बहुत प्रसन्न हुआ ।
नभ में पूर्ण चन्द्र, विकसित होने पर ज्यों सागर उछला॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र, अत्यन्त उल्लसित होता है, उसी प्रकार आपके दर्शन से मेरा हृदय, आनन्द के कारण अत्यन्त उल्लसित हो रहा है ।

प्रभु-दर्शन से सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि का विश्वास

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, दोहिमि चक्खूहिं तह सुही अहियं ।
हियए जह सहसाहो, होहि त्ति मणोरहो जाओ ॥28॥

दृष्टे त्वयि जिनवर! द्वाभ्यां चक्षुभ्यां तथा सुखी अधिकम् ।
हृदये यथा सहस्रार्थो, भविष्यति इति मनोरथो जात:॥
प्रभो! आपके दर्शन से, मैं इतना अधिक प्रसन्न हुआ ।
जैसे मानो बहुत शीघ्र ही, मेरा मनरथ सिद्ध हुआ॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! आपको देख कर, मैं हृदय में इतना अधिक सुखी हुआ, मानो शीघ्र ही मेरे सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाएँगे - ऐसा मेरा सम्पूर्ण मनोरथ ही सिद्ध हुआ है ।

प्रभु-दर्शन से जन्मरूपी शत्रु भी मेरा परम मित्र

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, भवो वि मित्तत्तणं गओ एसो ।
एयम्मि ठियस्स जओ, जायं तुह दंसणं मज्झ ॥29॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! भवोऽपि मित्रत्वं गत एष ।
एतस्मिन् स्थितस्य यत:, जातं तव दर्शनं मम॥
प्रभो! आपके दर्शन से, यह जन्म हुआ मेरा अति मित्र ।
क्योंकि इसी जीवन में मुझको, दर्श मिला तव परमपवित्र॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! आपके दर्शन से यह जन्म, मेरा परम मित्र बन गया है क्योंकि इस जन्म में ही मुझे आपका दर्शन हुआ है ।

प्रभु-दर्शन एवं गाढ़ भक्ति से समस्त सिद्धियों की प्राप्ति

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, भव्वाणं भूरिभत्तिजुत्ताणं ।
सव्वाओ सिद्धीओ, होंति पुरो एक्कलीलाए ॥30॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! भव्यानां भूरिभक्तियुक्तानाम् ।
सर्वा: सिद्धयो, भवन्ति पुर एकलीलया॥
प्रभो! आपके दर्शन से जो, गाढ़ भक्ति से भव्य भरे ।
दर्श मात्र से बात-बात में, उनको सिद्धि सर्व मिलें॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! आपके दर्शन से अत्यन्त गाढ़ भक्तिवाले भव्य जीवों को शीघ्र ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ।

प्रभु-दर्शन से मृत्यु के समय में भी धीरता की प्राप्ति

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, सुहगइसंसाहणेक्कबीयम्मि ।
कंठगयजीवियस्स वि, धीरं संपज्जए परमं ॥31॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! शुभगतिसंसाधनैकबीजे ।
कण्ठगतजीवितस्यापि, धैर्यं सम्पद्यते परमम्॥
प्रभो! आपके दर्शन से, शुभ गति के साधक बीज-स्वरूप ।
मरणासन्न जीव भी धारण, करता उत्तम धैर्य अनूप॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! शुभ गति की सिद्धि में असाधारण कारण - ऐसे आपके दर्शन करने से जिसके प्राण कण्ठ तक आ गये हैं अर्थात् जो तत्काल मरनेवाला है - ऐसे प्राणी को भी उत्तम धीरता आ जाती है ।

प्रभु-दर्शन में अन्य इच्छाओं का अभाव

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, कमम्मि सिद्धे ण किं पुरा सिद्धं ।
सिद्धियरं को णाणी, इहइ ण तुह दंसणं तम्हा ॥32॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! क्रमे सिद्धे न किं पुरा सिद्धम् ।

सिद्धिकरं को ज्ञानी, इच्छति न तव दर्शनं तस्मात्॥
प्रभो! आपके दर्शन से है, कौन वस्तु जो मिली नहीं ?
तो फिर किस ज्ञानी को, तेरे दर्शन की अभिलाष नहीं॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! आपके दर्शन से आपके चरण-कमलों की प्राप्ति होने पर - ऐसी कौनसी वस्तु बाकी रही जो मुझे न मिली हो? अर्थात् मुझे समस्त पदार्थों की सिद्धि हुई है; इसलिए ऐसा कौनसा ज्ञानी है, जो आपके दर्शनों की इच्छा न रखता हो?

उपसंहार में जिनेन्द्र स्तवन को तीनों काल पढ़ने की प्रेरणा

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, पोम्मकयं दंसणत्थुइं तुज्झ ।
जो पहु पढइ तियालं, भवजालं सो समोसरइ ॥33॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! पद्मनन्दिकृतां दर्शनस्तुतिं तव ।
य: प्रभो पठति त्रिकालं, भवजालं स स्फोटयति॥
प्रभो! आपके दर्शन कर यह, पद्मनन्दि आचार्य रचित ।
दर्शन-स्तुति जो त्रिकाल पढ़ता, वह हो भवजाल रहित॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! जो भव्य जीव, पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित इस दर्शन-स्तुति को तीनों काल पढ़ता है; वह जीव, संसाररूपी जाल का सर्वथा नाश कर देता है ।

अन्त में इस दर्शन-स्तोत्र को पृथ्वी पर वृद्धिंगत करने की भावना

दिट्ठे तुम्मि जिणवर, भणियमिणं जणियजणमणाणंदं ।
भव्वेहि पढिज्जंतं, णंदउ सुयरं धरावीढे ॥34॥
दृष्टे त्वयि जिनवर! भणितमिदं जनितजनमनानन्दम् ।
भव्यै: पठ्यमानं, नन्दतु सुचिरं धरापीठे॥
प्रभो! आपके दर्शन कर यह, जन-मन आनन्ददाय रचा ।
पढ़ने योग्य कहा भविजन को, पृथ्वी पर हो वृद्धि सदा॥
अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपको देख कर रचित एवं कथित यह स्तवन, समस्त भव्य जनों के मनों को आनन्द देनेवाला है और भव्य जीवों द्वारा पठ्यमान (भव्य जीव जिसका सदैव पाठ करते हैं) - ऐसा यह दर्शन-स्तोत्र, इस पृथ्वी पर सदैव वृद्धि को प्राप्त हो ।

'श्री सरस्वती स्तवन' का मङ्गलाचरण

(वंशस्थ)
जयत्यशेषाऽमर-मौलि-लालितं,
सरस्वति! त्वत्पद-पंकज-द्वयम् ।
हृदि-स्थितं यज्जन-जाड्य-नाशनं,
रजो विमुक्तं श्रयतीत्यपूर्वताम् ॥1॥
सुर-मुकुटों से लालित सरस्वति, माता! तेरे चरण-कमल ।
जन-मन स्थित जड़तानाशक, रज-विहीन जयवन्त विमल॥
अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! समस्त प्रकार के देवों के मुकुटों से स्पर्शित आपके दोनों चरण-कमल, इस लोक में सदा जयवन्त हैं । आपके चरण-कमलों को समस्त देव मस्तक झुका कर नमस्कार करते हैं । वे मनुष्यों के मन में तिष्ठते हुए समस्त प्रकार की जड़ता का नाश करनेवाले हैं तथा रजरहित अपूर्वता का आश्रय करते हैं ।

माँ सरस्वती के तेज को किसी की अपेक्षा नहीं

अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं,

न चाऽन्तरं नैव बहिश्च भारति !

न तापकृज्जाड्यकरं न तन्महः,

स्तुवे भवत्या: सकलप्रकाशकम् ॥2॥

मात! आपका तेज रात-दिन, अन्तर-बाहर से निरपेक्ष ।

जड़ता अरु आताप करे नहिं, सकल पदार्थ प्रकाशित हों॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती! आपका तेज न तो दिन की अपेक्षा करता है और न रात्रि की, न भीतर की अपेक्षा करता है और न बाहर की । जो न जीवों को सन्ताप देनेवाला है और न जड़ता, अपितु वह समस्त पदार्थों का प्रकाश करनेवाला है । इस प्रकार सरस्वती के तेज को मैं मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ अर्थात् माँ सरस्वती का आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला तेज मेरी रक्षा करे ।

सरस्वती के आशीर्वाद से ही कवित्व की प्राप्ति

तव स्तवे यत्कविरस्मि साम्प्रतं,

भवत्प्रसादादपि लब्धपाटव: ।

सवित्रि! गंगासरितेऽर्घदायको,

भवामि तत्तज्जलपूरितांजलि: ॥3॥

तव प्रसाद से कवि हुआ मैं, तेरी स्तुति करने योग्य ।

गंगा-जल से अंजलि भरकर, अर्घ्य समर्पित गंगा को॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! आपकी कृपा से प्राप्त इस चातुर्य के द्वारा मैं आपकी स्तुति करने के लिए ही कवि हुआ हूँ । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गंगा नदी के जल से अंजलि भर कर, मैं गंगा नदी को ही अर्घ्य दे रहा हूँ ।

हे सरस्वती! श्रुतकेवली भी आपका वर्णन करने में असमर्थ

श्रुतादिकेवल्यपि तावकीं श्रियं, स्तुवन्नशक्तोऽहमिति प्रपद्यते ।

जयेति वर्णद्वयमेव मादृशा, वदन्ति यद्देवि! तदेव साहसम् ॥4॥

मात! आपकी स्तुति करने, में श्रुत-केवलि भी असमर्थ ।

हम जैसे तो दो अक्षर 'जय', बोलें यह भी अति साहस॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! 'श्रुत है आदि में जिनके ऐसे केवली' अर्थात् श्रुतकेवली भी 'मैं सरस्वती की शोभा-स्तुति करने में असमर्थ हूँ' - ऐसा कह कर आपका वर्णन करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं तो मुझ जैसे मनुष्यों की तो क्या बात है? अर्थात् मुझ जैसे मनुष्य आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते । अत: हे देवी! मेरे समान मनुष्य आपके लिए 'जय' - इन दो वर्णों का भी उच्चारण करते हैं तो यह बड़े साहस की बात है - ऐसा समझना चाहिए ।

हे माता! आपकी कृपा से ही जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान

त्वमत्र लोकत्रयसद्मनि स्थिता,

प्रदीपिका बोधमयी सरस्वति !

तदन्तरस्थाऽखिलवस्तुसंचयं,

जना: प्रपश्यन्ति सदृष्टयोऽप्यत: ॥5॥

हे माता! तुम त्रिभुवन घर में, सम्यग्ज्ञानमयी दीपक ।

जिससे ज्ञानी जीव जगत् की, सकल वस्तुओं के दर्शक॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! आप तीन लोकरूपी घर में स्थित सम्यग्ज्ञानमय उत्कृष्ट दीपक के समान हो, जिसकी कृपा से सम्यग्दृष्टि जीव, उन तीन लोकों के भीतर रहनेवाले जीवाजीवादि पदार्थों को भलीभाँति देख लेते हैं ।

हे सरस्वती माता! आपका मार्ग अक्षुण्ण और निर्मल

नभ: समं वर्त्म तवातिनिर्मलं, पृथु प्रयातं विबुधैर्न कैरिह ।
तथापि देवि! प्रतिभासते तरां, यदेतदक्षुण्णमिव क्षणेन तत् ॥6॥
नभवत् निर्मल विस्तृत तव पथ, कौन सुबुध नहिं गमन करे ।
किन्तु भासता है क्षण भर में, माता! वह अक्षुण्ण अरे !
अन्वयार्थ : हे देवी! आपका मार्ग, आकाश के समान अत्यन्त निर्मल और विस्तीर्ण है, उस मार्ग में ऐसे कौन विबुध हैं, जो नहीं गये हों? अर्थात् सभी गये हैं; तथापि हे माता! ऐसा प्रतीत होता है कि आपका वह मार्ग अक्षुण्ण ही है, मानो उस मार्ग से कोई नहीं गया है ।

हे माता! आपके कृपा से ही मोक्ष की प्राप्ति

तदस्तु तावत्कवितादिकं नृणां, तव प्रभावात्कृतलोकविस्मयम् ।
भवेत्तदप्याशु पदं यदीक्षते, तपोभिरुग्रैर्मुनिभिर्महात्मभि: ॥7॥
जग-विस्मयकर कवितादिक गुण, तव प्रसाद से मनुज लहें ।
जिस पद को तप से मुनि चाहें, वह भी माता सहज मिले॥
अन्वयार्थ : हे माता! इस लोक में मनुष्यों को, कवित्वादि अनेक गुण आपकी कृपा से प्राप्त होते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं; किन्तु जिस पद को बड़े-बड़े मुनिराज, कठिन तप करके प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, वह पद भी आपकी कृपा से सहज प्राप्त हो जाता है ।

हे सरस्वती माता! आपकी कृपा से ही समस्त गुणों की प्राप्ति

भवत्कला यत्र न वाणि मानुषे, न वेत्ति शास्त्रं स चिरं पठन्नपि ।
मनागपि प्रीतियुतेन चक्षुषा, यमीक्षसे कैर्न गुणै: स भूष्यते ॥8॥
पढें निरन्तर किन्तु न जानें, शास्त्रों को तव कृपा-विहीन ।
तनिक स्नेहमय नेत्रों से तुम, देखो तो गुण कौन नहीं ?
अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! जिस मनुष्य में आपकी कला नहीं है अर्थात् जो मनुष्य आपका कृपा-पात्र नहीं है, वह बहुत काल तक पढ़ता हुआ भी शास्त्र को नहीं जानता; किन्तु जिस मनुष्य को आप थोडा-भी स्नेहयुक्त नेत्र से देख लेती हो अर्थात् जो आपका कृपा-पात्र बन जाता है, वह मनुष्य संसार में समस्त गुणों से विभूषित होता है अर्थात् बिना प्रयत्न के ही वह समस्त गुणों का भण्डार बन जाता है ।

केवली भगवान के सर्वज्ञ बनने में आप ही कारण

स सर्ववित्पश्यति वेत्ति चाखिलं,
न वा भवत्या रहितोऽपि बुध्यते ।
तदत्र तस्यापि जगत्त्रयप्रभो:,
त्वमेव देवि! प्रतिपत्तिकारणम् ॥9॥
बिना तुम्हारे सकल जगत् को, केवलि नहिं देखें जानें ।
अत: आप ही त्रिभुवनपति के, पूर्णज्ञान में कारण हैं॥
अन्वयार्थ : हे माता! संसार में केवली भगवान समस्त पदार्थों को भलीभाँति देखते-जानते हैं, वह सब आपकी ही कृपा है । आपकी कृपा के बिना उनका जानना-देखना कुछ भी सम्भव नहीं; इसलिए हे माता! तीन जगत् के प्रभु केवली के ज्ञान-दर्शन में आप ही कारण हैं ।

जिनवाणी के बिना मनुष्यभव की निरर्थकता

चिरादतिक्लेश-शतैर्भवाऽम्बुधौ,
परिभ्रमन् भूरि नरत्वमश्नुते ।
तनूभृदेतत् पुरुषार्थ-साधनं,
त्वया विना देवि! पुन: प्रणश्यति ॥10॥
भवदधि में चिर भ्रमे जीव, बहु कष्टों से नरगति पाता ।
जिसमें हों पुरुषार्थ सभी, पर बिना आपके खो देता॥
अन्वयार्थ : इस संसार-समुद्र में चिरकाल से भ्रमण करता हुआ यह जीव, सैंकड़ों क्लेशों को सह कर, मनुष्य जन्म पाता है तथा वह मनुष्य जन्म ही समस्त पुरुषार्थों का एकमात्र साधन है; अत: हे देवी! आपके बिना प्राप्त हुआ वह मनुष्य भव भी व्यर्थ हो जाता है ।

हे माता! आपके अनुग्रह बिना मनुष्यभव की निष्फलता

कदाचिदम्ब! त्वदनुग्रहं विना,
श्रुते ह्यधीतेऽपि न तत्त्वनिश्चय: ।
तत: कुत: पुंसि भवेद्विवेकिता,
त्वया विमुक्तस्य तुजन्म निष्फलम् ॥11॥
शास्त्र पढ़ें पर नहीं तत्त्व-निर्णय माँ! तेरी कृपा-विहीन ।
कैसे हो सकता विवेक? नर-जन्म वृथा यदि कृपा नहीं॥
अन्वयार्थ : हे माता! आपके अनुग्रह के बिना शास्त्र का भले प्रकार अध्ययन करने पर भी वास्तविक तत्त्व का निश्चय नहीं होता और वास्तविक तत्त्व-निश्चय के बिना मनुष्य में हिताहित विवेक भी जागृत नहीं हो सकता; इसलिए हे देवी! आपके अनुग्रह से रहित पुरुषों का मनुष्य जन्म पाना निष्फल ही है ।

हे माता! आपके माध्यम से ही मोक्ष की प्राप्ति

विधाय मात: प्रथमं त्वदाश्रयं,
श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षय: ।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते,
यदीप्सितं वस्तु लभेत मानव: ॥12॥
माता! तेरे आश्रय से ही, महाऋषि शिवपद पाते ।
अन्धकार से भरे सदन में, दीपक से जन वस्तु लखें॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार मनुष्य, अन्धकार से व्याप्त घर में दीपक के आश्रय से इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार हे माता! बड़े-बड़े ऋषि, आपका आश्रय करके प्रसिद्ध मोक्षपद को प्राप्त का लेते हैं ।

हे सरस्वती! आप अनेक आश्चर्यकारी चेष्टाओं की धारक

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां,
पदं तदेकं तदपि प्रयच्छसि ।
समस्तशुक्लाऽपि सुवर्ण-विग्रहा,
त्वमत्र मात: कृतचित्रचेष्टिता ॥13॥
तुझमें हैं अनेक पद माता! किन्तु एक पद देती हो ।
पूर्णरूप से शुक्ला हो पर, तन सुवर्ण आश्चर्य अहो !
अन्वयार्थ : हे माता! यद्यपि तुझमें अनेक पद हैं तो भी तू जीवों को एक ही पद देती है तथा चारों ओर से अत्यन्त शुक्ल होने पर भी

सुवर्ण-विग्रहा (सुवर्ण के समान शरीर को धारण करनेवाली) है, इस प्रकार संसार में आप आश्चर्यकारी चेष्टाओं को धारण करनेवाली हैं ।

भगवान की वाणी सुनने पर हर्ष की प्राप्ति

समुद्रघोषाकृतिरर्हति प्रभौ,

यदा त्वमुत्कर्षुपागता भृशम् ।

अशेषभाषात्मतया त्वया तदा,

कृतं न केषां हृदि मातरद्भुतम् ॥14॥

अति उत्कर्ष प्राप्त कर प्रभु में, माता सागर-घोष समान

सब भाषामय रूप तुम्हारा, जन-जन को आश्चर्य महान॥

अन्वयार्थ : हे माता! जिस समय आप भगवान् अर्हन्त में अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हुई थीं अर्थात् समवसरण में भगवान् अर्हन्त के मुख से दिव्यध्वनि के रूप में प्रकट हुई थीं, उस समय आपकी ध्वनि, समुद्र के समान धीर-गम्भीर और अनेक भाषास्वरूप थी; जिसे देखकर किसके मन में आश्चर्य नहीं हुआ था ?

तीन लोक के यथार्थ नेत्रस्वरूप जिनवाणी

सचक्षुरप्येष जनस्त्वया विना, यदन्ध एवेति विभाव्यते बुधै: ।

तदस्य लोकत्रितयस्य लोचनं, सरस्वति! त्वं परमार्थदर्शने ॥15॥

बिना आपके चक्षु सहित नर, को भी अन्ध कहें विद्वान ।

निश्चय से त्रिभुवन-दर्शन में, मात्र आप ही नेत्र समान॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती! आपके बिना इस पुरुष को नेत्रसहित होने पर भी विद्वान् लोग अन्धा ही समझते हैं, अत: तीन लोक के वास्तविक दर्शन हेतु आप ही अद्वितीय नेत्र हैं ।

जिनवाणी की कृपा से कवित्व एवं वक्तृत्व की प्राप्ति

गिरा नरप्राणितमेति सारतां, कवित्ववक्तृत्वगुणे च सा च गी: ।

इदं द्वयं दुर्लभमेव ते पुन:, प्रसादलेशादपि जायते नृणाम् ॥16॥

जीवन सफल वचन से अरु, कवि-वक्तापन से वचन सफल ।

किन्तु आपकी कृपा मात्र से, दोनों गुण पा लेते नर॥

अन्वयार्थ : मनुष्य का जीवन, वाणी से सफल समझा जाता है तथा कवित्व एवं वक्तृत्व गुण के होने पर वाणी सारभूत समझी जाती हैŸ । इस संसार में कविपना एवं वक्तापना प्राप्त होना दुर्लभ है, किन्तु आपके थोड़े ही अनुग्रह से ये दोनों गुण सहज प्राप्त हो जाते हैं ।

जिनवाणी के संस्कार से ही कानों की पवित्रता

नृणां भवत्सन्निधिसंस्कृतं श्रवो, विहाय नान्यद्धितमक्षयं च तत् ।

भवेद्विवेकार्थमिदं परं पुन:, विमूढतार्थं विषयं स्वमर्पयत् ॥17॥

कान आपसे संस्कारित जो, वे ही अविनाशी हितकार ।

उनसे ही नर को विवेक हो, विषय-लीनता से कुविकार॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! जिस कान का आपके समीप संस्कार किया गया है अर्थात् जो कान आपके सहवास से शुद्ध एवं पवित्र किया गया है, वही कान, हित को करनेवाला तथा अविनाशी है; किन्तु उससे भिन्न कान, न हितकारी है और न अविनाशी है । आपके सहवास से पवित्र कान ही मनुष्यों में विवेक के लिए होते हैं; किन्तु उससे भिन्न विषयों की ओर झुकता हुआ कान, विवेक के लिए नहीं; अपितु विशेषरूप से मूढता के लिए होता है ।

एक-अनेक धर्म से संयुक्त जिनवाणी माता

कृतापि ताल्वोष्ठपुटादिभिर्नृणां,
त्वमादिपर्यन्तविवर्जितस्थिति: ।
इति त्वयापीदृशधर्मयुक्तया,
स सर्वथैकान्तविधिर्विचूर्णित: ॥18॥
तालु-ओष्ठ-पुटों से जन्मी, माता! किन्तु अनादि-अनन्त ।
उभय धर्म संयुक्त किया, एकान्तवाद का तुमने अन्त॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! यद्यपि तू मनुष्यों के तालु तथा ओष्ठ-पुटों से उत्पन्न हुई है, तथापि तेरी स्थिति, आदि-अन्त से रहित है; अत: ऐसे धर्मों से संयुक्त हे सरस्वती! तूने सर्वथा एकान्त मार्ग का नाश कर दिया है - ऐसा भली-भाँति प्रतीत होता है ।

कामधेनु आदि की उपमा से रहित जिनवाणी

अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि, द्युधेनुचिन्तामणिकल्पपादपा: ।
फलन्ति हि त्वं पुनरत्र चापरे, भवे कथं तैरुपमीयसे बुधै: ॥19॥
कामधेनु-चिन्तामणि-सुरतरु, एक जन्म में फल दायक ।
उभय जन्म में फल देती माँ, अत: नहीं उपमा लायक॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती! पुण्योदय से प्राप्त कामधेनु, चिन्तामणि तथा कल्पवृक्ष एक ही भव में मनुष्यों को इष्ट फल देते हैं, किन्तु आप इस भव तथा परभव, दोनों में मनुष्यों को इष्ट फल देनेवाली हो; इसलिए आपको कामधेनु आदि की उपमा कभी भी नहीं दी जा सकती है ।

बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग अन्धकार को दूर करनेवाली

अगोचरो वासरकृन्निशाकृतो:, जनस्य यच्चेतसि वर्तते तम: ।
विभिद्यते वागधिदेवते त्वया, त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रगीयसे ॥20॥
सूर्य-चन्द्र भी देख सकें नहिं, मोह-तिमिर जन-मन में व्याप्त ।
माता! तू ही मोह-विनाशक, उत्तम ज्योति कहते आप्त॥

अन्वयार्थ : हे वागधिदेवते! हे सरस्वती! जो अन्धकार, सूर्य तथा चन्द्रमा के भी गोचर नहीं है अर्थात् जिस अन्धकार को न सूर्य देख सकता है और न चन्द्रमा देख सकता है - ऐसे मनुष्यों के चित्त में विद्यमान अन्धकार का तू नाश करती है; इसलिए इस संसार में तू ही उत्तम ज्योति है - ऐसा विद्वान् मनुष्य, तेरा गुण-गान करते हैं ।

मनुष्य के चित्त को आनन्द देनेवाली माता जिनवाणी

जिनेश्वर-स्वच्छ-सर:सरोजिनी,
त्वमंग-पूर्वादि-सरोज-राजिता ।
गणेश-हंस-व्रज-सेविता सदा,
करोषि केषां न मुदं परामिह ॥21॥
मात! कमलिनी जिनवर सर की, शोभित द्वादश अंग कमल ।
शोभित हो गणधर समूह से, जग में किसे न हर्ष विमल॥

अन्वयार्थ : हे माता सरस्वती! आप जिनेश्वररूपी निर्मल सरोवर की कमलिनी और ग्यारह अंग चौदह पूर्वरूपी कमल से सुशोभित हो, गणधररूपी हंसों के समूह से सेवित हो; इसलिए आप इस संसार में किसे उत्तम हर्ष की करनेवाली नहीं हो? अर्थात् अवश्य हो ।

सरस्वती की कृपा से समस्त वस्तुओं की प्राप्ति

परात्म-तत्त्व-प्रतिपत्ति-पूर्वकं,
परं पदं यत्र सति प्रसिद्ध्यति ।
कियत्ततस्ते स्फुरत: प्रभावतो,
नृपत्वसौभाग्यवरांगनादिकम् ॥22॥
मात! आपके ही प्रसाद से, तत्त्वज्ञानपूर्वक शिव प्राप्त ।
तव प्रसाद से राज्यलक्ष्मी आदि, सब मिलें इसमें क्या बात ?
हे सरस्वती! आपकी कृपा से परमात्मतत्त्व के ज्ञानपूर्वक परमपद (मोक्षपद)
अन्वयार्थ : की सिद्धि हो जाती है, तब आपके दैदीप्यमान प्रभाव के सामने राजापना, सौभाग्य तथा उत्तम स्त्री आदि की प्राप्ति क्या चीज है?

आपकी भक्ति से सम्यग्ज्ञान (श्रुतज्ञान) की प्राप्ति

त्वदंघ्रि-पद्म-द्वय-भक्ति-भाविते,
तृतीयमुन्मीलति बोधलोचनम् ।
गिरामधीशे सह केवलेन यत्,
समाश्रितं स्पर्धमिवेक्षतेऽखिलम् ॥23॥
तेरे चरण-कमल की भक्ति, खोले तीजा नेत्र सुजान ।
सकल-बोध से होड़ लगाके, सब जग देखे वह श्रुतज्ञान॥
अन्वयार्थ : हे माता सरस्वती! जो भव्य मनुष्य, आपके दोनों चरण-कमलों की भक्ति तथा सेवा करता है, उस मनुष्य के तीसरा सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र प्रगट होता है । यह सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र, केवलज्ञान के साथ ईर्ष्या करके ही मानों समस्त पदार्थों को देखता-जानता है ।

समस्त लोक की शुद्धि का कारण

त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत्,
समस्त-लोकत्रय-शुद्धिकारणम् ।
त्वमेव चाऽऽनन्द-समुद्र-वर्धने,
मृगांकमूर्ति: परमार्थदर्शिनाम् ॥24॥
तुम्हीं तीर्थ शुचि ज्ञान-नीरमय, त्रिभुवन को भी शुद्ध करो ।
तुम्हीं चन्द्र परमार्थ-दर्शि के, सुख-समुद्र में वृद्धि करो॥
अन्वयार्थ : हे माता सरस्वती! सम्यग्ज्ञानरूपी जल से भरा हुआ तथा समस्त लोकों की शुद्धि का कारण तू ही पवित्र तीर्थ है तथा जो पुरुष, परमार्थ को देखनेवाले हैं, उन मनुष्यों के आनन्दरूपी समुद्र को बढ़ाने में तू ही चन्द्रमा है ।

समस्त ज्ञानों की प्राप्ति में जिनवाणी ही कारण

त्वयादिबोध: खलु संस्कृतो व्रजेत्,
परेषु बोधेष्वखिलेषु हेतुताम् ।
त्वमक्षि पुंसामतिदूरदर्शने,
त्वमेव संसारतरो: कुठारिका ॥25॥
तुमसे हुआ पवित्र ज्ञान-मति, अन्य ज्ञान का कारण है ।
तुम्हीं दूरदर्शन में चक्षु, भव-तरु हेतु कुठार कहें॥

अन्वयार्थ : हे वागधिदेवते! हे सरस्वती! आपके द्वारा अत्यन्त पवित्र किया हुआ मतिज्ञान ही समस्त श्रुत एवं मन:पर्यय आदि ज्ञानों में कारण है । अत्यन्त दूर की वस्तु देखने में तू ही मनुष्य का नेत्र है और संसाररूपी वृक्ष को काटने के लिए तू ही कुठार है ।

जिनवाणी की कृपा से समस्त गुणों की प्राप्ति

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती,

गुरूपदेशोऽयमवर्ण-भेदत: ।

न ता: श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं,

प्रयच्छसि प्राणभृते न यच्छुभे ॥26॥

गुरु-वचनों से अकारादि में, तव स्मरण विधि-अनुसार ।

करें, उसे नहिं कौन लक्ष्मी गुण-पद देती आप कृपा॥

अन्वयार्थ : हे शुभे! हे सरस्वती! यह गुरु का उपदेश हैं कि जो पुरुष, शास्त्रानुसार अकारादि आदि से लेकर अन्त तक अथवा वर्ण भेद रहित आपका स्मरण करनेवाला है, उस पुरुष के लिए न तो कोई ऐसी लक्ष्मी है, जिसे आप न देवें और न कोई ऐसा उत्तम गुण तथा उत्तम पद ही है, जो कि आपकी कृपा से प्राप्त न हो सके ।

हे देवी! तुम पापरूपी पर्वत के नाश हेतु विवेकरूपी वज्र के समान

अनेक-जन्मार्जित-पाप-पर्वतो, विवेक-वज्रेण स येन भिद्यते ।

भवद्वपु: शास्त्र-घनान्निरेति, सदर्थवाक्याऽमृतभारमेदुरात् ॥27॥

भव-भव में संचित अघ-गिरि को, तोड़ सके जो विवेक-वज्र । **अर्थ**-वाक्य अमृत-जलमय तव, तन-श्रुत मेघों से उत्पन्न॥

अन्वयार्थ : हे माता! हे सरस्वती! अनेक भवों में संचय किया हुआ पापरूपी पर्वत, जिस विवेकरूपी वज्र के द्वारा तोड़ा जाता है; वह विवेकरूपी वज्र, श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्यरूपी जल के भार से वृद्धि को प्राप्त होकर, आपके शरीररूप शास्त्ररूपी मेघ से उत्पन्न होता है ।

हे जिनवाणी! आपका तेज स्वयं प्रकाशित

तमांसि तेजांसि विजित्य वाङ्मयं,

प्रकाशयद्यत्परमं महन्मह: ।

न लुप्यते तैर्न च तै: प्रकाश्यते,

स्वत: प्रकाशात्मकमेव नन्दतु ॥28॥

अन्य तेज अरु तिमिर जीतता, तव वाणी का तेज महान ।

अन्धकार से नष्ट न होता, स्वत: प्रकाशित तेज महान॥

अन्वयार्थ : हे माता! अन्धकार तथा अन्य तेजों को जीत कर, स्वत: प्रकाशित आपका दिव्यध्वनिरूप सर्वोत्कृष्ट तेज, इस लोक में जयवन्त प्रवर्तो । वह तेज, न तो अन्घकार से नष्ट होता है और न किसी दूसरे तेज से प्रकाशित होता है, किन्तु स्वत: प्रकाशस्वरूप ही है ।

जिनवाणी की कृपा से सबकी प्राप्ति

तव प्रसाद: कवितां करोत्यत:,

कथं जडस्तत्र घटेत मादृश: ।

प्रसीद तत्रापि मयि स्वनन्दने,

न जातु माता विगुणेऽपि निष्ठुरा ॥29॥

तुम प्रसाद ही काव्य रचे, मुझसा जड़ कैसे रच सकता ?

माँ! निष्ठुर नहिं निर्गुण सुत पर, मुझ पर तू प्रसन्न हो जा !

अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! तेरा प्रसाद ही कविता करनेवाला है; इसलिए मेरे (ग्रन्थकर्ता के) समान वज्र मूर्ख, उस कविता को करने

की चेष्टा कैसे कर सकता है? अत: इस कविता को करने में हे माता! तुम मुझ पर प्रसन्न हो क्योंकि यदि अपना पुत्र निर्गुणी हो तो भी माता कभी कठोर नहीं बनती ।

श्रुतदेवता की स्तुति से गुणों की प्राप्ति और संसार की समाप्ति

इमामधीते श्रुत-देवता-स्तुतिं,
कृतिं पुान् यो मुनिपद्मनन्दिन: ।
स याति पारं कवितादिसद्गुण,
प्रबन्धसिन्धो: क्रमतो भवस्य च ॥30॥
पद्मनन्दि मुनिकृत श्रुत-स्तुति-पद जो नर निश-दिन पढ़ता ।
काव्यादिक गुण-सिन्धु-पार हो, भव-समुद्र को वह तिरता॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष, मुनिवर श्री पद्मनन्दि द्वारा की गई श्रुतदेवता की स्तुतिरूप कृति को पढ़ता है, वह पुरुष, कवित्व आदि उत्तम गुणों के प्रबन्धरूपी समुद्र से तथा क्रम से संसाररूपी समुद्र के पार हो जाता है ।

अन्तिम उपसंहार

(शार्दूलविक्रीडित)
कुण्ठास्तेऽपि वृहस्पतिप्रभृतयो, यस्मिन् भवन्ति ध्रुवं;
तस्मिन् देवि! तव स्तुतिव्यतिकरे, मन्दा नरा: के वयम् ।
तद्वाक्चापलमेतदश्रुतवतामस्माकमम्ब! त्वया;
क्षन्तव्यं मुखरत्वकारणमसौ, येनातिभक्तिग्रह: ॥31॥
सुरगुरु जैसे बुधजन भी, जिनकी स्तुति में हो मतिमन्द ।
उन सरस्वती मात की स्तुति, कैसे कर सकते हैं हम ?
हे माता! यह नहीं स्तवन, वाक्-चपलता है मेरी ।
अल्पश्रुत को क्षमा करो तुम, क्योंकि आपमें है भक्ति॥
अन्वयार्थ : हे देवी सरस्वती! जब, आपके स्तवन करने में बड़े-बड़े विद्वान् वृहस्पति आदि भी निश्चय से कुण्ठ अर्थात् मन्दबुद्धि हो जाते हैं; तब आपके स्तवन करने में हम जैसे मन्दबुद्धियों की बात ही क्या है? अर्थात् हम तो आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते क्योंकि शास्त्र के अजानकार हमारी यह स्तुति नहीं, अपितु वाणी की चपलता है । इसलिए हे माता! हमारी इस वाचालता को क्षमा कीजिए क्योंकि आपमें ही हमारी अत्यन्त भक्ति है ।

श्री आदिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

(वंशस्थ)
स्वयंभुवा येन समुद्धृतं जगत्, जडत्व-कूपे पतितं प्रमादत: ।
परात्मतत्त्वप्रतिपादनोल्लसत्, वचोगुणैरादिजिन: स सेव्यताम्॥1॥
अन्ध-कूप में पतित प्रमादी, जग का जो करते उद्धार ।
स्व-पर प्रकाशक वचनों से, उन आदि प्रभु को सेवो सार॥
अन्वयार्थ : हे भव्य जीवों! प्रमाद के वशीभूत होकर अज्ञानरूपी कुएं में पड़े हुए जगत् को जिन स्वयम्भू (अपने आप दीक्षित आदि होनेवाले) श्री आदिनाथ भगवान ने स्व-पर का स्वरूप कहनेवाले अपने वचनरूपी मनोहर गुणों से बाहर निकाला - ऐसे श्री आदिनाथ भगवान की हमें सेवा करनी चाहिए अर्थात् उपासना करनी चाहिए ।

श्री अजितनाथ तीर्थंकर की स्तुति

भवारिरेको न परोऽस्ति देहिनां,
सुहृच्च रत्नत्रयमेकमेव हि ।
स दुर्जयो येन जिनस्तदाश्रयात्,
ततोऽजितान्मे जिनतोऽस्तु सत्सुखम् ॥2॥
रत्नत्रय ही मित्र जीव का, दुर्जय शत्रु है संसार ।
जिनने रत्नत्रय से बैरी, जीता अजितनाथ सुखकार॥

अन्वयार्थ : जीवों का एकमात्र वैरी यह संसार है और दूसरा कोई भी वैरी नहीं है तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय इसके मित्र हैं और दूसरा कोई मित्र नहीं है । यह संसाररूपी वैरी अत्यन्त दुर्जय है, किन्तु श्री अजितनाथ भगवान ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी मित्र की सहायता से इस संसाररूपी भयंकर वैरी को सर्वथा जीत लिया है - ऐसे श्री अजितनाथ भगवान से मुझे भी श्रेष्ठ सुख मिले, यह प्रार्थना है ।

श्री सम्भवनाथ तीर्थंकर की स्तुति

पुनातु न: सम्भवतीर्थकृज्जिन:,
पुन: पुन: सम्भवदु:खदु:खिता: ।
तदर्ति: नाशाय विमुक्ति-वर्त्मन:,
प्रकाशकं यं शरणं प्रपेदिरे ॥3॥
पुन: पुन: भव-दु:ख से दु:खिया, जीवों के दु:ख के नाशार्थ ।
शरणभूत शिवमार्ग-प्रकाशक, सम्भव तीर्थंकर जिनराज॥

अन्वयार्थ : संसार-दु:खों का नाश करनेवाले तथा मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाले जिनेन्द्र श्री सम्भवनाथ भगवान हमारी रक्षा करें, अत: श्री सम्भवनाथ भगवान को हम नमस्कार करते हैं ।

श्री अभिनन्दननाथ तीर्थंकर की स्तुति

निजै-र्गुणैरप्रतिमै र्हानजो,
न तु त्रिलोकी-जनताऽर्चनेन य: ।
यतो हि विश्वं लघु तं विमुक्तये,
नमामि साक्षादभिनन्दनं जिनम् ॥4॥
जो निजगुण से ही महान है, नहीं जगत् की पूजा से ।
अभिनन्दन जिन को वन्दन है, सकल विश्व है लघु जिनसे॥

अन्वयार्थ : हे अभिनन्दननाथ भगवान! तीन लोक के समस्त जीवों द्वारा पूजित होने से आप पूज्य नहीं, अपितु अपने स्वीय गुणों से श्रेष्ठ होने से आपको पूज्यपना प्राप्त हुआ है । जो जन्म-मरण से रहित हैं, जिनके ज्ञान के समक्ष समस्त लोक छोटा है अर्थात् जो सांसारिक सुखों को तुच्छ समझते हैं - ऐसे समस्त प्रकार का आनन्द देनेवाले श्री अभिनन्दननाथ जिनेन्द्र को मैं मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ ।

श्री सुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

नय-प्रमाणादि-विधान-संघटं,
प्रकाशितं तत्त्वमतीव निर्मलम् ।
यतस्त्वया तत्सुतेऽत्र तावकं,

तदन्वयं नाम नमोऽस्तु ते जिन ॥5॥
नय-प्रमाण से संगत निर्मल, वस्तु-तत्त्व का किया प्रकाश ।
सुमति नाम सार्थक है जिनका, वन्दन सुमतिनाथ जिनराज॥
अन्वयार्थ : हे सुमतिनाथ जिनेन्द्र! जिसमें प्रमाण तथा नयों का भलीभाँति संघटन है और जो अत्यन्त निर्मल है - ऐसा तत्त्व आपने प्रकाशित किया है; अत: आपका नाम सार्थक है । हे जिनेश! आपको हमारा नमस्कार हो ।

श्री पद्मप्रभ तीर्थंकर की स्तुति

रराज पद्मप्रभतीर्थकृत्सद-,
स्यशेष-लोक-त्रय-लोक-मध्यग: ।
नभस्युडुव्रातयुत: शशी यथा,
वचोऽमृतैर्वर्षति य: स पातु न: ॥6॥
सकल जगत् के मध्य सुशोभित, आनन्दामृत बरसाते ।
नभ में चन्द्र समान पद्मप्रभ, जिनवर को वन्दन करते॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार आकाश में चन्द्रमा, नक्षत्रों से शोभित होता है तथा जीवों के लिए आनन्दामृत का वर्षाव करता है; उसी प्रकार श्री पद्मप्रभ भगवान, समवसरण सभा में तीनों लोक के समस्त जीवों के बीच में शोभित होकर, आप अपने वचनरूपी अमृत को वर्षानेवाले हैं - ऐसे श्री पद्मप्रभ भगवान हमारी रक्षा करें, उनको हमारा नमस्कार हैं ।

श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति

नराऽमराऽहीश्वरऽपीडने जयी,
धृतायुधो धीरमना झषध्वज: ।
विनाऽपि शस्त्रैर्ननु येन निर्जितो,
जिनं सुपार्श्वं प्रणमामि सर्वदा ॥7॥
सुर-नरपीड़क आयुधधारक, धीर मीन-ध्वजधारक काम ।
बिना शस्त्र के जीता जिनने, प्रभु सुपार्श्व को करूँ प्रणाम॥
अन्वयार्थ : जो कामदेव, नरेन्द्र देवेन्द्र और फणीन्द्र को भी दु:ख देनेवाला है, जो अनेक शस्त्रों का धारक है, जिसका मन अत्यन्त धीर है और जिसकी मीन की ध्वजा है - ऐसे कामदेव को श्री सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्र ने बिना शस्त्र के पल भर में ही जीत लिया है; अत: उन श्री सुपार्श्व भगवान को मैं सर्वदा मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ ।

श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति

शशिप्रभो वागमृतांशुभि: शशी,
परं कदाचिन्न कलंक-संगत: ।
न चापि दोषाकरतां ययौ यति:,
जयत्यसौ संसृतिपापनाशन: ॥8॥
वचनामृत किरणों से शशिसम, चन्द्रप्रभ में नहीं कलंक ।
दोषों को भी प्राप्त नहीं, जग-अघनाशक जिनवर जयवन्त॥
अन्वयार्थ : जो चन्द्रमा के समान होने पर भी कर्म-कलंक से रहित हैं, अमृत की किरणों से युक्त है अर्थात् कभी भी दोषों को प्राप्त नहीं हुए हैं - ऐसे समस्त संसार के पापनाशक श्री चन्द्रप्रभ भगवान इस लोक में सदा जयवन्त रहें ।

श्री पुष्पदन्त तीर्थंकर की स्तुति

यदीय-पाद-द्वितय-प्रणामत:, पतत्यधो मोहन-धूलि-रंगिनाम् ।
शिरोगता मोह-ठक-प्रयोगत:, स पुष्पदन्त: सततं प्रणम्यते ॥9॥
मोह-ठग ने डाली सिर पर, मोहन-धूलि गिरे नीचे ।
जिनके चरण-कमल वन्दन से, पुष्पदन्त को नमन करूँ॥

अन्वयार्थ : संसारी प्राणियों के मस्तक में मोहरूपी ठग द्वारा स्थापित मोहन-धूलि, जिनके चरण-कमलों के प्रणाम मात्र से ही पल भर में नीचे गिर जाती है; उन श्री पुष्पदन्त भगवान को हमारा सदैव नमस्कार है । श्री पुष्पदन्त भगवान को नमस्कार करते हैं ।

श्री शीतलनाथ तीर्थंकर की स्तुति

सतां सदीयं वचनं सुशीतलं,
यदेव चन्द्रादपि चन्दनादपि ।
तदत्र लोके भवतापहारि यत्,
प्रणम्यते किं न स शीतलो जिन: ॥10॥
चन्द्र और चन्दन से शीतल, वच जिनके बुध मानें ।
भवतपनाशक शीतल जिन को, क्यों न जगज्जन नमन करें॥

अन्वयार्थ : जिनके वचन, सज्जनों को चन्द्रमा तथा चन्दन से भी अधिक शीतल जान पड़ते हैं और जो समस्त संसार के तापनाशक हैं - ऐसे श्री शीतलनाथ भगवान क्या नमस्कार करने योग्य नहीं हैं?

श्री श्रेयांसनाथ तीर्थंकर की स्तुति

जगत्त्रये श्रेय इतो ह्ययादिति,
प्रसिद्धनामा जिन एष वन्द्यते ।
यतो जनानां बहुभक्तिशालिनां,
भवन्ति सर्वे सफला मनोरथा: ॥11॥
जग का हो कल्याण अत: तव, श्रेयोनाथ सुनाम प्रसिद्ध ।
आप कृपा से गाढ़ भक्तिमय, भविजन के सब मनरथ सिद्ध॥

अन्वयार्थ : श्री श्रेयोनाथ (श्रेयांसनाथ) भगवान से तीन लोक के समस्त कल्याण की प्राप्ति होती है, इसलिए इनका नाम श्रेयोनाथ नाम से प्रसिद्ध है तथा जो भव्य जीव, इन श्री श्रेयोनाथ भगवान के प्रति गाढ़ भक्ति से सहित होते हैं; उन भव्य जीवों के समस्त मनोरथ, इन्हीं भगवान की कृपा से सिद्ध होते हैं ।

श्री वासुपूज्य तीर्थंकर की स्तुति

पादाब्ज-युग्मे तव वासुपूज्य तत्,
जनस्य पुण्यं प्रणतस्य तद्भवेत् ।
यतो न सा श्रीरिह हि त्रिविष्टपे,
न तत्सुखं यन्न पुर: प्रधावति ॥12॥
वासुपूज्य तव चरणों में नत, भविजन का हो पुण्य अपूर्व ।
जग में कौन लक्ष्मी या सुख, उससे रह सकता है दूर॥

अन्वयार्थ : हे वासुपूज्य जिनेश! जो भव्य, जीव आपके चरण-कमलों को नमस्कार करनेवाले हैं, उन भव्य जीवों को इस संसार में उस अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिसकी कृपा से इन तीन लोक में ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं है, जो आगे-आगे दौड़ कर इनके पास न आती

हो और न कोई ऐसा सुख है, जो इन जीवों को प्राप्त न होता हो ।

श्री विमलनाथ तीर्थंकर की स्तुति

मलैर्विुक्तो विमलो न कैर्जिनो, यथार्थनामा भुवने नमस्कृत: ।
तदस्य नामस्मृतिरप्यसंशयं, करोति वैल्यमघात्मनामपि ॥13॥
जग में कौन करे न विमल जिन, सार्थक संज्ञा को वन्दन ।
चूंकि पापियों को भी निर्मल, करता उनका नाम-स्मरण॥

अन्वयार्थ : हे प्रभो! इस संसार में ऐसा कौन होगा, जिसने समस्त मलों से रहित तथा अत्यन्त सार्थक नाम को धारण करनेवाले श्री विमलनाथ भगवान को नमस्कार न किया हो? अत: आपके नाम का स्मरण मात्र ही सभी पापी मनुष्यों को भी अत्यन्त विमल बना देता है ।

श्री अनन्तनाथ तीर्थंकर की स्तुति

अनन्त-बोधादिचतुष्टयात्मकं, दधाम्यनन्तं हृदि तद्गुणाशया ।
भवेद्यदर्थी ननु तेन सेव्यते, तदन्वितो भूरितृषेव सत्सर: ॥14॥
अनन्त चतुष्टयात्मक जिन! मम, उर में आशा उन गुण की ।
जिसका चाहक उसकी सेवा करे, यथा प्यासा सर की॥

अन्वयार्थ : अनन्त विज्ञानादि स्वरूप श्री अनन्तनाथ भगवान को उनके जैसे गुणों की प्राप्ति हेतु मैं अपने हृदय में धारण करता हूँ क्योंकि संसार में यह बात प्रत्यक्षगोचर है कि जो पुरुष, जिस गुण की प्राप्ति का इच्छुक होता है, वह मनुष्य उसकी ही सेवा करता है । जिसप्रकार अत्यन्त प्यासा मनुष्य, अपनी प्यास की शान्ति के लिए उत्तम (स्वच्छ जल से भरे हुए) सरोवर की ही सेवा करता है ।

श्री धर्मनाथ तीर्थंकर की स्तुति

नमोऽस्तु धर्माय जिनायमुक्तये;
सुधर्म-तीर्थ-प्रविधायिने सदा ।
यमाश्रितो भव्यजनोऽतिदुर्लभां;
लभेत कल्याण-परम्परां पराम् ॥15॥
धर्म-प्रवर्तक धर्मनाथ जिन! को है मुक्ति हेतु वन्दन ।
जिनसे दुर्लभ उत्तम कल्याणों को प्राप्त करें वन्दन॥

अन्वयार्थ : जिन श्री धर्मनाथ भगवान का आश्रय कर के भव्य जीव, अत्यन्त दुर्लभ सर्वोत्कृष्ट कल्याणों की परम्परा को प्राप्त होते हैं, उस श्रेष्ठ धर्मतीर्थ को प्रवर्तानेवाले तथा अष्ट कर्मों को जीतनेवाले श्री धर्मनाथ भगवान को मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिए सर्वदा नमस्कार करता हूँ ।

श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

विधाय कर्म-क्षयमात्म-शान्तिकृत्
जगत्सु य: शान्तिकरस्ततोऽभवत् ।
इति स्वमन्यं प्रति शान्ति-कारणं;
नमामि शान्तिं जिनमुन्नतश्रियम् ॥16॥
कर्मक्षय से आत्मशान्ति कर, सकल जगत् में शान्ति करें ।
स्व-पर शान्तिप्रदायक चक्री, शान्ति जिन! हम नमन करें॥

अन्वयार्थ : जो अपनी आत्मा की शान्ति करनेवाले हैं तथा समस्त कर्मों का क्षय करके सम्पूर्ण जगत् को शान्ति देनेवाले हैं । जो स्व-पर

को शान्ति देनेवाले और अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग दोनों प्रकार की लक्ष्मी के स्वामी हैं - ऐसे सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ; समस्त जगत् को शान्ति देनेवाले ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान मुझे भी शान्ति प्रदान करें ।

श्री कुन्थुनाथ तीर्थंकर की स्तुति

दयाङ्गिनां चिद् द्वितयं विमुक्तये,
परिग्रह-द्वन्द्व-विमोचनेन तत् ।
विशुद्धमासीदिह यस्य मादृशां,
स कुन्थुनाथोऽस्तु भवप्रशान्तये ॥17॥
शुद्ध हुए परिग्रह तजने से, जिनके दया और चिद्भाव ।
हम जैसों को शान्तिप्रदायक, होवें कुन्थुनाथ भगवान॥

अन्वयार्थ : बाह्य तथा अभ्यन्तर के भेदवाले समस्त परिग्रहों को छोड़ने के कारण श्री कुन्थुनाथ भगवान का समस्त प्राणियों पर दयाभाव और उनका अपना चैतन्यभाव - ये दोनों ही विशुद्ध हो गये हैं - ऐसे श्री कुन्थुनाथ भगवान, संसार के मनुष्यों को शान्ति-प्रदाता होवें ।

श्री अरनाथ तीर्थंकर की स्तुति

विभान्ति यस्यांघ्रि-नखा नमत्सुर-,
स्फुरच्छिरोरत्नमहोऽधिक-प्रभा: ।
जगद्-गृहे पाप-तमो-विनाशिना:,
इव प्रदीपा: स जिनो जयत्यर: ॥18॥
नत देवों के मुकुट रत्न की, कान्ति से भी प्रभा महान ।
पाप-तिमिर-क्षय हेतु चरण-नख, अर जिनवर जग में जयवन्त॥

अन्वयार्थ : नमस्कार करते हुए देवताओं के मस्तकों पर शोभित मुकुटों में लगे हुए दैदीप्यमान रत्नों की कान्ति से भी अधिक प्रभावाले श्री अरनाथ जिनेन्द्र के चरणों के नख, संसाररूपी घर में पापरूपी अन्धकार का नाश करनेवाले दीपकों के समान शोभित होते हैं - ऐसे श्री अरनाथ भगवान इस लोक में जयवन्त हैं ।

श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

सुहृत्सुखी स्यादहित: सुदु:खित:,
स्वतोऽप्युदासीनतमादपि प्रभो: ।
यत: स जीयाज्जिनमल्लिरेकतां,
गतो जगद्विस्यमयकारिचेष्टित: ॥19॥
भक्त सुखी अरु शत्रु दु:खी, पर स्वयं उदास रहें भगवान् ।
विस्मयकारी चेष्टा जिनकी, जयवन्तो जिन मल्लि सुनाथ॥

अन्वयार्थ : यद्यपि श्री मल्लिनाथ भगवान, स्वयं अत्यन्त उदासीन हैं; तथापि उनके स्नेही भक्त, सुख पाते हैं तथा उनके शत्रु, दु:ख पाते हैं - ऐसे आत्मस्वरूप में लीन तथा समस्त जगत् को आश्चर्य करनेवाली चेष्टाओं को धारण करनेवाले श्री मल्लिनाथ भगवान, सदा इस लोक में जयवन्त वर्तें ।

श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर की स्तुति

विहाय नूनं तृणवत्स्वसम्पदं, मुनिर्व्रतैर्योऽभवदत्र सुव्रत: ।
जगाम तद्धाम विरामवर्जितं, सुबोधदृङ्गे स जिन: प्रसीदतु॥20॥
तृणवत् सम्पत्ति तज कर, मुनि-व्रत धार, नाम सुव्रत सार्थक ।

हों प्रसन्न दृग-ज्ञान सुशोभित, शिवपद प्राप्त मुनिसुव्रत॥

अन्वयार्थ : जो श्री सुव्रतनाथ मुनि (श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान्) निश्चय से समस्त पदार्थों को तृण के समान छोड़ कर, व्रतों को धारण करने से सुव्रत नाम को धारण करते हैं । जो अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं तथा जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के धारी हैं - ऐसे श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान मेरे लिए प्रसन्न हों ।

श्री नमिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

परं पराऽऽयत्ततयाऽति-दुर्बलं,
चलं स्वसौख्यं यदसौख्यमेव तत् ।
अद: प्रमुच्यात्मसुखे कृतादरो,
नमिर्जिनो य: स ममास्तु मुक्तये ॥21॥
पराधीन अरु दुर्बल चञ्चल, इन्द्रिय-सुख जाना दु:खरूप ।
उसे त्याग आतमसुख पीते, नमि जिन मुझको हों सुखरूप॥

अन्वयार्थ : हे नमिनाथ भगवान! आपने अत्यन्त पराधीनता से प्राप्त, स्वरूप से भिन्न, अत्यन्त दुर्बल तथा चंचल - ऐसे इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुख को दु:खस्वरूप मान कर, इन्द्रिय-सम्बन्धी समस्त सुख को छोड़ दिया है तथा आत्म सम्बन्धी सुख में आदर किया हैं - ऐसे श्री नमिनाथ भगवान, मुझे मुक्ति की प्राप्ति कराएँ ।

श्री नेमिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

अरिष्ट-संकर्तन-चक्र-नेमिता-
मुपागतो भव्य-जनेषु यो जिन: ।
अरिष्टनेमिर्जगतीतिविश्रुत:,
स ऊर्जयन्ते जयतादित: शिवम् ॥22॥
भविजन के अघ-नाश हेतु, जो चक्र-धार को प्राप्त हुए ।
जग-विख्यात अरिष्टनेमि प्रभु, ऊर्जयन्त से शिव पहुँचे॥

अन्वयार्थ : संसार में अरिष्टनेमि नाम से प्रसिद्ध जो भगवान, भव्य जनों के अशुभ कर्मों के नाश करने में चक्र की धार के समान हैं तथा जो गिरनार पर्वत से मोक्ष को पधारे हैं - वे श्री अरिष्टनेमि भगवान, इस लोक में सदा जयवन्त रहें ।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति

यदूर्ध्व-देशे नभसि क्षणादहि,
प्रभो: फणा-रत्नकरै: प्रधावितम् ।
पदातिभिर्वा कमठाऽऽहते: कृते,
करोतु पार्श्व: स जिनो ममामृताम् ॥23॥
शेषनाग-फण रत्न-किरण की, सेना शोभित जिनके शीश ।
कमठासुर के नाश हेतु मम, मोक्ष-प्रदायक पारस ईश॥

अन्वयार्थ : हे पार्श्वनाथ भगवान! आकाश में कमठासुर को मारने के लिए आपके मस्तक पर शेषनाग के फण में लगी हुई रत्नों की किरणें पदाति (सेना) के समान धावा करती हैं - ऐसे श्री पार्श्वनाथ भगवान, मेरे लिए मोक्ष को देवें ।

श्री वर्धमान तीर्थंकर की स्तुति

त्रिलोक-लोकेश्वरतां गतोऽपि य:,
स्वकीय-कायेऽपितथापि नि:स्पृह: ।

स वर्धानोऽन्त्यजिनो नताय मे,
ददातु मोक्षं मुनि-पद्मनन्दिने ॥24॥
तीन लोक के स्वामी हैं, पर निज-तन से भी निस्पृह हैं ।
चरणों में नत पद्मनन्दि को, वर्द्धमान जिन! शिवपद दें॥
अन्वयार्थ : जो तीन लोक के ईश्वर होने पर भी अपने शरीर से अत्यन्त नि:स्पृह (इच्छारहित) हैं - ऐसे अन्तिम जिनेन्द्र श्री वर्धान स्वामी, नमस्कार करते हुए मुझ पद्मनन्दि मुनि को मोक्ष प्रदान करें ।

'श्री सुप्रभाताष्टक स्तोत्र' का मङ्गलाचरण

(शार्दूलविक्रीडित)
नि:शेषावरणद्वय-स्थिति-निशा, प्रान्तेऽन्तराय-क्षयो;
द्योते मोह-कृते गते च सहसा, निद्राभरे दूरत: ।
सम्यग्ज्ञान-दृगक्षि-युग्ममभितो, विस्फारितं यत्र तत्;
लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं, तेभ्यो यतिभ्यो नम: ॥1॥
मोह-नींद का भार दूर, होने पर प्रगटा ज्ञान-प्रकाश ।
ज्ञान-दर्शनावरण निशा का, अन्त और विघ्नों का नाश॥
जिस प्रभात में समीचीन वे, दर्श-ज्ञानद्वय नेत्र खुलें ।
उसे प्राप्त कर लिया जिन्होंने, उन यति को हम नमन करें॥
अन्वयार्थ : दोनों नि:शेषावरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण की स्थितिरूप रात्रि के अन्त होने पर, अन्तराय कर्म के क्षय से प्रकाश होने पर और मोहनीय कर्म के द्वारा किए हुए निद्रा के भार से शीघ्र ही दूर होने पर; जिस सुप्रभात में सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शनरूप दोनों नेत्र उन्मीलित (खुले) हुए है, उस अचल सुप्रभात को जिन यतियों ने प्राप्त कर लिया है - उन यतियों को नमस्कार है ।

प्रभातकालीन सूर्य के समान केवलज्ञान

यत्सच्चक्र-सुख-प्रदं यदमलं, ज्ञान-प्रभा-भासुरं;
लोकाऽलोक-पद-प्रकाशन-विधि,-प्रौढ़ं प्रकृष्टं सकृत् ।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव, प्राप्तं परं प्राणिभि:;
त्रैलोक्याऽधिपतेर्जिनस्य सततं, तत्सुप्रभातं स्तुवे ॥2॥
जीवों को जो सुखप्रद निर्मल, ज्ञान-प्रभा से चमक रहा ।
लोकालोक-प्रकाशक उत्कट, एक बार यदि उदित हुआ॥
तो जग के प्राणी सर्वोत्तम, जीवन का अनुभव कर लें ।
हम त्रिभुवन-नायक जिनवर का, सुप्रभात स्तोत्र रचें॥
अन्वयार्थ : तीन लोक के स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान के उस सुप्रभात (केवलज्ञान) को मैं नमस्कार करता हूँ कि जो सुप्रभात समस्त जीवों को सुख देनेवाला है, समस्त प्रकार के मलों से रहित अमल ज्ञान की प्रभा से दैदीप्यमान है, समस्त लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला है, जो अत्यन्त महान है और जिसके एक बार उदित होने पर समस्त प्राणियों को ऐसा लगता है कि हमें उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति हो गई है अर्थात् वे अपना जीवन धन्य समझते हैं ।

समस्त संसार के ताप को दूर करनेवाला केवलज्ञान

एकान्तोद्धत-वादि-कौशिक-शतै:, नष्टं भयादाकुलै:;
जातं यत्र विशुद्ध-खेचर-नुति-,व्याहारकोलाहलम् ।

यत्सद्धर्म-विधि-प्रवर्तन-करं, तत्सुप्रभातं परं;
मन्येऽर्हत्परमेष्ठिनो निरुपमं; संसार-सन्ताप-हृत् ॥3॥
अर्हन्तों का भवताप-नाशक, अनुपम सुप्रभात प्रगटे ।
भयाकुलित एकान्तवाद के, शत-शत उल्लू नष्ट हुए॥
जो विशुद्ध विद्याधर-स्तवन, कोलाहल से गूँज रहा ।
वह महान सुप्रभात परम, सत्धर्म प्रवर्तन नित करता॥
अन्वयार्थ : श्री अर्हन्त भगवान के उपमारहित सुप्रभात के होने पर, एकान्त सिद्धान्त से मत्त सैंकड़ों वादीरूपी कौशिक (बाल उल्लू) भयभीत होकर नष्ट हो जाते हैं - ऐसा यह सुप्रभात अर्थात् अत्यन्त शुद्ध विद्याधरों की स्तुतिरूप शब्दों के कोलाहल से युक्त उत्तम धर्म की प्रवृत्ति करनेवाला तथा समस्त संसार के सन्ताप को दूर करनेवाला है ।

तीन लोक के द्वारा पूजनीय सुप्रभातस्तोत्र

सानन्दं सुर-सुन्दरीभिरभित:, शक्रैर्यदागीयते;
प्रात: प्रातरधीश्वरं यदतुलं, वैतालिकै: पठ्यते ।
यच्चाश्रावि नभश्चरैश्च फणिभि:, कन्याजनाद् गायत:;
तद्वन्दे जिन-सुप्रभातमखिलं, त्रैलोक्य-हर्ष-प्रदम् ॥4॥
सुरपति एवं देव-देवियाँ, आनन्दित हो करें सुगान ।
बन्दीजन भूपति के सन्मुख, प्रात:काल करें गुनगान॥
नाग-सुता गाती मधु स्वर में, सुनते विद्याधर नागेन्द्र ।
ऐसे त्रिभुवन आनन्द-दायक, प्रभु-स्तवन को करूँ नमन॥
जिनेन्द्र भगवान के सुप्रभात का गान, अत्यन्त आनन्दपूर्वक समस्त
अन्वयार्थ : देवांगनाएँ तथा इन्द्र, स्तुतिरूप से गाकर करते हैं; अनुपमेय (उपमारहित) इस सुप्रभात स्तोत्र को बन्दीजन, प्रात:काल राजाओं के सामने पढ़ते हैं तथा नाग-कन्याओं द्वारा गाये हुए इस स्तोत्र को विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनते हैं । इस प्रकार तीनों लोक को हर्ष प्रदान करनेवाले भगवान के सुप्रभात स्तोत्र को मैं शिर नवाकर नमस्कार करता हूँ ।

जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात स्तोत्र सदैव जयवन्त वर्तो

उद्योते सति यत्र नश्यति तरां, लोकेऽघ-चौरोऽचिरं;
दोषेशोऽन्तरतीव यत्र मलिनो, मन्द-प्रभो जायते ।
यत्राऽनीति-तमस्ततेर्विघटनात्, जाता दिशो निर्मला;
वन्द्यं नन्दतु शाश्वतं जिनपते:, तत्सुप्रभातं परम् ॥5॥
जिस मंगल प्रभात से जग के, पाप-चोर का होता अन्त ।
दोष-ईश मन-मोह-चन्द्र की, कान्ति भी होती है मन्द॥
विनशे तिमिर-अनीति अत:, हो जाती सभी दिशाएँ स्वच्छ ।
वन्दनीय परम जिनवर का, सुप्रभात जग में जयवन्त॥
अन्वयार्थ : श्री जिनेन्द्र भगवान के सुप्रभातस्तोत्र का प्रकाश होने पर संसार में पापरूपी चोर सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, मनरूपी चन्द्रमा मलिन मन्दप्रभ (फीका) हो जाता है तथा अनीतिरूपी अन्धकार के सर्वथा नष्ट हो जाने के कारण समस्त दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं - ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उत्कृष्ट, सदैव विद्यमान, वन्दनीक सुप्रभात स्तोत्र इस लोक में जयवन्त प्रवर्तो ।

जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात (केवलज्ञान) अपूर्व महिमा का धारी

मार्गं यत्प्रकटी-करोति हरते - दोषाऽनुषंग-स्थितिं;
लोकानां विदधाति दृष्टिमचिरा,-दर्थावलोक-क्षमाम् ।
कामासक्तधियामपि कृशयति, प्रीतिं प्रियायामिति;
प्रातस्तुल्यतयापि कोऽपि महिमा,-ऽपूर्व: प्रभातोऽर्हताम् ॥6॥
मार्ग प्रगट करता अरु दोष-संग की स्थिति नष्ट करे ।
लोक-दृष्टि को वस्तु-तत्त्व-दर्शन में शीघ्र समर्थ करे॥
कामासक्त पुरुष भी नारी, के प्रति प्रीति करें सु विनष्ट ।
प्रात:काल से भी अपूर्व महिमामय है अर्हन्त-प्रभात॥

अन्वयार्थ : श्री अर्हन्त भगवान का सुप्रभात (केवलज्ञान), मार्ग (मोक्षमार्ग) को प्रगट करता है, समस्त दोषों के संग से (साथ) होनेवाली स्थिति को नष्ट करता है, लोगों की दृष्टि को शीघ्र ही पदार्थों को देखने में समर्थ बनाता है तथा जिन मनुष्यों की बुद्धि, काम में आसक्त है अर्थात् जो पुरुष कामी हैं, उनकी स्त्री-विषयक प्रीति को नष्ट करता है; इसलिए यद्यपि अर्हन्तदेव का सुप्रभात भी प्रात:काल के समान मालूम पड़ता है तो भी यह प्रात:काल से भी अधिक वचन-अगोचर अपूर्व महिमा का धारी है ।

सूर्य से भी अगोचर अन्धकार का नाशक श्री जिनेन्द्र का सुप्रभात

यद्भानोरपि गोचरं न गतवान्, चित्ते स्थितं तत्तमो;
भव्यानां दलयत्तथा कुवलये, कुर्याद्विकाशश्रियम् ।
तेज: सौख्यहतेरकर्तृ यदिदं, नक्तंचराणामपि;
क्षें वो विदधातु जैनमसमं, श्रीसुप्रभातं सदा ॥7॥
रवि-अगम्य जो भव्य चित्त में, व्याप्त-तिमिर का करता नाश ।
सर्व प्राणियों को हर्षित कर, भूमण्डल में करे विकास॥
किन्तु निशाचर जीवों के वह, तेज और सुख करे न नष्ट ।
जन-जन का कल्याण करे यह, जिनवर का अनुपम सुप्रभात॥

अन्वयार्थ : जो सूर्य-गोचर (सूर्य के विषयभूत) नहीं है - ऐसे भव्य जीवों के चित्त में विद्यमान अन्धकार को नष्ट करनेवाला जिनेन्द्रदेव का सुप्रभात, भूण्डल पर अत्यन्त शोभा को धारण करता है तथा रात्रि में गमन करनेवाले जीवों के तेज व सुख का नाश नहीं करता है - ऐसा समीचीन तथा उपमारहित जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात सदैव हमारा कल्याण करे ।

उपसंहार : सुप्रभाताष्टक स्तोत्र पढने का फल

भव्याऽम्भोरुह-नन्दि-केवल-रवि:, प्राप्नोति यत्रोदयं;
दुष्कर्मोदय-निद्रया परिहृतं, जागर्ति सर्वं जगत् ।
नित्यं यै: परि-पठ्यते जिनपतेरेतत्प्रभाताऽष्टकं;
तेषामाशु विनाशमेति दुरितं, धर्म: सुखं वर्धते ॥8॥
भव्य-कमल को विकसित करता, केवल-रवि का जहाँ उदय ।
पापोदय से जनित नींद से मुक्त जगत् के जीव प्रबुद्ध॥
भव्य जीव जो पढ़ें निरन्तर, जिनपति का अष्टक सुप्रभात ।
धर्म और सुख में वृद्धि हो, पापों का भी होता नाश॥
यहाँ श्री जिनेन्द्रदेव के सुप्रभात में, भव्य-कमलों को

अन्वयार्थ : आनन्द देनेवाला केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता है तथा समस्त जगत् खोटे कर्मों से उत्पन्न निद्रा को त्यागकर प्रबोधावस्था को प्राप्त होता है - ऐसे उत्तम सुप्रभाताष्टक को, जो भव्य जीव नित्य पढ़ते हैं, उनके समस्त पापों का नाश होकर धर्मवृद्धि

होती है, सुख की वृद्धि होती है ।

श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए तीन छत्ररूप प्रातिहार्य का वर्णन

(शार्द्रूलविक्रीडित)
त्रैलोक्याऽधिपतित्व-सूचन-परं, लोकेश्वरैरुद्धृतं;
यस्योपर्युपरीन्दु-मण्डल-निभं, छत्र-त्रयं राजते ।
अश्रान्तोद्गत-केवलोज्ज्वल-रुचा, निर्भर्त्सिताऽर्क-प्रभं;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥1॥
जिनके मस्तक पर सुरगण से, आरोपित शशिबिम्ब समान ।
छत्रत्रय शोभित जो घोषित, करते प्रभु! त्रिभुवन के नाथ॥
सदा उदित कैवल्य-कान्ति से, फीकी पड़ती सूर्यप्रभा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : श्री शान्तिनाथ भगवान के मस्तक पर, तीन लोक का स्वामीपना प्रकट करने के लिए देवेन्द्रों द्वारा पूजित तथा चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब-समान तीन छत्र शोभित होते हैं । निरन्तर उदय को प्राप्त केवलज्ञान की निर्मल कान्ति से जिन्होंने सूर्य की प्रभा को भी तिरस्कृत कर दिया है तथा जो समस्त पापों से रहित हैं - ऐसे श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र! सदैव हमारी रक्षा करें ।

दुन्दुभि प्रातिहार्य का वर्णन

देव: सर्वविदेष एव परमो, नाऽन्यस्त्रिलोकी-पति:;
सन्त्यस्यैव समस्त-तत्त्व-विषया, वाच: सतां सम्मता: ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभि:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥2॥
देव यही सर्वज्ञ परम, त्रैलोक्य-पति हैं अन्य नहीं ।
सकल तत्त्व प्रतिपादक वाणी, सज्जन को सम्मत इनकी॥
जग में जिनकी देव-दुन्दुभी, यही घोषणा करे सदा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : देवताओं द्वारा ताड़ित (बजाई हुई) श्री शान्तिनाथ भगवान की दुन्दुभि (नगाड़ा), समस्त संसार में इस बात को प्रकट कर रहा है कि समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाले, उत्कृष्ट और तीन लोक के पति यदि कोई हैं तो वे श्री शान्तिनाथ भगवान ही हैं; किन्तु इनसे भिन्न न कोई समस्त पदार्थों का जाननेवाला है, न उत्कृष्ट है और न तीन लोक का स्वामी है । समस्त तत्त्वों का वर्णन करनेवाले इन्हीं भगवान के वचन, सज्जनों को सम्मत हैं; इनसे भिन्न किसी के वचन सम्मत नहीं हैं - ऐसे समस्त कर्मों से रहित दुन्दुभि प्रातिहार्य से शोभित श्री शान्तिनाथ भगवान, सदैव हमारी रक्षा करें । (इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार है)

सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन

दिव्य-स्त्री-मुख-पंकजैक-मुकर-प्रोल्लासि-नाना-
मणिस्फारीभूत-विचित्र-रश्मि-रचिता,-नम्राऽमरेन्द्रायुधै: ।
सच्चित्रीकृत-वात-वर्त्मनि लसत्, सिंहासने य: स्थित:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥3॥
सुर-वनिताओं के मुखरूपी, दर्पण में मणि चमक रही ।
विविध रंग की किरणों से वे, इन्द्रधनुष रचना करती॥

अद्भुत अनुपम सिंहासन की, नभ में है विचित्र शोभा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥
अन्वयार्थ : स्वर्ग की देवांगनाओं के मुख-कमलरूपी दर्पण से दैदीप्यमान, नाना प्रकार के रत्नों से युक्त तथा इन्द्रधनुष के समान आकाश में चारों ओर फैले हुए रत्न-किरणों से चित्र-विचित्र - ऐसे दैदीप्यमान सिंहासन पर विराजमान, समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान, सदा हमारी रक्षा करें । (इस पद्य में भी उत्प्रेक्षा अलंकार है)

पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन

गन्धाकृष्ट-मधु-व्रत-व्रज-रुतै:, व्यापारिता कुर्वती;
स्तोत्राणीव दिव: सुरै: सुनसां, वृष्टिर्यदग्रेऽभवत् ।
सेवायात-समस्त-विष्टप-पति-,स्तुत्याश्रय-स्पर्धया;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥4॥
प्रभु के सन्मुख नभ में देवों, द्वारा हुई पुष्प-वृष्टि ।
मानो सुरपति द्वारा स्तुति, से ईर्ष्या उत्पन्न हुई॥
अत: गन्ध से आकर्षित, भ्रमरों ने मधु-गुंजार किया ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥
अन्वयार्थ : श्री शान्तिनाथ भगवान के सम्मुख देवों द्वारा आकाश में पुष्पवर्षा करने पर उन पुष्पों की सुगन्ध से आकर्षित होकर, भ्रमरों का समूह भी आकर, गुंजार करने लगता है, उससे ऐसा लगता है, मानो आपकी सेवा में आए हुए समस्त लोक के स्वामी देवेन्द्रादिक की स्तुति से उत्पन्न हुई ईर्ष्या के कारण सुगन्ध से खींचे हुए भ्ररों का समूह भी अपने गुंजार से स्तोत्रों को ही कर रहा हो । इस प्रकार समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ।

भामण्डल प्रातिहार्य का वर्णन

खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके, शुभ्राभ्रलेशावथ;
सूर्याचन्द्रमसाविति प्रगुणितौ, लोकाक्षि-युग्मै: सुरै: ।
तर्क्येते हि यदग्रतोऽतिविशदं, तद्यस्य भामण्डलं;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ सदा ॥5॥
सुरगण अरु मनुजों के नेत्र-युगल में रवि-शशि भासित हों ।
जुगनू जैसे या अग्निकण, या मेघों के टुकड़े हों॥
जिसके सन्मुख कान्तिमान जो, जिनवर का भामण्डल था ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥
अन्वयार्थ : हे शान्तिनाथ भगवान! आपके भामण्डल की प्रभा के आगे देव तथा मनुजों के नेत्र, सूर्य एवं चन्द्रमा को दो खद्योत (जुगनू) के समान अथवा अग्नि के दो स्फुलिंग के समान अथवा सफेद मेघ के दो टुकड़ों के समान मानते हैं - ऐसे भामण्डल प्रातिहार्य से शोभित, समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ।

अशोकवृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन

यस्याऽशोक-तरुर्विनिद्र-सुनो-, गुच्छ-प्रसक्तै: क्वणद्-;
भृंगैर्भक्ति-युत: प्रभोरहरहर्गायन्निवाऽऽस्ते यश: ।
शुभ्रं साऽभिनयो मरुच्चल-लता-,पर्यन्त-पाणि-श्रिया;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥6॥

खिले हुए फूलों पर बैठे, भ्रमर करें निश-दिन गुंजार ।
मानो तरु अशोक भक्ति से, करता हो प्रभु का यशगान॥
हिलती लतारूप हाथों से, मानो वह तरु नाच रहा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : हे शान्तिनाथ भगवान! ऐसा लगता है कि मानो आपके प्रति अत्यन्त भक्तिसहित अशोक वृक्ष ही खिले हुए पुष्प-गुच्छों पर बैठे, गुँजार करते हुए भ्ररों के माध्यम से प्रभु के निर्मल यश का गुनगान कर रहा हो तथा पवन से कम्पित लताओं के अग्र भागरूपी हाथों से वही अशोकवृक्ष, नृत्य करता हुआ जान पड़ता है - ऐसे समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ।

दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन

विस्तीर्णाऽखिल-वस्तु-तत्त्व-कथना,-पार-प्रवाहोज्ज्वला;
नि:शेषाऽर्थि-निषेविताऽतिशिशिरा, शैलादिवोत्तुङ्गत: ।
प्रोद्भूता हि सरस्वती सुरनुता, विश्वं पुनाना यत:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥7॥
अति विस्तीर्ण तत्त्व-प्रतिपादन, से उज्ज्वल शीतल गंगा ।
देवों द्वारा वन्दित एवं, मोक्षार्थी करते सेवा॥
ऊँचे गिरि सम प्रभु से प्रगटी, करें जगत् उद्धार सदा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त विस्तीर्ण, समस्त तत्त्वों के कथनरूपी प्रवाह से उज्ज्वल, जिसकी समस्त अर्थिजन (याचक) सेवा करते हैं, जो अत्यन्त शीतल है, जिसकी समस्त देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जगत् को पवित्र करनेवाली है - ऐसी सरस्वती (गङ्गा) अत्यन्त ऊँचे पर्वत के समान श्री शान्तिनाथ भगवान से प्रकट हुई है; ऐसे समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान सदैव हमारी रक्षा करें ।

चँवर प्रतिहार्य का वर्णन

लीलोद्वेलित-बाहु-कंकण-रणत्कार-प्रहृष्टै: सुरै:;
चञ्चच्चन्द्र-मरीचि-संचय-समाकारैश्चलच्चामरै: ।
नित्यं य: परिवीज्यते त्रिजगतां, नाथस्तथाप्यस्पृह:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥8॥
लीला से कंपित भुज-कंकण, के शब्दों से हर्षित देव ।
उज्ज्वल चन्द्र-किरण सम चञ्चल, चँवर ढोरते अमर सदैव॥
तीन लोक के नाथ प्रभु हैं, किन्तु नहीं किञ्चित् इच्छा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : श्री शान्तिनाथ भगवान के ऊपर, विविध लीलाओं से कम्पित भुजाओं में पहिने हुए कंकण के रणत्कार ध्वनि से हर्षित देव, दैदीप्यमान चन्द्रमा की किरणों के समान रूप को धारण करनेवाले चञ्चल चँवरों को ढोरते हैं तथापि तीन लोक के नाथ अत्यन्त निरीह (समस्त पदार्थों की इच्छा एवं समस्त पापों से रहित) हैं - ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान, सदैव हमारी रक्षा करें; ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को हमारा नमस्कार है ।

श्री शान्तिनाथ स्तोत्र का उपसंहार

नि:शेष-श्रुत-बोध-वृद्ध-मतिभि:, प्राज्यैरुदारैरपि;
स्तोत्रैर्यस्य गुणाऽर्णवस्य हरिभि:, पारो न सम्प्राप्यते ।

भव्याऽम्भोरुह-नन्दि-केवल-रवि:, भक्त्या मयापि स्तुत:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥9॥
सकल शास्त्र के ज्ञाता जिनकी, बुद्धि है अत्यन्त विशाल ।
सुरपति स्तुति करके गुणसागर, का नहिं पावें हैं पार॥
केवलज्ञान-सूर्य भवि-कमलों को नित विकसित करता ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : समस्त शास्त्रों के ज्ञान से जिनकी बुद्धियाँ अत्यन्त विशाल है - ऐसे इन्द्रादि देव अपने उत्कृष्ट तथा बड़े-बड़े स्तोत्रों से जिन श्री शान्तिनाथ भगवान के गुणरूपी समुद्र का पार नहीं पा सकते, उन केवलज्ञानरूपी सूर्य के धारक श्री शान्तिनाथ भगवान की आनन्दित होकर, मुझ भव्यरूपी कमल अर्थात् पद्मनन्दि ने स्तुति की है; इसलिए समस्त पापों से रहित वे श्री शान्तिनाथ भगवान सदैव हमारी रक्षा करें। (इस पद्य में रूपक अलंकार है)

श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए तीन छत्ररूप प्रातिहार्य का वर्णन

(शार्दूलविक्रीडित)
त्रैलोक्याऽधिपतित्व-सूचन-परं, लोकेश्वरैरुद्धृतं;
यस्योपर्युपरीन्दु-मण्डल-निभं, छत्र-त्रयं राजते ।
अश्रान्तोद्गत-केवलोज्ज्वल-रुचा, निर्भर्त्सिताऽर्क-प्रभं;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥1॥
जिनके मस्तक पर सुरगण से, आरोपित शशिबिम्ब समान ।
छत्रत्रय शोभित जो घोषित, करते प्रभु! त्रिभुवन के नाथ॥
सदा उदित कैवल्य-कान्ति से, फीकी पड़ती सूर्यप्रभा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : श्री शान्तिनाथ भगवान के मस्तक पर, तीन लोक का स्वामीपना प्रकट करने के लिए देवेन्द्रों द्वारा पूजित तथा चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब-समान तीन छत्र शोभित होते हैं। निरन्तर उदय को प्राप्त केवलज्ञान की निर्मल कान्ति से जिन्होंने सूर्य की प्रभा को भी तिरस्कृत कर दिया है तथा जो समस्त पापों से रहित हैं - ऐसे श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र! सदैव हमारी रक्षा करें।

दुन्दुभि प्रातिहार्य का वर्णन

देव: सर्वविदेष एव परमो, नाऽन्यस्त्रिलोकी-पति:;
सन्त्यस्यैव समस्त-तत्त्व-विषया, वाच: सतां सम्मता: ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभि:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥2॥
देव यही सर्वज्ञ परम, त्रैलोक्य-पति हैं अन्य नहीं ।
सकल तत्त्व प्रतिपादक वाणी, सज्जन को सम्मत इनकी॥
जग में जिनकी देव-दुन्दुभी, यही घोषणा करे सदा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : देवताओं द्वारा ताड़ित (बजाई हुई) श्री शान्तिनाथ भगवान की दुन्दुभि (नगाड़ा), समस्त संसार में इस बात को प्रकट कर रहा है कि समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाले, उत्कृष्ट और तीन लोक के पति यदि कोई हैं तो वे श्री शान्तिनाथ भगवान ही हैं; किन्तु इनसे भिन्न न कोई समस्त पदार्थों का जाननेवाला है, न उत्कृष्ट है और न तीन लोक का स्वामी है। समस्त तत्त्वों का वर्णन करनेवाले इन्हीं भगवान के वचन, सज्जनों को सम्मत हैं; इनसे भिन्न किसी के वचन सम्मत नहीं हैं - ऐसे समस्त कर्मों से रहित दुन्दुभि प्रातिहार्य से

शोभित श्री शान्तिनाथ भगवान, सदैव हमारी रक्षा करें । (इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार है)

सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन

दिव्य-स्त्री-मुख-पंकजैक-मुकर-प्रोल्लासि-नाना-
मणिस्फारीभूत-विचित्र-रश्मि-रचिता,-नम्राऽमरेन्द्रायुधै: ।
सच्चित्रीकृत-वात-वर्त्मनि लसत्, सिंहासने य: स्थित:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥3॥
सुर-वनिताओं के मुखरूपी, दर्पण में मणि चमक रही ।
विविध रंग की किरणों से वे, इन्द्रधनुष रचना करती॥
अद्भुत अनुपम सिंहासन की, नभ में है विचित्र शोभा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : स्वर्ग की देवांगनाओं के मुख-कमलरूपी दर्पण से दैदीप्यमान, नाना प्रकार के रत्नों से युक्त तथा इन्द्रधनुष के समान आकाश में चारों ओर फैले हुए रत्न-किरणों से चित्र-विचित्र - ऐसे दैदीप्यमान सिंहासन पर विराजमान, समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान, सदा हमारी रक्षा करें । (इस पद्य में भी उत्प्रेक्षा अलंकार है)

पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन

गन्धाकृष्ट-मधु-व्रत-व्रज-रुतै:, व्यापारिता कुर्वती;
स्तोत्राणीव दिव: सुरै: सुनसां, वृष्टिर्यदग्रेऽभवत् ।
सेवायात-समस्त-विष्टप-पति-,स्तुत्याश्रय-स्पर्धया;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥4॥
प्रभु के सन्मुख नभ में देवों, द्वारा हुई पुष्प-वृष्टि ।
मानो सुरपति द्वारा स्तुति, से ईर्ष्या उत्पन्न हुई॥
अत: गन्ध से आकर्षित, भ्रमरों ने मधु-गुंजार किया ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

श्री शान्तिनाथ भगवान के सम्मुख देवों द्वारा आकाश में पुष्पवर्षा करने पर उन पुष्पों की सुगन्ध से आकर्षित होकर, भ्रमरों का समूह भी आकर, गुंजार करने लगता है, उससे ऐसा लगता है, मानो आपकी सेवा में आए हुए समस्त लोक के स्वामी देवेन्द्रादिक की स्तुति से उत्पन्न हुई ईर्ष्या के कारण सुगन्ध से खींचे हुए भ्ररों का समूह भी अपने गुंजार से स्तोत्रों को ही कर रहा हो । इस प्रकार समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ।

भामण्डल प्रातिहार्य का वर्णन

खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके, शुभ्राभ्रलेशावथ;
सूर्याचन्द्रमसाविति प्रगुणितौ, लोकाक्षि-युग्मै: सुरै: ।
तर्क्येते हि यदग्रतोऽतिविशदं, तद्यस्य भामण्डलं;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ सदा ॥5॥
सुरगण अरु मनुजों के नेत्र-युगल में रवि-शशि भासित हों ।
जुगनू जैसे या अग्निकण, या मेघों के टुकड़े हों॥
जिसके सन्मुख कान्तिमान जो, जिनवर का भामण्डल था ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : हे शान्तिनाथ भगवान! आपके भामण्डल की प्रभा के आगे देव तथा मनुजों के नेत्र, सूर्य एवं चन्द्रमा को दो खद्योत (जुगनू) के

समान अथवा अग्नि के दो स्फुलिंग के समान अथवा सफेद मेघ के दो टुकड़ों के समान मानते हैं - ऐसे भामण्डल प्रातिहार्य से शोभित, समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ।

अशोकवृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन

यस्याऽशोक-तरुर्विनिद्र-सुनो-, गुच्छ-प्रसक्तै: क्वणद्-;
भृंगैर्भक्ति-युत: प्रभोरहरहर्गायन्निवाऽऽस्ते यश: ।
शुभ्रं साऽभिनयो मरुच्चल-लता-,पर्यन्त-पाणि-श्रिया;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥6॥
खिले हुए फूलों पर बैठे, भ्रमर करें निश-दिन गुंजार ।
मानो तरु अशोक भक्ति से, करता हो प्रभु का यशगान॥
हिलती लतारूप हाथों से, मानो वह तरु नाच रहा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : हे शान्तिनाथ भगवान! ऐसा लगता है कि मानो आपके प्रति अत्यन्त भक्तिसहित अशोक वृक्ष ही खिले हुए पुष्प-गुच्छों पर बैठे, गुँजार करते हुए भ्ररों के माध्यम से प्रभु के निर्मल यश का गुनगान कर रहा हो तथा पवन से कम्पित लताओं के अग्र भागरूपी हाथों से वही अशोकवृक्ष, नृत्य करता हुआ जान पड़ता है - ऐसे समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ।

दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन

विस्तीर्णाऽखिल-वस्तु-तत्त्व-कथना,-पार-प्रवाहोज्ज्वला;
नि:शेषाऽर्थि-निषेविताऽतिशिशिरा, शैलादिवोत्तुङ्गत: ।
प्रोद्भूता हि सरस्वती सुरनुता, विश्वं पुनाना यत:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥7॥
अति विस्तीर्ण तत्त्व-प्रतिपादन, से उज्ज्वल शीतल गंगा ।
देवों द्वारा वन्दित एवं, मोक्षार्थी करते सेवा॥
ऊँचे गिरि सम प्रभु से प्रगटी, करें जगत् उद्धार सदा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त विस्तीर्ण, समस्त तत्त्वों के कथनरूपी प्रवाह से उज्ज्वल, जिसकी समस्त अर्थिजन (याचक) सेवा करते हैं, जो अत्यन्त शीतल है, जिसकी समस्त देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जगत् को पवित्र करनेवाली है - ऐसी सरस्वती (गङ्गा) अत्यन्त ऊँचे पर्वत के समान श्री शान्तिनाथ भगवान से प्रकट हुई है; ऐसे समस्त पापों से रहित श्री शान्तिनाथ भगवान सदैव हमारी रक्षा करें ।

चँवर प्रतिहार्य का वर्णन

लीलोद्वेलित-बाहु-कंकण-रणत्कार-प्रहृष्टै: सुरै:;
चञ्चच्चन्द्र-मरीचि-संचय-समाकारैश्चलच्चामरै: ।
नित्यं य: परिवीज्यते त्रिजगतां, नाथस्तथाप्यस्पृह:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥8॥
लीला से कंपित भुज-कंकण, के शब्दों से हर्षित देव ।
उज्ज्वल चन्द्र-किरण सम चञ्चल, चँवर ढोरते अमर सदैव॥
तीन लोक के नाथ प्रभु हैं, किन्तु नहीं किञ्चित् इच्छा ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥

अन्वयार्थ : श्री शान्तिनाथ भगवान के ऊपर, विविध लीलाओं से कम्पित भुजाओं में पहिने हुए कंकण के रणत्कार ध्वनि से हर्षित देव, दैदीप्यमान चन्द्रमा की किरणों के समान रूप को धारण करनेवाले चञ्चल चँवरों को ढोरते हैं तथापि तीन लोक के नाथ अत्यन्त निरीह (समस्त पदार्थों की इच्छा एवं समस्त पापों से रहित) हैं - ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान, सदैव हमारी रक्षा करें; ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को हमारा नमस्कार है ।

श्री शान्तिनाथ स्तोत्र का उपसंहार

नि:शेष-श्रुत-बोध-वृद्ध-मतिभि:, प्राज्यैरुदारैरपि;
स्तोत्रैर्यस्य गुणाऽर्णवस्य हरिभि:, पारो न सम्प्राप्यते ।
भव्याऽम्भोरुह-नन्दि-केवल-रवि:, भक्त्या मयापि स्तुत:;
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपति:, श्रीशान्तिनाथ: सदा ॥9॥
सकल शास्त्र के ज्ञाता जिनकी, बुद्धि है अत्यन्त विशाल ।
सुरपति स्तुति करके गुणसागर, का नहिं पावें हैं पार॥
केवलज्ञान-सूर्य भवि-कमलों को नित विकसित करता ।
पापरहित श्री शान्तिनाथ! हम सबकी रक्षा करें सदा॥
अन्वयार्थ : समस्त शास्त्रों के ज्ञान से जिनकी बुद्धियाँ अत्यन्त विशाल है - ऐसे इन्द्रादि देव अपने उत्कृष्ट तथा बड़े-बड़े स्तोत्रों से जिन श्री शान्तिनाथ भगवान के गुणरूपी समुद्र का पार नहीं पा सकते, उन केवलज्ञानरूपी सूर्य के धारक श्री शान्तिनाथ भगवान की आनन्दित होकर, मुझ भव्यरूपी कमल अर्थात् पद्मनन्दि ने स्तुति की है; इसलिए समस्त पापों से रहित वे श्री शान्तिनाथ भगवान सदैव हमारी रक्षा करें । (इस पद्य में रूपक अलंकार है)

मङ्गलाचरण में श्री जिनेन्द्रदेव से मोक्ष-प्राप्ति हेतु प्रार्थना

(आर्या)
त्रिभुवन-गुरो जिनेश्वर! परमानन्दैक-कारण! कुरुष्व ।
मयि किंकरेऽत्र करुणां, यथा तथा जायते मुक्ति: ॥1॥
हे त्रिभुवन गुरु! परमानन्द के, एकमात्र कारण जिनराज ।
मुझ किंकर पर ऐसी करुणा, कीजे मिले मुक्ति साम्राज्य॥
अन्वयार्थ : हे तीन लोक के गुरु! हे कर्मों के जीतनेवाले महात्माओं के स्वामी! हे उत्कृष्ट मोक्षरूप आनन्द को देनेवाले जिनेन्द्र! मुझ दास पर ऐसी दया कीजिए, जिससे कि मुझे मोक्ष प्राप्त हो जाए अर्थात् समस्त पाप कर्मों से मैं सर्वथा छूट जाऊँ ।

अनेक दु:खों से दु:खी मुझ दीन पर दया की प्रार्थना

निर्विण्णोऽहं नितरा-,मर्हन्! बहु-दु:खया भव-स्थित्या ।
अपुनर्भवाय भवहर!, कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥2॥
बहु दु:खदायक भव-स्थिति से, खिन्न सर्वथा मैं अर्हन्त ।
करो दीन पर ऐसी करुणा, पुन: न होवे मेरा जन्म॥
अन्वयार्थ : हे समस्त घाति कर्मों को जीतनेवाले भगवान! अनेक प्रकार के दु:खों को देनेवाली जो यह संसार-स्थिति है, उससे मैं सर्वथा खिन्न हूँ, इसलिए हे संसारनाशक जिनेन्द्र! इस संसार में मुझ दीन पर ऐसी दया कीजिए, जिससे मुझे फिर से जन्म न धारण करना पड़े अर्थात् मैं मुक्त हो जाऊँ ।

संसाररूपी भयंकर कुएँ से मेरा उद्धार करने की प्रार्थना

उद्धर मां पतितमतो, विषमाद्भव-कूपत: कृपां कृत्वा ।

अर्हन्नलमुद्धरणे, त्वमसीति पुन: पुन: वच्मि ॥3॥
मैं संसार-कूप में डूबा, कृपा करो मेरा उद्धार ।
हे प्रभु! इसमें सक्षम तुम ही, विनती करता बारम्बार॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! मैं इस भयंकर संसाररूपी कुएँ में पड़ा हुआ हूँ, इसलिए मुझ पर दया करके इस संसाररूपी भयंकर कुएँ से मुझे बाहर निकालें क्योंकि हे अर्हन्! इस कूप से मुझे निकालने में केवल आप ही समर्थ हैं - ऐसा मैं बार-बार आपकी सेवा में निवेदन करता हूँ ।

दयावान प्रभु से मोहरूपी वैरी से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना

त्वं कारुणिक: स्वामी, त्वमेव शरणं जिनेश! तेनाहम् ।
मोह-रिपु-दलितमान:, पूत्कारं तव पुर: कुर्वे ॥4॥
जग में तुम ही करुणासागर, भव्य जीव को शरणागार ।
मोह-शत्रु से अपमानित मैं, रो-रो करके करूँ पुकार॥
अन्वयार्थ : हे जिनेश! हे प्रभो! यदि संसार में दयावान हैं तो आप ही हैं और भव्य जीवों को एकमात्र शरण आप ही हैं, इसलिए मोहरूपी वैरी ने जिसका मान (अभिमान) नष्ट कर दिया है - ऐसा मैं, आपके सामने ही पूत्कार करता हूँ अर्थात् फफक-फफक कर रोता हूँ ।

हे! तीन भुवन के स्वामी, दु:ख मेटो अन्तर्यामी

ग्राम-पतेरपि करुणा, परेण केनाऽप्युपद्रुते पुंसि ।
जगतां प्रभोर्न किं तव, जिन मयि खलकर्मभि: प्रहते ॥5॥
कोई पीड़ित हो तो उस पर, ग्राम-पति भी करे दया ।
तुम त्रिभुवनपति मैं विधि-पीड़ित, मुझ पर क्यों न करो करुणा॥
अन्वयार्थ : जो मनुष्य, जिस गाँव का अध्यक्ष (मुखिया) होता है, यदि उस गाँव में किसी मनुष्य पर कोई अन्य व्यक्ति आकर उपद्रव करे अर्थात् उसको दु:ख देवे तो उस ग्राम का मुखिया, उस दु:खित मनुष्य पर करुणा करता है; उसी प्रकार हे जिनेन्द्र! आप तो तीन लोक के प्रभु हैं और मुझे अत्यन्त दुष्ट कर्मों ने सता रखा है तो क्या आप मेरे ऊपर करुणा न करोगे?

आपके वचनों से मेरे जन्म-जन्मान्तरों का नाश

अपहर मम जन्म दयां, कृत्वैकत्व-वचसि वक्तव्ये ।
तेनाऽतिदग्ध इति मे, देव! बभूव प्रलापित्वम् ॥6॥
एक बात बस यही कहूँ मैं, नष्ट करो मेरा संसार ।
क्योंकि दु:खी मैं जन्म-मरण से, अत: आपसे करूँ प्रलाप॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! सबको मूलभूत एक ही कथन कहना चाहिए । वह एक कथन यह है कि हे प्रभो! कृपा कर आप मेरे जन्म (संसार) को सर्वथा नष्ट करें क्योंकि मैं इस जन्म से अत्यन्त दु:खी हूँ, इसलिए आपके सामने यह मेरा प्रलाप है अर्थात् मैं विलप-विलप कर रो रहा हूँ ।

हे प्रभु! दयारूपी जल के कारण ही मैं अत्यन्त शीतल

तव जिन! चरणाब्ज-युगं,करुणामृत-सङ्ग-शीतलं यावत् ।
संसाराऽऽतप-तप्त:, करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥7॥
जब तक करुणामृत से शीतल, हे प्रभु! तेरे चरण-कमल ।
भवाताप से तप्त हृदय में, बसे तभी तक सुख अविचल॥
अन्वयार्थ : हे देव! मैं संसाररूपी आतप से सन्तप्त हूँ । जब तक मैं आपके दयारूपी जल से युक्त अत्यन्त शीतल चरण-कमलों को हृदय

में धारण करता हूँ, तब तक ही सुखी हूँ ।

उपसंहार में आचार्य द्वारा दया की प्रार्थना

जगदेकशरण! भगवन्नसम-श्रीपद्मनन्दित-गुणौघ !
किं बहुना कुरु करुणा-,मत्र जने शरणमापन्ने ॥8॥
तुम सम गुण हैं नहीं अन्य में, जिन्हें पद्मनन्दि गाते ।
बहुत कहूँ क्या कृपा करो प्रभु! चरण-शरण में जो आते॥

अन्वयार्थ : हे समस्त जगत् के एक शरणभूत जिनेन्द्र भगवान्! आपके अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं पाए जातेह्न ऐसे श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा गुनगान किये गये गुणसमूह को धारण करनेवाले हे जिनेश! अब, मैं विशेष कहाँ तक कहूँ? बस यही प्रार्थना है कि आपकी शरण में आये हुए जन अर्थात् मुझ पर इस संसार में अवश्य दया करें ।

मङ्गलाचरण में जिनेन्द्र भगवान के गुणों का वर्णन

(शार्दूलविक्रीडित)
सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्त-समता-,शील-क्षमाद्यैर्घनै:;
संकेताऽऽश्रयवज्जिनेश्वर भवान्, सर्वैर्गुणैराऽऽश्रित: ।
मन्ये त्वय्यवकाश-लब्धि-रहितै:, सर्वत्र लोके वयं;
संग्राह्या इति गर्वितै: परिहृतो, दोषैरशेषैरपि ॥1॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणअरु, समता-क्षमा-शील गुणखान ।
किया आपका आश्रय सबने, संकेताश्रय सदन समान॥
जिन्हें मिली नहिं जगह आपमें, जगत् हमारा शरणागार ।
गर्वोन्नत हो सब दोषों ने, किया आपका प्रभु परिहार॥

अन्वयार्थ : हे प्रभो! हे जिनेश! निविड़ (अत्यन्त घने) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, समता, शील और क्षमा आदि समस्त गुणों ने परस्पर संकेत करके आपका आश्रय किया है; इसलिए आप में स्थान को न पाकर, समस्त लोक में 'हम ही संग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) हैं' - ऐसे अभिमान से संयुक्त होकर, समस्त दोषों ने आपको छोड़ दिया है ।

कवित्व के अभिमान में प्रभु के गुणों का वर्णन करना असम्भव

(वसन्ततिलका)
यस्त्वामनन्त-गुणमेकविभुं त्रिलोक्या:,
स्तौति प्रभूत-कविता-गुण-गर्वितात्मा ।
आरोहति द्रु शिर: स नरो नभोऽन्तं,
गन्तुं जिनेन्द्र! मति-विभ्रतो बुधोऽपि ॥2॥
'गुण अनन्तपति का स्तवन मैं करूँ' जिसे कविता का मान ।
मति-भ्रम से वह चढ़े वृक्ष पर, पाने हेतु गगन अवसान॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आप अनन्त गुणों के भण्डार हैं, तीन लोक के स्वामी हैं - ऐसा समझ कर भी प्रचुर काव्य करने के गुण से जिसकी आत्मा गर्वसहित है अर्थात् जो कविता-चातुर्य का बड़ा भारी अभिमानी है - ऐसा कोई मनुष्य, आपकी सम्पूर्ण स्तुति करना चाहे तो समझना चाहिए कि वह बुद्धिमान मनुष्य, अपनी बुद्धि के भ्रम से (मूर्खता से) आकाश के अन्त को प्राप्त करने के लिए वृक्ष की चोटी पर चढ़ता है ।

प्रभु के प्रति भक्ति का प्रदर्शन

शक्नोति कर्तुमिह क: स्तवनं समस्त-,
विद्याऽधिपस्य भवतो विबुधाऽर्चितांङ्घ्रे: ।
तत्राऽपि तज्जिनपते कुरुते जनो यत्,
तच्चित्त-मध्यगत-भक्ति-निवेदनाय ॥3॥
सुर-बुध पूजित विद्यापति की, स्तुति में है कौन समर्थ ?
तो भी जो स्तवन करते हैं, करें मनोगत भक्ति व्यक्त॥

अन्वयार्थ : हे प्रभो! आप समस्त विद्याओं के स्वामी हैं; आपके चरण, बड़े-बड़े देवों अथवा बड़े-बड़े पण्डितों द्वारा पूजित हैं, इसलिए संसार में आपकी स्तुति करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है; तथापि जो लोग आपकी स्तुति करते हैं, वे केवल अपने चित्त में व्याप्त भक्ति का निवेदन करने के लिए ही करते हैं, अन्य किसी कारण से नहीं ।

प्रभु के नाममात्र का स्मरण भी अनेक सिद्धियों का निधान

नामाऽपि देव! भवत: स्मृति-गोचरत्वं,
वाग्गोचरत्वमथ येन सुभक्ति-भाजा ।
नीतं लभेत स नरो निखिलार्थ-सिद्धिं,
साध्वी स्तुतिर्भवतु मां किल कात्र चिन्ता ॥4॥
भक्त आपका सकल सिद्धियाँ, मात्र नाम जप कर पाता ।
तो हम उत्तम स्तुति कर सकते हैं या नहीं - व्यर्थ चिन्ता॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आपका जो भक्त, आपका नाम-स्मरण भी करता है अथवा आपके नाम को वचनों द्वारा कहता है, उस मनुष्य को भी संसार में समस्त प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं; तो आपकी वह स्तुति, उत्तम रीति से हो अथवा न हो - इसकी चिन्ता नहीं है ।

परभव में भी प्रभु के चरणों की सेवा के लिए प्रार्थना

एतावतैव मम पूर्यत एव देव,
सेवां करोमि भवतश्चरणद्वयस्य ।
अत्रैव जन्मनि परत्र च सर्वकालं,
न त्वामित: परमहं जिन! याचयामि ॥5॥
प्रभो! आपके चरण-युगल की, सेवा मुझको मिले सदा ।
उभय जन्म में यही भावना, अन्य न कुछ भी चाह कदा॥

अन्वयार्थ : हे जिनेश! मैं इस भव तथा पर भव में आपके दोनों चरण-कमलों की सदाकाल सेवा करता रहूँ - यही वरदान मुझे प्राप्त हो, इससे अधिक मैं आपसे कुछ भी नहीं माँगता हूँ ।

इस भव में प्रभु-भक्ति ही कल्याणकारी

सर्वागमावगमत: खलु तत्त्वबोधो,
मोक्षाय वृत्तमपि सम्प्रति दुर्घटं न: ।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव,
देवाऽस्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थ् ॥6॥
शास्त्र ज्ञान से तत्त्वबोध अरु, चारित होता किन्तु हमें ।
जड़ता और कुतन से दुर्लभ, अत: भक्ति दे मुक्ति हमें॥

अन्वयार्थ : निश्चय से समस्त प्रकार के शास्त्रज्ञान से तत्त्वों का ज्ञान होता है और उन्हीं शास्त्रों के अभ्यास से मोक्ष हेतु सम्यक्चारित्र की भी प्राप्ति होती है, किन्तु इस पंचम काल में हमारे लिए मूर्खता और दुर्गन्धमय शरीर के कारण, ये दोनों अत्यन्त दुर्घट हैं अर्थात् सहसा प्राप्त नहीं हो सकते, इसलिए आपकी भक्ति मुझे क्रम से मोक्ष देनेवाली हो - ऐसी प्रार्थना है ।

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जिनेन्द्र-भक्ति की प्रार्थना

(मालिनी)
हरति हरतु वृद्धं, वार्धकं कायकान्तिं;
दधति दधतु दूरं, मन्दतामिन्द्रियाणि ।
भवति भवतु दु:खं, जायतां वा विनाश:;
परमिह जिननाथे, भक्तिरेका ममास्तु ॥7॥
घटती हो तो घटे काय की कान्ति, इन्द्रियाँ भी हों मन्द ।
जग में दु:ख हो या विनाश हो, किन्तु भक्ति हो सदा अमन्द॥

अन्वयार्थ : वृद्धावस्था, समस्त शरीर की कान्ति को नष्ट करे तो करे; समस्त इन्द्रियाँ, बहुत काल तक मन्द होती हों तो हों तथा संसार में दु:ख अथवा मेरा विनाश, जो होना हो सो हो; किन्तु जिनेन्द्र भगवान में मेरी भक्ति सदाकाल विद्यमान रहे - ऐसी प्रार्थना है ।

ज्ञानी भक्त को रत्नत्रय की ही इच्छा

(वसन्ततिलका)
अस्तु त्रयं मम सुदर्शनबोधवृत्त-,
सम्बन्धि यान्तु च समस्त-दुरीहितानि ।
याचे न किञ्चिदपरं भगवन्! भवन्तं,
नाप्राप्तमस्ति किमपीह यतस्त्रिलोक्याम् ॥8॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित हो, सकल पाप का होय विनाश ।
अन्य न कुछ भी चाहूँ जिनवर! जग में कुछ नहिं मुझे अप्राप्त॥

अन्वयार्थ : हे प्रभो! इस संसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयी मुझे प्राप्त हो तथा मेरे समस्त पाप नष्ट हो जावें - बस, यही मैं आपसे याचना करता हूँ । इससे भिन्न दूसरी वस्तु मैं नहीं मांगता क्योंकि संसार में इनसे भिन्न ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो मुझे प्राप्त न हुई हो ।

प्रभु-चरणों के प्रसाद से ही अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति

धन्योऽस्मि पुण्यनिलयोऽस्मि निराकुलोऽस्मि,
शातोऽस्मि नष्ट-विपदस्मि विदस्मि देव ।
श्रीमज्जिनेन्द्र! भवतोऽङ्घ्रि-युगं शरण्यं,
प्राप्तोऽस्मि चेदहमतीन्द्रिय-सौख्यकारि ॥9॥
प्रभो! अतीन्द्रिय सुखदायक तव, चरण-कमल हैं प्राप्त मुझे ।
शान्त निराकुल पुण्यवान मैं, धन्य निरापद ज्ञानी हूँ॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! इन्द्रियों से रहित, अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करानेवाले आपके दोनों चरण-कमल, मुझे इस संसार में प्राप्त हो गए; अत: हे देव! मैं धन्य हूँ, पुण्यवान हूँ, समस्त प्रकार की आकुलताओं से रहित शान्त हूँ, ज्ञानी हूँ - ऐसा मैं मानता हूँ ।

रत्नत्रय, तप, धर्म, मूलगुण, उत्तरगुण, गुप्ति आदि का निर्दोष-पालन

रत्नत्रये तपसि पंक्ति-विधे च धर्मे,

मूलोत्तरेषु च गुणेष्वथ गुप्ति-कार्ये ।
दर्पात् प्रमादत उतागसि मे प्रवृत्ते,
मिथ्यास्तु नाथजिनदेव! तव प्रसादात् ॥10॥
रत्नत्रय तप दश धर्मों में, मूलोत्तर गुण गुप्ति में ।
जो अपराध हुए प्रमाद से, तव प्रसाद से मिथ्या हों॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! हे जिनेश! सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में, तप में, दश प्रकार के धर्म में मूलगुण और उत्तरगुण में तथा तीन प्रकार की गुप्ति में जो कुछ अभिमान से अथवा प्रमादवश अपराध लगा हो तो हे जिनदेव! आपके प्रसाद से वह मेरा अपराध सर्वथा मिथ्या हो ।

व्यवहार अहिंसा धर्म का निर्दोष पालन

(उपजाति)
मनोवचोऽङ्गैः कृतमङ्गिपीडनं,
प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया ।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं,
तदस्तु मिथ्या जिन! दुष्कृतं मम ॥11॥
यदि प्रमाद से या गर्वित हो, जीवों को मन-वच-तन से ।
पीड़ा दी हो कृत-कारित-अनुमोदन से वह मिथ्या हो॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! मैंने प्रमाद या अभिमान वश मन-वचन-काय द्वारा जीवों को पीड़ा दी हो, दूसरों से दिलवायी हो अथवा पीड़ा देनेवाले अन्य जीवों को अच्छा कहा हो तो मेरा यह समस्त पाप मिथ्या हो ।

सकल कर्मों के नाश की भावना

(शार्दूलविक्रीडित)
चिन्ता-दुष्परिणाम-सन्ततिवशादुन्मार्ग-गाया गिरः;
कायात्संवृति-वर्जितादनुचितं, कर्माऽर्जितं यन्मया ।
तन्नाशं व्रजतु प्रभो! जिनपते, त्वत्पाद-पद्म-स्मृते-;
रेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं, नास्मिन् समर्था भवेत् ॥12॥
चिन्ता दुष्परिणाम सन्तति, या कुमार्गगत वाणी से ।
संवर विरति तन से अब तक, मुझको जो भी कर्म बँधे॥
तेरे चरणों की स्मृति से, वे सब कर्म नष्ट हों देव !
यह स्मृति तो शिवफलदायी, क्यों न समर्थ बने उसमें॥
अन्वयार्थ : हे प्रभो! हे जिनेन्द्र! चिन्ता से, खोटे परिणामों की सन्तति से, खोटे मार्ग से गमन करनेवाली वाणी से और संवर से रहित शरीर से, जो मैंने नाना प्रकार के कर्मों का उपार्जन किया है; वे समस्त कर्म, आपके चरण-कमलों के स्पर्श से सर्वथा नाश को प्राप्त हों क्योंकि आपके दोनों चरण-कमलों की स्मृति, निश्चय से मोक्षफल को देनेवाली है तो फिर क्या वह पाप कर्मों के नाश करने में समर्थ नहीं होगी?

सर्वज्ञ की वाणी स्याद्वादरूपी उत्कृष्ट दीपक से युक्त

(वसन्ततिलका)
वाणी-प्रमाणमिह सर्व-विदस्त्रिलोकी-,
सद्मन्यसौ प्रवर-दीप-शिखा-समाना ।

स्याद्वादकान्ति-कलिता नृसुराहि-वन्द्या,
कालत्रये प्रकटिताखिल-वस्तु-तत्त्वा ॥13॥
स्याद्वादमय कान्तिमान सुर-नर-वन्दित सर्वज्ञ-वचन ।
त्रिभुवन गृह में दीपशिखा सम, करें तत्त्व का उद्घाटन॥

अन्वयार्थ : सर्वज्ञदेव की वाणी स्याद्वादरूपी कान्ति से संयुक्त है; जिसकी स्तुति, मनुष्य-देव-नागकुमार आदि सब करते हैं । वह स्याद्वाद-वाणी तीन काल के समस्त तत्त्वों को प्रकट करनेवाली है; अत: तीन लोकरूपी घर में उत्कृष्ट दीपशिखा के समान प्रमाणभूत है ।

जिनेन्द्र व शास्त्र-स्तुति में हुई हीनता पूर्व संस्कारवशात्

(पृथ्वी)
क्षमस्व मम वाणि तज्जिनपति-श्रुतादि-स्तुतौ;
यदू नमभवन्मनो-वचन-काय-वैकल्यत: ।
अनेक-भव-सम्भवैर्जडिम-कारणै: कर्मभि:;
कुतोऽत्र किल मादृशे जननि तादृशं पाटवम् ॥14॥
मन-वच-तन में हुई विकलता, जिनपतिश्रुत की स्तुति में ।
मुझ से दोष हुए हों तो हे माता! मुझको क्षमा करें॥
क्योंकि मूढ़ता के कारण जो, पूर्व भवों में कर्म बँधे ।
उनसे स्तुति करने की, चतुराई कैसे आए मुझे॥

अन्वयार्थ : हे सरस्वती माता! मन-वचन-काय की विकलता से जिनेन्द्र भगवान अथवा शास्त्र की स्तुति में मेरे द्वारा कुछ हीनता हुई हो तो वह क्षमा हो क्योंकि स्वयं की जड़ता के कारण अनेक भवों में उत्पन्न जो कर्मादि हैं; उनसे मुझ समान मनुष्य को जिनेन्द्र तथा शास्त्रादि की भली-भाँति स्तुति करने में कहाँ चतुरता आ सकती है? अर्थात् नहीं आ सकती ।

क्रियाकाण्डरूपी वृक्ष में चूलिकारूपी पल्लव अभीष्ट फलदायी

(अनुष्टुभ्)
पल्लवोऽयं क्रियाकाण्ड-कल्प-शाखाऽग्र-संगत: ।
जीयादशेष-भव्यानां प्रार्थिताऽर्थ-फल-प्रद: ॥15॥
क्रियाकाण्डमय कल्पतरु-शाखा में पल्लव यह अधिकार ।
जयवन्तो जो भव्यजनों को, दे अभीष्ट फल मंगलकार॥

अन्वयार्थ : समस्त भव्यजीवों को अभिलषित फल देनेवाले इस क्रियाकाण्डरूपी कल्पवृक्ष की शाखा में लगा हुआ 'क्रियाकाण्ड चूलिका' अधिकार नामक पल्लव, भव्य जीवों को अभीष्ट फलदेने वाला है; इसलिए यह पल्लव, इस लोक में सदा जयवन्त रहो ।

क्रियाकाण्ड चूलिका को तीनों काल पढने से सभी क्रियाएँ पूर्ण

(भुजंगप्रयात)
क्रियाकाण्डसम्बन्धिनी चूलिकेयं,
नरै: पठ्यते यैस्त्रिसन्ध्यं च तेषाम् ।
वपुर्भारती-चित्त-वैकल्यतो या,
न पूर्णा क्रिया सापि पूर्णत्वमेति ॥16॥
क्रियाकाण्ड सम्बन्धी यह चूलिका, पढ़े जो भव्य त्रिकाल ।
विकल मनो-वच-तन से क्रिया अपूर्ण, पूर्ण होती तत्काल॥

अन्वयार्थ : जो भव्य जीव, इस क्रियाकाण्ड सम्बन्धिनी चूलिका को तीनों काल (प्रात:काल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल) नियमित पढ़ता है; उस भव्य जीव के मन-वचन-काय की विकलता के कारण जो क्रिया पूर्ण नहीं हुई है; वह भी शीघ्र ही पूर्ण हो जाती है ।

उपसंहार में संसार की पीड़ा का नाश करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा

(पृथ्वी)

जिनेश्वर! नमोऽस्तु ते, त्रिभुवनैकचूडामणे;
गतोऽस्मि शरणं विभो, भवभिया भवन्तं प्रति ।
तदाहतिकृते बुधैरकथि तत्त्वमेतन्मया;
श्रितं सुदृढचेतसा, भवहरस्त्वमेवात्र यत् ॥17॥
हे त्रिलोक के चूड़ामणि जिनराज! तुम्हें मेरा वन्दन ।
मैं भव से भयभीत हुआ हूँ, अत: आपकी गही शरण॥
बुधजन भाषित तत्त्व जगत् की, भवपीड़ा का करे विनाश ।
सुदृढ़ मन से लिया आश्रय, क्योंकि आपसे ही भवनाश॥

अन्वयार्थ : हे त्रिभुवन के चूड़ामणि जिनेन्द्र भगवान! आपको नमस्कार हो । संसार से भयभीत होकर, मैं आपकी शरण में आया हूँ । विद्वान् लोगों ने संसार की पीड़ा को नाश करने के लिए जो तत्त्व कहा है, उसका मैंने दृढ़ चित्त से आश्रय कर, अपने अन्तरंग में उसे धारण किया है क्योंकि समस्त संसार में आप ही संसार का नाश करनेवाले हो ।

जिनदेव सूर्य के सामने मुझ अपण्डित भक्त की वाचालता भक्ति से प्रेरित

(वसन्ततिलका)

अर्हन् समाश्रित-समस्त-नराऽमरादि-,
भव्याऽब्ज-नन्दि-वचनांशु-रवेस्तवाग्रे ।
मौखर्यमेतदबुधेन मया कृतं यत्,
तद्भूरिभक्ति-रभस-स्थित-मानसेन ॥18॥
आश्रित नर-सुर कमल विकासी, वचन किरण स्वामी जिनसूर्य ।
गाढ़ भक्ति में डूबे मन से, तव सन्मुख मैं हुआ मुखर॥

अन्वयार्थ : हे अर्हन्! यद्यपि आप सभा में बैठे हुए, मनुष्य तथा देवादि समस्त भव्य जीव रूपी कमलों को आनन्द देनेवाले सूर्य के समान वचनरूपी किरणों के स्वामी हो; तथापि आपके सामने मुझ जैसे अपण्डित ने जो वाचालता प्रकट की है, वह अत्यन्त गाढ़ भक्ति में स्थित मन से ही की है ।

मङ्गलाचरण में स्वानुभवगोचर तेज के वर्णन की प्रतिज्ञा

(अनुष्टुभ्)

स्वानुभूत्यैव यद्गम्यं, रम्यं यच्चात्म-वेदिनाम् ।
जल्पे तत्परमं ज्योति-,रवाङ्मानसगोचरम् ॥1॥
स्वानुभव से गम्य है जो, ज्ञानियों को रम्य है ।
मन-वचन से गोचर नहीं, उस तेज का वर्णन करूँ॥

अन्वयार्थ : जो परम तेज स्वानुभव से ही जाना जाता है, आत्मस्वरूप के जाननेवाले पुरुषों के लिए अत्यन्त मनोहर है, जो वचन अगोचर है, मन के विषय से रहित है; उस परम तेज का मैं कुछ वर्णन करता हूँ ।

एकत्वस्वरूपी आत्मा को जानने पर अन्य लोगों द्वारा पूजा-आराधना

एकत्वैक-पद-प्राप्तमात्म-तत्त्वमऽवैति य: ।

आराध्यते स एवाऽन्यै:, तस्याराध्यो न विद्यते ॥2॥

एकत्वमय निज आत्मा को, जानते जो भव्य जन ।

उनकी करें पूजा सभी, उनका न कोई पूज्य है॥

अन्वयार्थ : जो भव्य जीव, एकत्वस्वरूप को प्राप्त आत्मतत्त्व को जानते हैं, उस पुरुष की पूजा-आराधना अन्य सभी लोग भी करते हैं; किन्तु उसका आराध्य कोई नहीं होता अर्थात् वह किसी को नहीं पूजता ।

एकत्वस्वरूप को जानने पर कर्म-बन्धन से निर्भयपना

एकत्वज्ञो बहुभ्योऽपि, कर्मभ्यो न बिभेति स: ।

योगी सुनौगतोऽम्भोधि-,जलेभ्य इव धीरधी: ॥3॥

नाव में बैठा सुधी, डरता न सागर-नीर से ।

एकत्व ज्ञाता भी कभी, डरता न कर्म-समूह से॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार धीर बुद्धि पुरुष, उत्तम नाव में बैठ कर, समुद्र के जल से भय नहीं करते; उसी प्रकार एकत्वस्वरूप को जाननेवाले योगी, कर्मों से अंशमात्र भी भय नहीं करते हैं ।

चैतन्य का ज्ञान होने पर बारम्बार उसी का चिन्तवन

चैतन्यैकत्व-संवित्ति:, दुर्लभा सैव मोक्षदा ।

लब्धा कथं कथञ्चिच्चेत्, चिन्तनीया मुर्हुमुहु: ॥4॥

चैतन्य के एकत्व का, है ज्ञान दुर्लभ मोक्षप्रद ।

हो जाए यदि वह ज्ञान तो फिर, करो उसका ही मनन॥

अन्वयार्थ : चैतन्य के एकत्व का ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु वह ज्ञान ही मोक्ष को देनेवाला है; इसलिए यदि किसी प्रकार उस चैतन्य का ज्ञान हो जाए तो बारम्बार उसका ही चिन्तवन करना चाहिए ।

साक्षात् सुख, मोक्षाभिलाषी द्वारा ही सिद्ध

मोक्ष एव सुखं साक्षात्, तच्च साध्यं मुमुक्षुभि: ।

संसारेऽत्र तु तन्नास्ति, यदस्ति खलु तन्न तत् ॥5॥

साक्षात् सुख है मोक्ष में, शिव-कामियों को साध्य है ।

संसार में सुख है नहीं, जो है उसे वे दु:ख कहें॥

अन्वयार्थ : साक्षात् सुख, मोक्ष में ही है और उस सुख को मोक्षाभिलाषी ही सिद्ध कर सकते हैं । संसार में साक्षात् सुख नहीं है और जो है, वह निश्चय से सुख नहीं, दु:ख ही है ।

संसार के सम्बन्धी हमें प्रिय नहीं

किञ्चित्संसार-सम्बन्धि-,बन्धुरं नेति निश्चयात् ।

गुरूपदेशतोऽस्माकं, नि:श्रेयस-पदं प्रियम् ॥6॥

संसार-सम्बन्धी न कोई, प्रिय हमें परमार्थ से ।

मोक्षपद ही प्रिय हमें, गुरुदेव के उपदेश से॥

अन्वयार्थ : संसार-सम्बन्धी कोई भी वस्तु, निश्चय से हमको प्रिय नहीं है, किन्तु श्रीगुरु के उपदेश से हमको मोक्षपद ही प्रिय है ।

संसार में स्वर्गसुख भी विनाशीक है तो अन्य सुखों की क्या बात?

मोहोदय-विषाक्रान्त-, मपि स्वर्गसुखं चलम् ।

का कथाऽपर-सौख्याना-,मलं भव-सुखेन मे ॥7॥

मोह-विष से व्याप्त दिवि-सुख, भी क्षणिक है जब अरे !

अन्य सुख की क्या कथा? बस! हो जगत् के सुखों से॥

अन्वयार्थ : यदि मोहोदयरूपी विष से व्याप्त स्वर्गसुख भी संसार में विनाशीक है तो स्वर्ग से भिन्न जितने भी सुख हैं, उनकी क्या कथा है? अर्थात् वे तो अवश्य ही विनाशीक हैं; इसलिए मुझे संसार-सम्बन्धी सुख नहीं चाहिए ।

इस भव में आत्मा का लक्ष्य करनेवाले का परभव भी श्रेष्ठ

लक्ष्यीकृत्य सदात्मानं, शुद्ध-बोधमयं मुनि: ।

आस्ते य: सुतिश्चात्र, सोऽप्यमुत्र चरन्नपि ॥8॥

सद्ज्ञानमय निज आत्मा का, लक्ष्य जो बुध मुनि करें ।

परलोक में भी वे निजात्मा, का सदा आश्रय करें॥

अन्वयार्थ : श्रेष्ठ बुद्धि के धारक जो मुनि, इस भव में निर्मल सम्यग्ज्ञानस्वरूप श्रेष्ठ आत्मा का लक्ष्य करते हैं; वे परभव में जाने पर भी आत्मा को ही लक्ष्य करते हैं ।

आत्मस्वरूप में स्थित होकर वीतराग मार्ग पर चलने से मोक्ष प्राप्ति

वीतरागपथे स्वस्थ:, प्रस्थितो मुनिपुङ्गव: ।

तस्य मुक्तिसुख-प्राप्ते:, क: प्रत्यूहो जगत्त्रये ॥9॥

स्वस्थ मुनि जो वीतरागी, मार्ग में करते गमन ।

इनको नहीं त्रय लोक में, शिव-प्राप्ति में कोई विघन॥

अन्वयार्थ : जिन मुनिराजों ने अपने आत्मस्वरूप में स्थित रह कर, वीतरागमार्ग में गमन किया है; उन मुनिराजों को तीन लोक में मोक्ष-प्राप्ति में कोई भी विघ्न नहीं आ सकता है ।

उपसंहार में एकत्व भावना करने पर मोक्षलक्ष्मी का सम्पादन

इत्येकाग्रना नित्यं, भावयन् भावना-पदम् ।

मोक्षलक्ष्मी-कटाक्षालि,-मालापद्मश्च जायते ॥10॥

एकाग्र मन से भावना जो, नित्य शिवपद की करें ।

वे मुक्ति-लक्ष्मी के नयन-, अलिपुञ्ज हेतु पद्म हैं॥

अन्वयार्थ : जो मुनि, एकाग्रचित्त होकर सदा आत्मस्वरूप की भावना करते हैं; वे मुनि, मोक्षरूपी लक्ष्मी के कटाक्षरूपी अलिमाला (भ्रमरसमूह) के लिए कमल के समान होते हैं ।

निर्मल धर्म धारक, चिन्ता तथा मरण से निर्भय

एतज्जन्मफलं धर्म:, स चेदस्ति ममामल: ।

आपद्यपि कुतश्चिन्ता, मृत्योरपि कुतो भयम् ॥11॥

इस जन्म का फल धर्म निर्मल, मम हृदय में यदि बसे ।

तो आपदाओं की कभी, चिन्ता मरण-भय ना रहे॥

अन्वयार्थ : इस मनुष्य भव का फल धर्म है । यदि मुझमें वह निर्मल धर्म मौजूद है तो आपत्ति के आने पर भी मुझे चिन्ता नहीं और मरण

से भी भय नहीं ।

मंगलाचरण में भगवान आत्मा का अद्वैत ही उत्कृष्ट एवं दर्शनीय

(शार्दूलविक्रीडित)

मोह-द्वेष-रति-श्रिता विकृतयो, दृष्टा: श्रुता: सेविता:;

वारम्वारमनन्त-काल-विचरत्, सर्वाङ्गिभि: संसृतौ ।

अद्वैतं पुनराऽऽत्मनो भगवतो, दुर्लक्ष्यमेकं परं;

बीजं मोक्षतरोरिदं विजयते, भव्यात्मभिर्वन्दितम् ॥1॥

काल अनन्त-भ्रमण करते, इस जग के सारे जीवों ने ।

मोह-द्वेष-रागाश्रित विकृति, देखी-सुनी और भोगी॥

पर अखण्ड भगवान आत्मा, का न हुआ अब तक अनुभव ।

भव्यजनों से अभिनन्दित, शिवतरु का बीज सदा जयवन्त॥

अन्वयार्थ : संसार में अनन्त काल से भ्रमण करते हुए प्राणियों ने मोह-राग-द्वेष के आश्रित विकार को अनन्त बार देखा-सुना तथा अनुभव किया है, किन्तु भगवान आत्मा के अद्वैत स्वभाव को एक बार भी न देखा है, न सुना है और न अनुभव ही किया है; इसलिए अत्यन्त कठिन रीति से देखने योग्य एक, उत्कृष्ट, मोक्षरूपी वृक्ष का बीजभूत तथा भव्य जीवों के द्वारा सदा वन्दनीय - ऐसा यह भगवान आत्मा का अद्वैतपना, इस लोक में सदा जयवन्त रहे ।

स्वस्थता ही जन्म-मरण की नाशक एवं शुद्ध चैतन्य से मिलाने वाली

अन्तर्बाह्य-विकल्प-जाल-रहितां, शुद्धैक-चिद्रूपिणीं;

वन्दे तां परमात्मन: प्रणयिनीं, कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।

यत्राऽनन्त-चतुष्टयाऽमृत-सरित्याऽऽत्मानमन्तर्गतम्;

न प्राप्नोति जरादि-दु:सह-शिखो, जन्मोग्र-दावानल: ॥2॥

अन्तर्बाह्य विकल्परहित, चिद्रूप शद्ध कृतकृत्य अहो !

परमात्मा से प्रीति बढ़ाती, स्वानुभूति को वन्दन हो॥

क्योंकि अनन्त चतुष्टय अमृत में डूबे इस चेतन को ।

दु:सह जरा शिखामय जन्मादिक दावानल प्राप्त न हो॥

अन्वयार्थ : जो स्वस्थता, अन्तरंग तथा बहिरंग, दोनों प्रकार के विकल्पों से रहित है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप को धारण करने वाली है, परमात्मा से प्रीति कराने वाली तथा कृतकृत्य है - ऐसी उस स्वस्थता को मैं नमस्कार करता हूँ क्योंकि अनन्त विज्ञानादि चतुष्टयस्वरूप स्वस्थता से युक्त अमृत नदी के मध्य में विद्यमान आत्मा को वृद्धावस्था आदि दुस्सह ज्वालाओं को धारण करने वाली जन्मरूपी भयंकर अग्नि प्राप्त ही नहीं कर सकती ।

एकत्व-स्थिति-पूर्वक शील आदि से युक्त होने पर परम आनन्द

एकत्व-स्थितये मतिर्यदनिशं, संजायते मे तया-;

प्यानन्द: परमात्म-सन्निधि-गत:, किञ्चित्समुन्मीलति ।

किञ्चित्कालमवाप्य सैव सकलै:, शीलैर्गुणैराश्रितां;

तामानन्द-कलांविशाल-विलसद्,बोधां करिष्यत्यसौ ॥3॥

यदि एकत्वस्वभावी आतम में जाए मेरा मतिज्ञान ।

उससे भी परमात्मा जैसा, किञ्चित् हो आनन्द महान॥

यदि वह किञ्चित्काल श्रेष्ठ, शीलादिक गुण धारण करता ।
तो ज्ञानानन्द के विलासमय, कला सुनिश्चित पा लेता॥

अन्वयार्थ : जब-जब मेरी बुद्धि, निरन्तर एकत्व-स्थिति करने के लिए जाती है तो उससे मुझे परमात्मा सम्बन्धी कुछ-कुछ आनन्द उत्पन्न होता है । यदि वही मेरी बुद्धि, कुछ काल तक समस्त शीलादि उत्तम गुणों से सहित होकर रहेगी तो अवश्य ही विशाल तथा दैदीप्यमान ज्ञान की आनन्दकला को प्राप्त हो जाएगी - ऐसा मेरा विश्वास है ।

मित्र आदि से सम्बन्ध भी दु:खदायक

केनाऽप्यस्ति न कार्याश्रितवता, मित्रेण चान्येन वा;
प्रोङ्गेऽपि न मेऽस्ति सम्प्रति सुखी, तिष्ठाम्यहं केवल: ।
संयोगेन यदत्र कष्टमभवत्, संसार-चके्र चिरं;
निर्विण्ण: खलु तेन तेन नितरा-,मेकाकिता रोचते ॥4॥
मुझे न आश्रित मित्रादिक या अन्य किसी से काम नहीं ।
तन से भी अब प्रीति नहीं, मैं अपने में ही रहूँ सुखी॥
इस संसार-चक्र में ही मैं, संयोगों से दु:खी हुआ ।
अब चाहूँ एकान्तवास मैं, पर से रहूँ उदास सदा॥

अन्वयार्थ : मेरे आश्रित जो मित्र हैं, न तो मुझे उनसे और न दूसरों से ही मुझे कुछ भी काम है, अपने शरीर के साथ भी मुझे प्रीति नहीं है । इस समय मैं अकेला ही सुखी हूँ क्योंकि मुझे संसाररूपी चक्र में इष्ट-मित्रादि के संयोग के कारण अनन्त कष्ट हुआ है, अत: मैं निश्चय से उनके प्रति उदासीन हूँ तथा अब, मुझे एकान्त स्थान ही प्रिय लगता है ।

सैकड़ों शास्त्रों का सार - 'जो चैतन्यस्वरूप है, वही मैं हूँ'

यो जानाति स एव पश्यति सदा, चिद्रूपतां न त्यजेत्;
सोऽहं नाऽपरमस्ति किञ्चिदपि मे, तत्त्वं सदेतत्परम् ।
याच्चाऽन्यत्तदशेष-कर्म-जनितं, क्रोधादि-कायादि वा;
श्रुत्वा शास्त्र-शतानि सम्प्रति मन-,स्येतच्छ्रुतं वर्तते ॥5॥
सदा जानता वही देखता, तजे नहीं चैतन्यस्वरूप ।
वह मैं ही हूँ अन्य न किञ्चित्, यह ही तत्त्व परम सत्रूप॥
कर्मजन्य क्रोधादि तथा कायादि सभी हैं मुझसे भिन्न ।
सौ शास्त्रों को सुन कर मेरे, मन में जमा यही सिद्धान्त॥

अन्वयार्थ : जो जानता है, वही सदा देखता है और जो चैतन्यस्वरूप को कभी नहीं छोड़ता है, वह मैं ही हूँ; अन्य पदार्थ मेरे कुछ भी नहीं हैं, यही समीचीन तत्त्व है । क्रोधादि तथा शरीरादि समस्त कर्मोत्पन्न हैं - यही सिद्धान्त, मैने सैकड़ों शास्त्रों को सुन कर मन में स्थित किया है ।

चैतन्यस्वरूप में गुप्त मन वाले मुझसे समस्त परपदार्थ भिन्न

हीनं संहननं परीषह-सहं, नाऽभूदिदं साम्प्रतं;
काले दु:खमसंज्ञकेऽत्र यदपि, प्रायो न तीव्रं तप: ।
कश्चिन्नातिशयस्तथापि यदसा-,वार्तं हि दुष्कर्मणा-;
मन्त:शुद्धचिदात्म-गुप्तमनस:, सर्वं परं तेन किम् ॥6॥
काल दु:खम हीन संहनन, परिषह-सहन नहीं होता ।

और आजकल प्राय: हमसे, तप भी तीव्र नहीं होता॥
कोई भी अतिशय नहिं होता, कर्मों से मैं दु:खी सदा ।
शुद्ध चिदातम गुप्त मुझे अब, पर से रहा प्रयोजन क्या ?

अन्वयार्थ : जिसका नाम दु:खमा है - ऐसे पंचम काल में संहनन हीन होता है; इसलिए इस समय वह संहनन, परीषहों को सहने वाला भी नहीं होता है और प्राय: करके तीव्र तप भी नहीं हो सकता है । इस काल में किसी प्रकार का अतिशय नहीं होने से भी मैं दुष्कर्मों से पीड़ित हूँ, इसलिए अन्तरंग शुद्ध चैतन्यस्वरूप में गुप्त मन के धारी मुझसे समस्त पदार्थ पर हैं, अत: मुझे परपदार्थों से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

विकार का हेतु दो पदार्थों का संयोग, लेकिन मैं तो केवल आत्मा

सद्-दृग्बोध-मयं विहाय परमानन्द-स्वरूपं परं;
ज्योतिर्नान्यदहं विचित्र-विलसत्, कर्मैकतायामपि ।
कार्ष्ण्ये कृष्णपदार्थ-सन्निधिवशात्, जाते मणौ स्फाटिके;
यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो, लोके विकारो भवेत् ॥7॥
विविध कर्म से बद्ध किन्तु मैं, सद्-ज्ञान-दर्शन नहिं तजूँ ।
परमानन्द चैतन्य-ज्योति से भिन्न आत्मा नहिं लखूँ॥
स्फटिक मणि में कृष्ण वस्तु के, संग में कालापन दिखता ।
किन्तु भिन्न वह स्फटिक मणि है, द्वयकृत ही विकार होता॥

अन्वयार्थ : नाना प्रकार के विद्यमान कर्मों की एकता होने पर भी मैं सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानस्वरूप, परमानन्द तथा उत्कृष्ट तेज के धारी आत्मा को छोड़ कर भिन्न नहीं हूँ अर्थात् आत्मस्वरूप ही मैं हूँ क्योंकि कृष्ण (काला) पदार्थ के सम्बन्ध से स्फटिक मणि के कृष्ण वर्णमय होने पर भी वह कृष्णता, उस स्फटिकमणि से भिन्न ही है । संसार में जो विकार उत्पन्न होता है, वह दो पदार्थों द्वारा किया हुआ ही होता है ।

यति का दूसरे पदार्थों के साथ संयोग होना ही आपत्ति

आपत्साऽपि यते: परेण सह य:, सङ्गो भवेत्केनचित्;
सापत्सुष्ठु गरीयसी पुनरहो, य: श्रीमतां सङ्गम: ।
यस्तु श्रीमदमद्यपान-विकलै-,रुत्तानिताऽस्यैर्नृपै:;
सम्पर्क: स मुमुक्षु-चेतसि सदा, मृत्योरपि क्लेशकृत् ॥8॥
यदि यति का हो संग अन्य से, तो मानें आपत्ति है ।
श्रीमन्तों का संगम हो तो, यह भी महाविपत्ति है॥
यदि लक्ष्मी की मद-मदिरा से, गर्वित गहल नृपति का संग ।
हो जाए तो मुमुक्षु मुनि को, मरणतुल्य दु:खदायक संग॥

अन्वयार्थ : यति पुरुष का किसी अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्धित होना, यह एक प्रकार की आपत्ति है, फिर यदि उनका श्रीमन्तों के साथ सङ्गम हो जाए तो यह बड़ी भारी आपत्ति है तथा जो पुरुष लक्ष्मी के मदरूपी मदिरा से मत्त हो रहे हैं और जिनका मुख ऊपर को है - ऐसे राजाओं के साथ सम्बन्ध हो जाए तो यह सम्बन्ध, मोक्षाभिलाषी के चित्त में मरण से भी अधिक दु:ख देने वाला है ।

मन में प्रकाशमान सदैव आनन्द देने वाले श्रीगुरु के वचन

स्निग्धा मा मुनयो भवन्तु गृहिणो, यच्छन्तु मा भोजनं;
मा किञ्चिद्धनमस्तु मा वपुरिदं, रुग्वर्जितं जायताम् ।

नग्नं मामऽवलोक्य निन्दतु जन:, तत्राऽपि खेदो न मे;
नित्यानन्द-पद-प्रदं गुरु-वचो, जागर्ति चेच्चेतसि ॥9॥
यदि आनन्द-प्रदायक गुरु-वचनों से चित्त प्रकाशित है ।
तो मुनि मुझसे प्रीति करें नहिं, या गृहस्थ नहिं भोजन दें॥
मेरे पास न किञ्चित् धन हो, या तन नहीं नीरोग रहे ।
नग्न देख निन्दा हो तो भी, मन में किञ्चित् खेद न हो॥
अन्वयार्थ : सदा आनन्द को देने वाला - ऐसा श्रीगुरु का वचन, यदि मेरे चित्त में प्रकाशमान है तो यदि मुनिगण, मुझ पर प्रीति न करें, गृहस्थ लोग मुझे भोजन न दें, मेरे पास कुछ भी धन भले ही न रहे, मेरा शरीर रोग से युक्त रहे और लोग, मुझे नग्न देख कर, मेरी निन्दा भी करें तो मुझे किसी प्रकार का खेद नहीं है ।

गुरु प्रकाशित मार्ग में गमन करने से निर्वाण की प्राप्ति

दु:ख-व्याल-समाकुले भव-वने, हिंसादि-दोष-द्रुमे;
नित्यं दुर्गति-पल्लि-पाति-कुपथे, भ्राम्यन्ति सर्वेऽङ्गिन: ।
तन्मध्ये सुगुरु-प्रकाशित-पथे, प्रारब्धयानो जन:;
यात्यानन्दकरं परं स्थिरतरं, निर्वाणमेकं पदम् ॥10॥
भव-वन नाना दु:ख-सर्प, एवं हिंसादिक-तरु से व्याप्त ।
इसमें भ्रमते जीव सभी सदा, दुर्गति-भील बस्ती से युक्त॥
उसमें सुगुरु प्रकाशित पथ पर, भव्य जीव जो गमन करें ।
वे नर शाश्वत सुखप्रद निश्चल, शिवपद निश्चित प्राप्त करें॥
अन्वयार्थ : संसाररूपी वन, नाना प्रकार के दु:खरूपी हाथी-अजगर इत्यादि से व्याप्त है; जिसमें हिंसा, असत्य, चोरी आदि दोषरूपी वृक्ष मौजूद हैं । यह संसाररूपी वन, दुर्गतिरूपी भीलों से सहित खोटे मार्ग से युक्त है, जिसमें अनेक जीव भ्रमण कर रहे हैं; किन्तु उसी संसाररूपी वन में उत्तम गुरुओं द्वारा प्रकाशित मार्ग पर जो मनुष्य, गमन करते हैं, वे मनुष्य, उत्तम आनन्द को देनेवाले, उत्कृष्ट, निश्चल और अनुपम निर्वाणस्थान को प्राप्त होते हैं ।

'मैं सुखी हूँ या दु:खी हूँ' - ऐसे विकल्पों से रहित योगीश्वर

यत्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्, तत्कर्म-कार्यं तत:;
तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं, जानन्ति ये योगिन: ।
ईदृग्भेद-विभावनाश्रित-धियां, तेषां कुतोऽहं सुखी;
दु:खी चेति विकल्प-कल्मष-कला, कुर्यात्पदं चेतसि ॥11॥
जीवों को जो सुख-दु:ख होते, वे सब कर्मोदय से हैं ।
कर्म भिन्न हैं शुद्धातम से-ऐसा जो योगी जानें॥
भेदज्ञान धारामय मति से, सुखी-दु:खी कैसे होवें ?
उनके चित् को यह विकल्प, किञ्चित् भी कैसे मलिन करें ?
अन्वयार्थ : जीव में होने वाले सुख-दु:ख, सभी कर्मों के कार्य हैं; इसलिए वे सब कर्म ही हैं और वे कर्म, आत्मा से भिन्न हैं - इस बात को जो योगीश्वर जानते हैं अर्थात् इस प्रकार की भेदभावना भाने वाले योगीश्वरों के मन में 'मैं सुखी हूँ या मैं दु:खी हूँ' - इस प्रकार के विकल्प-सम्बन्धी जरा-सी भी मलिनता स्थान को प्राप्त नहीं करती ।

व्यवहार में देव-शास्त्र गुरु, निश्चय में केवल आत्मा

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं, शास्त्रादि मन्यामहे;
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृते, मार्गे स्थिता निश्चयात् ।
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो, व्यक्तीभवच्चिद्गुण-;
स्फारीभूत-मति-प्रबन्ध-महसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥12॥
जब तक हम व्यवहार मार्ग में, तब तक भक्ति-परायण हैं ।
जिनवर जिनप्रतिमा जिनगुरु जिनशास्त्रों का श्रद्धान करें॥
लेकिन निश्चयनय से केवल, चिन्मयगुण धारक जो तेज ।
वह आत्मा ही मुझको तो, परमतत्त्व है अन्य नहीं॥
अन्वयार्थ : जब तक हम व्यवहार मार्ग में स्थित हैं, तभी तक हम भक्ति में तत्पर होकर देव, देव-प्रतिमा, गुरुओं, मुनिजनों तथा शास्त्रादि को मानते हैं । निश्चयनय से तो एकत्व के आश्रय से प्रगट होनेवाले चैतन्यरूपी गुण से प्रगल्भ बुद्धि सम्बन्धी तेज का धारी हमारा केवल एक आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व है; इससे भिन्न अन्य कोई तत्त्व ही नहीं है ।

मुझे कोई कैसा भी कष्ट दे, किन्तु मुझे कोई भय नहीं

वर्षं हर्ष पाकरोतु तुदतु, स्फीता हिमानी तनुं;
घर्म: शर्महरोऽस्तु दंशमशकं, क्लेशाय सम्पद्यताम् ।
अन्यैर्वा बहुभि: परीषहभटैरारभ्यतां मे मृति:;
मोक्षं प्रत्युपदेश-निश्चल-मतेर्नात्रापि किञ्चिद् भयम् ॥13॥
अतिवर्षा से चैन नष्ट हो, या तुषार दे तन-पीड़ा ।
सूर्य-ताप भी नष्ट करे सुख, मच्छर-डाँस करें पीड़ा॥
अथवा अन्य परीषह-भट से, मरण प्राप्त भी हो मुझको ।
मोक्षमार्ग में निश्चल बुद्धि , अत: न कुछ भी भय मुझको॥
अन्वयार्थ : चाहे मेरे आनन्द को वर्षा नष्ट करे, चाहे बर्फ का समूह मेरे शरीर को पीड़ा दे, चाहे सूर्य का आतप मेरे कल्याण का नाश करे, चाहे डाँस-मच्छर मुझे दु:ख देवें अथवा अन्य शेष बचे हुए परीषहरूपी सुभटों से भले ही मेरा मरण हो जाए तो भी मुझे किसी से कुछ भी भय नहीं है क्योंकि मेरी बुद्धि, मोक्ष के प्रति उपदेश से निश्चल है ।

सर्व शक्तिमान का विचार - जो कुछ होना है, वह तो होगा ही

चक्षुमुर्ख्य-हृषीक-कर्षक-मयो, ग्रामो मृतो मन्यते;
चेद्रूपादि-कृषि-क्षमां बलवता, बोधारिणा त्याजित: ।
तच्चिन्तां न च सोऽपि सम्प्रति करोत्यात्मा प्रभु: शक्तिमान्;
यत्किञ्चिद्भविताऽत्र तेन च भवोऽप्यालोक्यते नष्टवत् ॥14॥
नेत्रप्रधान इन्द्रिय-कृषक-ग्राम भी यदि नष्ट हो ।
रूप-रसादिक विषयों की कृषि-भूमि से भी रहित हो॥
तो भी शक्तिमान प्रभु चेतन! उनकी चिन्ता नहीं करे ।
होनहार ही जग में होती, वह जग को नश्वर समझे॥
अन्वयार्थ : आत्मा, सर्व शक्तिशाली प्रभु है । वह सम्यग्ज्ञान के वैरी ज्ञानावरण कर्म के द्वारा नेत्रप्रधान इन्द्रियरूपी किसानों से बने हुए ग्राम को मरा हुआ मानता है तथा उन इन्द्रियरूपी किसानों को रूपादि खेती की जमीन से रहित भी मानता है तथा उन इन्द्रिय एवं इन्द्रिय-विषयों की वह आत्मा कुछ भी चिन्ता नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि जो कुछ होने वाला है, वह होगा, इसलिए वह समस्त जगत् को सर्वथा नष्ट-सा ही समझता है ।

संयमी संसार में रहता हुआ भी जल से भिन्न कमल

कर्म-क्षत्युपशान्ति-कारणवशात्, सद्देशनाया गुरो-;
रात्मैकत्व-विशुद्ध-बोध-निलयो, नि:शेष-संगोज्झित: ।
शश्वत्तद्गत-भावनाश्रितमना, लोके वसन् संयमी;
नावद्येन स लिप्यतेऽब्ज-दलवत्, तोयेन पद्माकरे ॥15॥
कर्मों के उपशम या क्षय से, अथवा गुरु-वचनामृत से ।
निर्मल आत्मज्ञान का धारी, विरक्त समस्त परिग्रह से॥
आत्मभावनारत योगी यदि, किञ्चित् काल जगवास करे ।
तो भी जल में पद्म-पत्र सम, वह अलिप्त सब पापों से॥

अन्वयार्थ : जो समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित है, जिसका मन निरन्तर आत्मभावना से सहित है, कर्मों के क्षय या उपशम से अथवा गुरु के उत्तम उपदेश से जो आत्मा के एकत्व को प्राप्त करके निर्मल ज्ञान का स्थान है - ऐसा वह संयमी, संसार में रहता हुआ भी जिस प्रकार सरोवर में कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार अंशमात्र भी पापों से लिप्त नहीं होता ।

निर्ग्रन्थता से उत्पन्न आनन्द के सामने इन्द्रियसुख दु:खरूप

गुर्वंघ्रि-द्वय-दत्त-मुक्ति-पदवी-, प्राप्त्यर्थनिर्ग्रन्थता-;
जातानन्द-वशान्ममेन्द्रिय-सुखं, दु:खं मनो मन्यते ।
सुस्वादु: प्रतिभासते किल खल:, तावत्समासादितो;
यावन्नो सित-शर्करातिमधुरा, सन्तर्पिणी लभ्यते ॥16॥
गुरु-चरणों से शिवपद हेतु, प्राप्त हुई निर्ग्रन्थदशा ।
उससे जो आनन्द हुआ तो, इन्द्रिय-सुख भासे दु:खदा॥
जब तक स्वच्छ मधुर मिश्री का, स्वाद नहीं मिलता जन को ।
तब तक खलि ही अज्ञानी को, मधुर इष्टतम भासित हो॥

अन्वयार्थ : श्रीगुरु के दोनों चरणों से प्रदान की हुई मोक्ष-पदवी की प्राप्ति के लिए निर्ग्रन्थता से उत्पन्न आनन्द के कारण मेरा मन इन्द्रियजनित सुख को 'दु:ख ही है' - ऐसा मानता है, वह ठीक ही है क्योंकि जब तक स्वच्छ, अत्यन्त मधुर और तृप्ति करने वाली शर्करा (शक्कर) की प्राप्ति नहीं होती, तब तक ही खल अत्यन्त मिष्ट मालूम पड़ती है ।

अग्नि से निकल शीतल कुएँ को प्राप्त मनुष्य, क्या पुन: अग्निप्रवेश करेगा?

निर्ग्रन्थत्व-मुदा ममोज्ज्वलतर-, ध्यानाश्रित-स्फीतया;
दुर्ध्यानाक्ष-सुखं पुन: स्मृतिपथ-, प्रस्थाप्यपि स्यात्कृत: ।
निर्गत्योद्गत-वात-बोधित-शिखि-,ज्वाला-करालाद् गृहाच्छ
ीतां प्राप्य च वापिकां विशति क:, तत्रैव धीमान्नर: ॥17॥
निर्मल ध्यानमयी निर्ग्रन्थ-दशा में जब आनन्द हुआ ।
तो कुध्यानमयी इन्द्रियसुख, सुमिरन कैसे हो सकता ?
पवन-प्रताड़ित दावानल से, जलते हुए सदन को छोड़ ।
शीतल वापी में जाकर फिर, पुन: अग्नि में जाए कौन ?

अन्वयार्थ : हे प्रभु! अत्यन्त निर्मल ध्यान के आश्रय से वृद्धिंगत निर्ग्रन्थता से उत्पन्न आनन्द यदि मुझमें विद्यमान है तो मुझे विपरीत ध्यान से उत्पन्न इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का कैसे स्मरण हो सकता है? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा, जो प्रवाहित पवन से जाज्ज्वल्य-मान अग्नि की भयंकर ज्वाला से जलते हुए घर से निकल कर, शीतल कुएँ को पाकर, पुन: उसी भयंकर अग्निगृह में प्रवेश करेगा?

मोह से मोक्ष में की गई अभिलाषा भी मोक्ष-नाशिनी

जायेतोद्गत-मोहतोऽभिलषिता, मोक्षेऽपि सा सिद्धिहृत्;
तद्भूतार्थ-परिग्रहो भवति किं, क्वापि स्पृहार्लुनि: ।
इत्यालोचन-संगतैक-मनसा, शुद्धात्म-सम्बन्धिना;
तत्त्वज्ञान-परायणेन सततं, स्थातव्यमग्राहिणा ॥18॥
मोहजन्य मोक्षाभिलाष भी, शिव-रमणी को रुष्ट करे ।
अत: शुद्धनयाश्रित बुधजन, कोई इच्छा नहीं करें॥
तत्त्वज्ञान पारायण हैं जो, आलोचना सहित मुनिराज ।
शुद्धातम में लीन रहें अरु, तजें परिग्रह सभी प्रकार॥

अन्वयार्थ : अन्तरंग में उत्पन्न मोह से मोक्ष की इच्छा करें तो वह इच्छा भी स्वयं मोक्ष का नाश करने वाली होती है; अत: शुद्धनिश्चयनय का आश्रय करने वाला जीव, किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता है, किन्तु जिन मुनि का मन आलोचना से सहित है, जो शुद्ध आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले हैं और तत्त्वों के ज्ञान में दत्त-चित्त हैं; उन मुनिराजों को सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित रहना चाहिए ।

जब निज आतम अनुभव आवै, तब और कछु न सुहावै

जायन्ते विरसा रसा विघटते, गोष्ठी-कथा-कौतुकं;
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति, प्रीति: शरीरेऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्म-शुद्धात्मन:;
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं, दोर्षैन: पञ्चताम् ॥19॥
सारे रस नीरस हो जाते, गोष्ठी-कथा-कुतूहल नष्ट ।
विष-सम विषय-विकार और, तन से भी होती प्रीति विनष्ट॥
मन के सारे दोष नष्ट हों, वाणी का भी रुके विलास ।
नित्यानन्द स्वरूप आत्म में, जब होती अनुभूति सुवास॥

अन्वयार्थ : आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का चिन्तवन होने पर समस्त रस नीरस हो जाते हैं, गोष्ठी में कथा-कौतूहल नष्ट हो जाता है, समस्त विषय नष्ट हो जाते हैं, शरीर में अंशमात्र भी प्रीति नहीं रहती और वाणी भी जोष को धारण कर लेती है अर्थात् उसे मौन का अवलम्बन करना पड़ता है तथा समस्त दोषों के साथ मन भी नष्ट हो जाता है । (इसी श्लोक के आधार पर आध्यात्मिक कविवर श्री भागचन्दजी ने 'जब निज आतम अनुभव आवै, तब और कछु न सुहावै.... ' की टेक वाला भजन बनाया है ।)

उपसंहार में ग्रन्थकार द्वारा अवाच्य तत्त्व की प्राप्ति हेतु मौन-धारण

तत्त्वं वागतिवर्ति शुद्धनयतो, यत्सर्व-पक्ष-च्युतं;
तद्वाच्यं व्यवहार-मार्ग-पतितं, शिष्यार्पणे जायते ।
प्रागल्भ्यं न तथापि तत्र विवृतौ, बोधो न तादृग्विध:;
तेनाऽयं ननु मादृशो जडमति:, मौनाश्रितस्तिष्ठति ॥20॥
निश्चय से यह वचन-अगोचर तत्त्व सदा नयपक्ष-विहीन ।
शिष्यों को सम्बोधन हेतु, नय-व्यवहार कहे कथनीय॥
किन्तु नहीं परिपक्व और, कहने लायक नहिं मुझमें ज्ञान ।
इसीलिए मुझ जैसा जड़मति, धारण कर लेता है मौन॥

अन्वयार्थ : शुद्धनिश्चयनय से तत्त्व वचन के अगोचर है तथा समस्त प्रकार के पक्षों (अपेक्षाओं) से रहित है । व्यवहारमार्ग में आया हुआ तत्त्व, शिष्यों के बोध के लिए वाच्य (वचन के द्वारा कहने योग्य) होता है तो भी ग्रन्थकार कहते हैं कि उस तत्त्व के व्याख्यान को करने की

मुझमें भलीभाँति प्रौढ़ता भी नहीं है और उसके वर्णन करने योग्य ज्ञान भी नहीं है; अत: मेरे समान जड़बुद्धि पुरुष, मौन को ही धारण करता है ।

प्रारम्भ में मूर्ख जीव की अपवित्र शरीर के साथ प्रीति पर आश्चर्य

(शार्दूलविक्रीडित)

दुर्गन्धाऽशुचि-धातु-भित्ति-कलितं, संछादितं चर्मणा;
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादि-विलसद्, दु:खाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं काय-कुटीरकं स्वयमपि, प्राप्तं जरा-वह्निना;
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचि-तरं, मूढो जनो मन्यते ॥1॥
चर्म ढकी अरु दुर्गन्धित है, मलिन धातुरूपी दीवार ।
मल-मूत्रादिक पिण्ड क्षुधादिक, दु:खमूषक करते कुप्रहार॥
क्लेशरूप यह काय-कुटी है, जरारूप अग्नि से व्याप्त ।
तो भी शाश्वत शुचि अनुभवते, मूढ़जीव यह अति आश्चर्य॥

अन्वयार्थ : यद्यपि यह शरीररूपी घर, दुर्गन्ध तथा अपवित्र वीर्यादि धातुरूपी भित्तियों से बना, चाम (चमड़े) से ढका और मूत्र-विष्टा आदि से भरा हुआ है; अत्यन्त बलवान् क्षुधा-तृषा आदि दु:खरूपी चूहों ने इसमें छेद कर रखे हैं, यह अत्यन्त क्लिष्ट है तथा इसके चारों ओर जरा (बुढ़ापा) रूपी अग्नि विद्यमान है; तथापि मूर्ख जीव इसे स्थिर एवं अत्यन्त पवित्र मानता है - यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

रोगों के घर निकृष्ट शरीर के साथ प्रीति करने पर आश्चर्य

दुर्गन्धं कृमि-कीट-जाल-कलितं, नित्यं स्रवद्-दूरसं;
शौच-स्नान-विधान-वारि-विहित-, प्रक्षालनं रुग्भृतम् ।
मानुष्यं वपुराहुरुन्नत-धियो, नाडी-व्रणं भेषजं;
तत्राऽन्नं वसनानि पट्टकमहो, तत्राऽपि रागी जन: ॥2॥
रक्त-पीप नित बहें और दुर्गन्धित कृमि-कीटों से व्याप्त ।
शुचि जल से धोते हैं इसको, किन्तु रहे रोगों से व्याप्त॥
बुद्धिमान् तो इस नरतन को कहते हैं नाड़ी-व्रण-घाव ।
अन्न-औषधि वस्त्र-पट्टी सम, किन्तु मूढ़जन करते राग॥

अन्वयार्थ : अत्यन्त दुर्गन्धमय लट एवं कीड़ों के समूह से व्याप्त, जिसमें निरन्तर रक्त, पीव आदि बह रहे हैं, जिसका प्रक्षालन पवित्र जल से किया जाता है, फिर भी जो नाना प्रकार के रोगों से व्याप्त है - ऐसे मनुष्य के शरीर को उच्च बुद्धि के धारक मनुष्य, नाड़ी-व्रण (घाव या फोड़ा) कहते हैं । जिसके निराकरण के लिए अन्नरूपी औषधि प्रदान की जाती है और वस्त्ररूपी पट्टी बाँधी जाती है तो भी आश्चर्य है कि ऐसे निकृष्ट शरीर में भी जीव, राग करता है ।

स्नान तथा चन्दनादि के लेप से शरीर को पवित्र करना वृथा

(वंशस्थ)

नृणामशेषाणि सदैव सर्वथा, वपूंषि सर्वाऽशुचिभांजि निश्चितम् ।
तत: क एतेषु बुध: प्रपद्यते, शुचित्वमम्बुप्लुति-चन्दनादिभि:॥3॥
सबके तन हैं मलिन सर्वथा, सदा सुनिश्चित भली प्रकार ।
स्नानादिक से शुचि करने का, कौन सुबुध फिर करे विचार ?

अन्वयार्थ : समस्त मनुष्यों के शरीर, सदा काल सब प्रकार से अपवित्र ही हैं - ऐसा भलीभाँति निश्चित है, इसलिए संसार में कौन ऐसा

बुद्धिमान् पुरुष होगा, जो इस शरीर को स्नान तथा चन्दनादि से पवित्र करने का प्रयत्न करेगा?

(शार्दूलविक्रीडित)

तिक्तेष्वाकु-फलोपमं वपुरिदं, नैवोपभोग्यं नृणां;
स्याच्चेन्मोह-कुजन्म-रन्ध्र-रहितं, शुष्कं तपो-घर्मत: ।
नाऽन्तर्गौरवितं तदा भव-नदी-, तीरे क्षमं जायते;
तत्तत्त्र नियोजितं वरमथा-, सारं सदा सर्वथा ॥4॥
कड़वी तुम्बी सम यह नरतन, किसी तरह उपभोग्य नहीं ।
यदि यह सूखे तप्त धूप में, मोह-जन्म के छिद्र नहीं॥
अन्तर में अभिमान न होवे, तो हो सकता भव-दधि-पार ।
अत: करो तप इसको पाकर, इसके बिन सबकुछ निस्सार॥
अन्वयार्थ : मनुष्य का शरीर, कड़वी तुम्बी के समान होने से सर्वथा उपभोग करने योग्य नहीं है । हाँ, यदि यह शरीर, मोह तथा जन्मादि छिद्रों से रहित हो, तपरूपी धूप से सुखाया गया हो, अन्तरंग अभिमान से रहित हो तो यह संसाररूपी नदी से पार करने में समर्थ हो सकता है; अत: ऐसे शरीर में उत्कृष्ट चन्दनादि लगाना भी सर्वथा असार ही है ।

गुरु-वचन सर्वोत्तम मोक्ष-लक्ष्मी के प्रदाता

(मालिनी)
भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वर्पे;
हृदि गुरु-वचनं चेदस्ति तत्तत्त्व-दर्शि ।
त्वरितमसमसारानन्द-कन्दायमाना;
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मी: ॥5॥
यदि मन में हो वस्तु-स्वरूप दिखानेवाले गुरु-वचन ।
तो कुछ भी नहिं चिन्ता चाहे, जैसा भी क्यों रहे न तन॥
क्योंकि शीघ्र गुरुवचनों के, अनुभव से सहज प्राप्त होती ।
अनुपम अविनाशी सर्वोत्तम, आनन्द-दायक शिव-लक्ष्मी॥
अन्वयार्थ : यदि वस्तु के वास्तविक स्वरूप का दिखानेवाले गुरु वचन मेरे हृदय में विद्यमान हैं तो यह मेरा शरीर, जैसा रहे वैसा रहे, कोई चिन्ता नहीं क्योंकि हृदय में विद्यमान श्रीगुरु के वचन-अनुभव से शीघ्र ही सर्वोत्तम आनन्द को देनेवाली अविनाशी, मोक्षरूपी असाधारण लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ।

शरीर की हीन अवस्था देख कर, उसके लिए पाप करने का निषेध

(शार्दूलविक्रीडित)
पर्यन्ते कृमयोऽथ वह्नि-वशतो, भस्मैव मत्स्यादनात्;
विष्टा स्यादथवा वपु: परिणति:, तस्येदृशी जायते ।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि, क्षय्येव यत्तत्कृते;
क: पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता, कष्टा यतो दुर्गति: ॥6॥
अन्त समय में कृमि हो जातीं, अथवा अग्नि भस्म करती ।
मत्स्यों द्वारा भक्षण से विष्टा होती, यह नित्य नहीं॥
विविध रसायन खाने पर भी, यह तन होता नष्ट अरे !

तो फिर कौन सुबुध दु:खदायक, दुर्गति कारक पाप करे॥

अन्वयार्थ : जिस शरीर में अन्तिम समय में लटें पड़ जाती हैं, जो अग्नि से भस्म हो जाता है, मछली आदि के खाने से जो विष्टारूप परिणत हो जाता है, जो नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकार के रसायनादि (औषधियाँ) खाने पर भी जो नष्ट हो जाता है, उस शरीर के लिए संसार में कौन बुद्धिमान पुरुष होगा, जो पाप करेगा? जिससे भविष्य में पुन: नाना प्रकार के दु:खों को देनेवाली दुर्गति होगी ।

मोक्षाभिलाषी जीवों को शरीर का त्याग ही आवश्यक

संसारस्तनुयोग एष विषयो, दु:खाऽन्यतो देहिनो;
वह्नेर्लोह-समाश्रितस्य घनतो, घातो यथा निष्ठुरात् ।
त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं, युक्त्या महत्या तया;
नो भूयोऽपि यथात्मनो भवकृते, तत्सन्निधिर्जायते ॥7॥
जैसे लौह-संग से अग्नि, कठिन घनों के घात सहे ।
इस तन की संगति से जग में, जीव अनेकों दु:ख भोगे॥
अत: महान् युक्ति से भव्य, मुमुक्षु तजें इस तन का संग ।
जिससे पुन: न हो चेतन को, भवदु:खदायक तन-सम्बन्ध॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार लोहे के आश्रित अग्नि को अत्यन्त कठोर घन से घात (चोट) सहनी पड़ती है; उसी प्रकार शरीर-सम्बन्ध से यह संसार उत्पन्न होता है और जीवों को संसार में नाना प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं; इसलिए जो भव्य जीव मुमुक्षु हैं (मोक्ष के अभिलाषी) हैं, उनको ऐसी किसी बड़ी भारी युक्ति के साथ इस शरीर का त्याग कर देना चाहिए कि जिससे इस आत्मा को संसार-परिभ्रण के कारणभूत इस शरीर का सम्बन्ध ही न होवे ।

उपसंहार में काल की आज्ञाकारिणी दासी वृद्धावस्था का चित्रण

रक्षा-पोषविधौ जनोऽस्य वपुष:, सर्व: सदैवोद्यत:;
कालादिष्ट-जरा करोत्यनुदिनं, तज्जर्जरं चाऽनयो: ।
स्पर्द्धाश्रितयोर्द्वयोर्विजयनी, सैका जरा जायते;
साक्षात्कालपुरस्सरा यदि तदा, कास्था स्थिरत्वे नृणाम् ॥8॥
इस तन के रक्षण-पोषण में, जब जन सदा लगे रहते ।
आज्ञा मान काल की, वृद्धावस्था इसको क्षीण करे॥
जन्म-मरण के मध्य बुढ़ापा, जिसके सन्मुख काल खड़ा ।
तो फिर तन की स्थिरता का, कहो भरोसा हो सकता ?

अन्वयार्थ : यह मनुष्य, शरीर की रक्षा तथा पोषण करने में ही सदा लगा रहता है, परन्तु काल की आज्ञाकारिणी दासी यह वृद्धावस्था, सदैव उस शरीर को जर्जरित अर्थात् छिन्न-भिन्न करती रहती है । वास्तव में परस्पर ईर्ष्या या द्वेष करनेवाले जन्म-मरण के मध्य में यदि सबको जीतनेवाली वृद्धावस्था और उसके बाद काल (मृत्यु) विद्यमान है तो क्या 'यह शरीर, सदाकाल रहेगा?' - ऐसा विश्वास करना, मनुष्यों को उचित है?

प्रारम्भ में मूर्ख जीव की अपवित्र शरीर के साथ प्रीति पर आश्चर्य

(शार्दूलविक्रीडित)
दुर्गन्धाऽशुचि-धातु-भित्ति-कलितं, संछादितं चर्मणा;
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादि-विलसद्, दु:खाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं काय-कुटीरकं स्वयमपि, प्राप्तं जरा-वह्निना;

चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचि-तरं, मूढो जनो मन्यते ॥1॥
चर्म ढकी अरु दुर्गन्धित है, मलिन धातुरूपी दीवार ।
मल-मूत्रादिक पिण्ड क्षुधादिक, दु:खमूषक करते कुप्रहार॥
क्लेशरूप यह काय-कुटी है, जरारूप अग्नि से व्याप्त ।
तो भी शाश्वत शुचि अनुभवते, मूढ़जीव यह अति आश्चर्य॥
अन्वयार्थ : यद्यपि यह शरीररूपी घर, दुर्गन्ध तथा अपवित्र वीर्यादि धातुरूपी भित्तियों से बना, चाम (चमड़े) से ढका और मूत्र-विष्टा आदि से भरा हुआ है; अत्यन्त बलवान् क्षुधा-तृषा आदि दु:खरूपी चूहों ने इसमें छेद कर रखे हैं, यह अत्यन्त क्लिष्ट है तथा इसके चारों ओर जरा (बुढ़ापा) रूपी अग्नि विद्यमान है; तथापि मूर्ख जीव इसे स्थिर एवं अत्यन्त पवित्र मानता है - यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

रोगों के घर निकृष्ट शरीर के साथ प्रीति करने पर आश्चर्य

दुर्गन्धं कृमि-कीट-जाल-कलितं, नित्यं स्रवद्-दूरसं;
शौच-स्नान-विधान-वारि-विहित-, प्रक्षालनं रुग्भृतम् ।
मानुष्यं वपुराहुरुन्नत-धियो, नाडी-व्रणं भेषजं;
तत्राऽन्नं वसनानि पट्टकमहो, तत्राऽपि रागी जन: ॥2॥
रक्त-पीप नित बहें और दुर्गन्धित कृमि-कीटों से व्याप्त ।
शुचि जल से धोते हैं इसको, किन्तु रहे रोगों से व्याप्त॥
बुद्धिमान् तो इस नरतन को कहते हैं नाड़ी-व्रण-घाव ।
अन्न-औषधि वस्त्र-पट्टी सम, किन्तु मूढ़जन करते राग॥
अन्वयार्थ : अत्यन्त दुर्गन्धमय लट एवं कीड़ों के समूह से व्याप्त, जिसमें निरन्तर रक्त, पीव आदि बह रहे हैं, जिसका प्रक्षालन पवित्र जल से किया जाता है, फिर भी जो नाना प्रकार के रोगों से व्याप्त है - ऐसे मनुष्य के शरीर को उच्च बुद्धि के धारक मनुष्य, नाड़ी-व्रण (घाव या फोड़ा) कहते हैं । जिसके निराकरण के लिए अन्नरूपी औषधि प्रदान की जाती है और वस्त्ररूपी पट्टी बाँधी जाती है तो भी आश्चर्य है कि ऐसे निकृष्ट शरीर में भी जीव, राग करता है ।

स्नान तथा चन्दनादि के लेप से शरीर को पवित्र करना वृथा

(वंशस्थ)
नृणामशेषाणि सदैव सर्वथा, वपूंषि सर्वाऽशुचिभांजि निश्चितम् ।
तत: क एतेषु बुध: प्रपद्यते, शुचित्वमम्बुप्लुति-चन्दनादिभि:॥3॥
सबके तन हैं मलिन सर्वथा, सदा सुनिश्चित भली प्रकार ।
स्नानादिक से शुचि करने का, कौन सुबुध फिर करे विचार ?
अन्वयार्थ : समस्त मनुष्यों के शरीर, सदा काल सब प्रकार से अपवित्र ही हैं - ऐसा भलीभाँति निश्चित है, इसलिए संसार में कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा, जो इस शरीर को स्नान तथा चन्दनादि से पवित्र करने का प्रयत्न करेगा?

(शार्दूलविक्रीडित)

तिक्तेष्वाकु-फलोपमं वपुरिदं, नैवोपभोग्यं नृणां;
स्याच्चेन्मोह-कुजन्म-रन्ध्र-रहितं, शुष्कं तपो-घर्मत: ।
नाऽन्तर्गौरवितं तदा भव-नदी-, तीरे क्षमं जायते;
तत्तत्त्र नियोजितं वरमथा-, सारं सदा सर्वथा ॥4॥
कड़वी तुम्बी सम यह नरतन, किसी तरह उपभोग्य नहीं ।

यदि यह सूखे तप्त धूप में, मोह-जन्म के छिद्र नहीं॥
अन्तर में अभिमान न होवे, तो हो सकता भव-दधि-पार ।
अत: करो तप इसको पाकर, इसके बिन सबकुछ निस्सार॥

अन्वयार्थ : मनुष्य का शरीर, कड़वी तुम्बी के समान होने से सर्वथा उपभोग करने योग्य नहीं है । हाँ, यदि यह शरीर, मोह तथा जन्मादि छिद्रों से रहित हो, तपरूपी धूप से सुखाया गया हो, अन्तरंग अभिमान से रहित हो तो यह संसाररूपी नदी से पार करने में समर्थ हो सकता है; अत: ऐसे शरीर में उत्कृष्ट चन्दनादि लगाना भी सर्वथा असार ही है ।

गुरु-वचन सर्वोत्तम मोक्ष-लक्ष्मी के प्रदाता

(मालिनी)
भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वर्पे;
हृदि गुरु-वचनं चेदस्ति तत्तत्त्व-दर्शि ।
त्वरितमसमसारानन्द-कन्दायमाना;
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मी: ॥5॥
यदि मन में हो वस्तु-स्वरूप दिखानेवाले गुरु-वचन ।
तो कुछ भी नहिं चिन्ता चाहे, जैसा भी क्यों रहे न तन॥
क्योंकि शीघ्र गुरुवचनों के, अनुभव से सहज प्राप्त होती ।
अनुपम अविनाशी सर्वोत्तम, आनन्द-दायक शिव-लक्ष्मी॥

अन्वयार्थ : यदि वस्तु के वास्तविक स्वरूप का दिखानेवाले गुरु वचन मेरे हृदय में विद्यमान हैं तो यह मेरा शरीर, जैसा रहे वैसा रहे, कोई चिन्ता नहीं क्योंकि हृदय में विद्यमान श्रीगुरु के वचन-अनुभव से शीघ्र ही सर्वोत्तम आनन्द को देनेवाली अविनाशी, मोक्षरूपी असाधारण लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ।

शरीर की हीन अवस्था देख कर, उसके लिए पाप करने का निषेध

(शार्दूलविक्रीडित)
पर्यन्ते कृमयोऽथ वह्नि-वशतो, भस्मैव मत्स्यादनात्;
विष्टा स्यादथवा वपु: परिणति:, तस्येदृशी जायते ।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि, क्षय्येव यत्तत्कृते;
क: पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता, कष्टा यतो दुर्गति: ॥6॥
अन्त समय में कृमि हो जातीं, अथवा अग्नि भस्म करती ।
मत्स्यों द्वारा भक्षण से विष्टा होती, यह नित्य नहीं॥
विविध रसायन खाने पर भी, यह तन होता नष्ट अरे !
तो फिर कौन सुबुध दु:खदायक, दुर्गति कारक पाप करे॥

अन्वयार्थ : जिस शरीर में अन्तिम समय में लटें पड़ जाती हैं, जो अग्नि से भस्म हो जाता है, मछली आदि के खाने से जो विष्टारूप परिणत हो जाता है, जो नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकार के रसायनादि (औषधियाँ) खाने पर भी जो नष्ट हो जाता है, उस शरीर के लिए संसार में कौन बुद्धिमान पुरुष होगा, जो पाप करेगा? जिससे भविष्य में पुन: नाना प्रकार के दु:खों को देनेवाली दुर्गति होगी ।

मोक्षाभिलाषी जीवों को शरीर का त्याग ही आवश्यक

संसारस्तनुयोग एष विषयो, दु:खाऽन्यतो देहिनो;
वह्नेर्लोह-समाश्रितस्य घनतो, घातो यथा निष्ठुरात् ।

त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं, युक्त्या महत्या तया;
नो भूयोऽपि यथात्मनो भवकृते, तत्सन्निधिर्जायते ॥7॥
जैसे लौह-संग से अग्नि, कठिन घनों के घात सहे ।
इस तन की संगति से जग में, जीव अनेकों दु:ख भोगे॥
अत: महान् युक्ति से भव्य, मुमुक्षु तजें इस तन का संग ।
जिससे पुन: न हो चेतन को, भवदु:खदायक तन-सम्बन्ध॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार लोहे के आश्रित अग्नि को अत्यन्त कठोर घन से घात (चोट) सहनी पड़ती है; उसी प्रकार शरीर-सम्बन्ध से यह संसार उत्पन्न होता है और जीवों को संसार में नाना प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं; इसलिए जो भव्य जीव मुमुक्षु हैं (मोक्ष के अभिलाषी) हैं, उनको ऐसी किसी बड़ी भारी युक्ति के साथ इस शरीर का त्याग कर देना चाहिए कि जिससे इस आत्मा को संसार-परिभ्रण के कारणभूत इस शरीर का सम्बन्ध ही न होवे ।

उपसंहार में काल की आज्ञाकारिणी दासी वृद्धावस्था का चित्रण

रक्षा-पोषविधौ जनोऽस्य वपुष:, सर्व: सदैवोद्यत:;
कालादिष्ट-जरा करोत्यनुदिनं, तज्जर्जरं चाऽनयो: ।
स्पर्द्धाश्रितयोर्द्वयोर्विजयनी, सैका जरा जायते;
साक्षात्कालपुरस्सरा यदि तदा, कास्था स्थिरत्वे नृणाम् ॥8॥
इस तन के रक्षण-पोषण में, जब जन सदा लगे रहते ।
आज्ञा मान काल की, वृद्धावस्था इसको क्षीण करे॥
जन्म-मरण के मध्य बुढ़ापा, जिसके सन्मुख काल खड़ा ।
तो फिर तन की स्थिरता का, कहो भरोसा हो सकता ?

अन्वयार्थ : यह मनुष्य, शरीर की रक्षा तथा पोषण करने में ही सदा लगा रहता है, परन्तु काल की आज्ञाकारिणी दासी यह वृद्धावस्था, सदैव उस शरीर को जर्जरित अर्थात् छिन्न-भिन्न करती रहती है । वास्तव में परस्पर ईर्ष्या या द्वेष करनेवाले जन्म-मरण के मध्य में यदि सबको जीतनेवाली वृद्धावस्था और उसके बाद काल (मृत्यु) विद्यमान है तो क्या 'यह शरीर, सदाकाल रहेगा?' - ऐसा विश्वास करना, मनुष्यों को उचित है?

मंगलाचरण में भववर्द्धक अत्यन्त दु:खदायी मैथुन-सेवन का निषेध

(द्रुतविलम्बित)
भव-विवर्धनमेव यतो भवेत्;
अधिक-दु:खकरं चिरमङ्गिनाम् ।
इति निजाङ्गनयाऽपि न तन्मतं;
मतिमतां सुरतं किमतोऽन्यथा ॥1॥
निज-वनिता से भी रति जीवों,को भववर्द्धक दु:खदायक ।
अत: सत्पुरुष उचित न मानें, तो पर-नारी किस लायक ?

अन्वयार्थ : मैथुन-सेवन से संसार की ही वृद्धि होती है तथा यह मैथुन, समस्त जीवों को अत्यन्त दु:ख देने वाला है; इसलिए सज्जन पुरुषों ने अपनी स्त्री के साथ भी इसका सेवन उचित नहीं माना है तो फिर दूसरी स्त्रियों या अन्य प्रकार से उसे अच्छा कैसे कहेंगे?

गुण-दोषों को विचारने वाले बुद्धिमानों की दृष्टि में मैथुन ही पशुकर्म

पशव एव रते रत-मानसा;

इति बुधै: पशुकर्म तदुच्यते ।
अभिधया ननु सार्थकयाऽनया;
पशुगति: पुरतोऽस्य फलं भवेत् ॥2॥
कामातुर नर पशु है क्योंकि, बुध रति को पशुकर्म कहें ।
मैथुन से पशुगति ही होती, अत: नाम 'पशु' ठीक कहें॥
जो मनुष्य, मैथुन-सेवन के अत्यन्त अभिलाषी हैं, वे साक्षात् पशु ही हैं
अन्वयार्थ : क्योंकि वास्तविक रीति से पदार्थों के गुण-दोषों को विचारने वाले बुद्धिमान पुरुषों ने इस मैथुन को पशुकर्म ही कहा है, जो सर्वथा ठीक प्रतीत होता है क्योंकि मैथुन करने वाले मनुष्यों को मैथुनकर्म से पशुगति ही मिलती है ।

यदि स्वस्त्री से मैथुन उचित है तो पर्वों में स्वस्त्री का त्याग क्यों?

यदि भवेदबलासु रति: शुभा; किल निजासु सतामिह सर्वथा ।
किमिति पर्वसु सापरिवर्जिता; किमिति वा तपसे सततं बुधै:॥3॥
निज-वनिता से रति यदि शुभ हो, तो फिर पर्व चतुष्टय में ।
क्यों नारी-संग तजें सत्पुरुष, बुध तप अङ्गीकार करें ?
यदि सज्जन पुरुषों का अपनी स्त्रियों के साथ मैथुनकर्म
अन्वयार्थ : करना, शुभ होता (उत्तम फल का देने वाला होता) तो वे अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में अपनी स्त्री का त्याग क्यों करते हैं? तथा तपश्चरणादि के समय भी अपनी स्त्रियों को विद्वान लोग क्यों छोड़ देते हैं?

थोडे से सुख के लिए विद्वानों का मैथुन में आदर नहीं

रति-पतेरुदयान्नरयोषितो-रशुचिनोर्वपुषो: परि-घट्टनात् ।
अशुचि सुष्ठुतरं तदितो भवेत्; सुखलवे विदुष: कथमादर:॥4॥
कामोत्तेजित नर-नारी, तन-घर्षण से मैथुन होता ।
जिससे हो अपवित्र क्षणिक सुख, कैसे बुध आदर करता ?
अन्वयार्थ : रतिपति काम के उदय से उत्पन्न कामभावना से अत्यन्त अपवित्र दो शरीरों का आपस में परिघट्टन अर्थात् घिसना होता है, उस परिघट्टन से अत्यन्त अपवित्र फल की प्राप्ति होती है; इसलिए थोड़े से सुख की प्राप्ति के लिए विद्वान लोग, उस मैथुन का कैसे आदर कर सकते हैं?

काम-सम्बन्धी प्रीति, चैतन्य के वैरी मोह के फैलाव की कारण

अशुचिनि प्रसभं रतकर्मणि; प्रति-शरीरि-रतिर्यदपि स्थिता ।
चिदरिमोहविजृम्भण-दूषणात्; इयमहो भवतीति निषेधिता ॥5॥
नर-नारी में मैथुन के प्रति, बलपूर्वक होता अनुराग ।
अत: निषेध, अज्ञानजन्य चित्-शत्रु मोह का यह विस्तार॥
अन्वयार्थ : काम के वशीभूत होकर जबर्दस्त राग सहित अत्यन्त अपवित्र मैथुनकर्म के होने पर कामी स्त्री-पुरुषों के शरीर में काम-सम्बन्धी प्रीति, चैतन्य के वैरी मोह के दूषण से उत्पन्न होती है; इसलिए यह काम-प्रीति, सर्वथा निषिद्ध मानी गई है ।

संयमरूपी वृक्ष का खण्डन करने में मैथुन तीक्ष्ण कुठार के समान

निरवशेष-यम-द्रु -खण्डने;
शित-कुठार-हतिर्ननु मैथुनम् ।
सततमात्महितं शुभमिच्छता;

परिहृतिर्विधिनाऽस्य विधीयते ॥6॥
संयम-तरु पर इस मैथुन से, होता तीव्र कुठाराघात ।
अत: आत्महित के अभिलाषी, करते हैं इसका परित्याग॥
यह मैथुनकर्म, समस्त संयमरूपी वृक्ष के खण्डन करने में
अन्वयार्थ : तीक्ष्ण कुठार की धार के समान है; इसलिए जो मनुष्य, अपनी आत्मा का निर्मल हित करनेवाले हैं, वे सर्वथा इसका त्याग कर देते हैं ।

पापी जीवों की मैथुन में सदा प्रीति

मधु यथा पिबतो विकृतिस्तथा; वृजिन-कर्म-भृत: सुरते मति: ।
न पुनरेतदभीष्टमिहाङ्गिनां; न च परत्र यदायति दु:खदम् ॥7॥
मदिरा पिये पुरुष की भाँति, पापी को हो काम-विकार ।
किन्तु न इससे जीवों का हित, परभव में है अति दु:खकार॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार मदिरा पीने वाले पुरुष को विकार होता है, उसी प्रकार पापी पुरुष की सदा रति (मैथुन) में ही इच्छा रहती है; किन्तु यह जीवों का किसी प्रकार से हित करने वाला नहीं है, अपितु परभव में भी अनेक प्रकार के दु:ख देने वाला ही है ।

हे मन! यह विषय-सुख जहर के समान निषेध योग्य

रति-निषेध-विधौ यततां भवेत्; चपलतां प्रविहाय मन: सदा ।
विषयसौख्यमिदं विषसन्निभं; कुशलमस्ति न भुक्तवतस्तव ॥8॥
रे मन! छोड़ चपलता, मैथुन तजने का तू कर पुरुषार्थ ।
विषयों का सुख विष है जिसका, भक्षण नहीं कभी हितकार॥
जो मनुष्य, अपना हित चाहते हैं, उनको अपने मन
अन्वयार्थ : को अच्छी तरह शिक्षा देनी चाहिए कि हे मन! तू सदैव चपलता को छोड़ कर, रति के निषेध करने में प्रयत्न कर क्योंकि यह विषय सौख्य-विषभक्षण करने के समान है; अत: इस विषय सुख को भोगते हुए तेरी कुछ भी कुशल नहीं है ।

उपसंहार में ब्रह्मचर्याष्टक से भोगियों को होने वाले दु:ख हेतु क्षमा

युवति-संगति-वर्जनमष्टकं; प्रति मुमुक्षुजनं भणितं मया ।
सुरत-राग-समुद्र-गता जना:, कुरुत मा क्रुधमत्र मुनौ मयि ॥9॥
नारी-संग-निषेधक अष्टक, मुमुक्षु, हेतु रचा मैंने ।
रागोदधि में डूबे जो नर, मुझे जान मुनि क्षमा करें॥
जो मनुष्य, मुमुक्षु **अर्थ**ात् मोक्ष-प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन मनुष्यों के लिए
अन्वयार्थ : मैंने युवती स्त्रियों के संग को निषेध करने वाले इस अष्टक का अर्थात् ब्रह्मचर्याष्टक का वर्णन किया है; किन्तु जो मनुष्य, भोगरूपी राग-समुद्र में डूबे हुए हैं, वे इस अष्टक को अच्छा नहीं समझते; अत: वे मुझे मुनि समझ कर क्षमा करें ।